धर्मवीर भारती का साहित्य और आधुनिक भाव-बोध के प्रश्न

(पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

शोध-निर्देशक
प्रो. पुरूषोत्तम अग्रवाल

शोधकर्त्ता
शिवानन्द उपाध्याय

2005

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURAL STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

Dated : 21/07/05

DECLARATION

I declare that the work done in this thesis entitled **"DHARAMVIR BHARTI KA SAHITYA AUR ADHUNIK BHAV-BODH KE PRASHAN"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Shivanand Upadhyay

SHIVA NAND UPADHYAY
(Research Scholar)

PROF. PURUSHOTTAM AGRAWAL
(Supervisor)
CIL/SLL & CS /JNU

M. S. Hu

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
CIL/SLL & CS / JNU

GRAM: JAYNEU TEL.: 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

समर्पण

उन सभी को जिनसे

वाणी मिली, विवेक मिला और
अस्मिता की पहचान भी . . . .

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन i-v

प्रथम अध्याय : आधुनिकता, आधुनिकीकरण और आधुनिक भाव-बोध 1-29

(क) आधुनिकता का ऐतिहासिक संदर्भ

(ख) आधुनिकता : ऐतिहासिक प्रक्रिया और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

द्वितीय अध्याय : आधुनिकता का भारतीय परिवेश 30-68

(क) भारत में आधुनिक भाव-बोध का उदय

(ख) स्वातंत्र्योत्तर भारत : आधुनिकीकरण का परिवेश

(ग) हिन्दी साहित्य में व्यक्त परिवेश एवं आधुनिक संवेदना

(घ) हिन्दी साहित्य में आधुनिकता संबंधी चिंतन

तृतीय अध्याय : भारती का काव्य-कर्म और आधुनिक भाव-बोध 69-121

(क) ठंडा लोहा और जीवन की विराटता के बीच खड़े होने की कोशिश

(ख) सात गीत वर्ष और रोमैंटिक प्रेम की निरर्थकता का एहसास

(ग) कनुप्रिया और 'राग-संबंधों की वैचारिक पृष्ठभूमि'

(घ) सपना अभी भी: सूर्य तक उड़ने की तमन्ना

(ड.) अंधायुग: मूल्य संकट

चतुर्थ अध्याय : आधुनिक भाव-बोध के संदर्भ में भारती का गद्य-साहित्य 122-194

(क) उपन्यास

(ख) कहानी

(ग) निबंध और आलोचना

(घ) एकांकी

(ङ) संस्मरण-यात्रा वृत्तांत-डायरी

पंचम अध्याय : धर्मवीर भारती की संवेदना 195-225

(क) आधुनिक भाव-बोध के प्रश्न

(ख) आधुनिक भाव-बोध और जादुई रोमांटिकता का द्वन्द्व

(ग) आधुनिक भाव-बोध : संरचना और शिल्प

षष्ठम अध्याय : धर्मवीर भारती : परम्परा और प्रयोग 226-249

(क) हिन्दी साहित्य की परम्परा और भारती

(ख) समकालीनों के बीच भारती

उपसंहार 250-258

संदर्भ ग्रंथ 259-267

प्राक्कथन

किसी भी रचना के कालजयी होने का प्रमाण यह है कि वह रचना स्थापित मूल्यों एवं मान्यताओं के समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। इसी प्रकार रचनाकार की महानता, मानव एवं मानवता के विकास को बाधित करने वाली प्रवृत्तियों की पहचान एवं उस पर प्रश्न करने की क्षमता में निहित होती है। कबीर की महानता का कारण उनकी प्रश्न करने की प्रवृत्ति है। धर्मवीर भारती भी प्रश्न करने की प्रवृत्ति से सहमत हैं। वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि 'मानवीय चिन्तन हमेशा तभी आगे बढ़ा है जब स्थापित मान्यताओं के समक्ष कोई नया प्रश्नचिह्न लगा है, फिर उसका समाधान खोजा गया है और फिर उसके अधूरेपन के समक्ष किसी बेलौस ईमानदार चिंतक ने प्रश्नचिह्न लगाया है। प्रश्न पूछना प्रगति करने की अनिवार्य शर्त है।' अर्थात् मानवता की विकास-प्रक्रिया या मानव के जीवन को नया एवं सकारात्मक अर्थ देने की प्रक्रिया, स्थापित मूल्यों एवं समाधानों के अधूरेपन की पहचान एवं उसे दूर करने की सतत् प्रक्रिया से जुड़ी हुई है।

भारती जी के समकालीन परिवेश में, या, यों कहा जाय कि बीसवीं सदी के परिवेश में मनुष्य के अस्तित्व, उसकी अस्मिता, मानव मूल्य एवं मानवता की नए सिरे से व्याख्या करने के साथ ही मानवता की रक्षा एवं मुक्त विकास को प्रतिपादित करने वाली अनेक चिन्तनधाराएँ विद्यमान रही हैं। आधुनिक चिंतकों, कलाकारों एवं वैज्ञानिकों - मार्क्स, फ्रायड, नीत्शे, मैकियावेली, डार्विन, आइंस्टीन, कोपरनिकस, दोस्तोवस्की, गोर्की, पिकासो आदि ने मनुष्य की जीवन-पद्धति एवं विचार-सरणि में आमूल परिवर्तन कर दिया। विज्ञान एवं तकनीकी विकास ने मध्यकालीन विश्वास एवं जीवन-दृष्टि का निषेध करते हुए मनुष्य की गरिमा को दृढ़ता से स्थापित किया तथा भीषण दरिद्रता और वर्गभेद मिटाने एवं भौतिक समृद्धि प्रदान करने की कोशिश की । संपूर्ण बीसवीं सदी साम्राज्यवादी शक्तियों के उन्मूलन एवं स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व पर आधारित लोकतांत्रिक समाजों के उदय की साक्षी रही है।

इसके बावजूद मनुष्य के अस्तित्व एवं मानवीय संस्कृति के ऊपर जिस तरह से संकट गहराता जा रहा है, जिस तरह मानव की मानवता, संवेदनशीलता एवं चेतना का क्षरण होता जा रहा है उससे इन चिन्तनधाराओं की प्रासंगिकता ही संशय के घेरे में आ जाती है। आधुनिकता संबंधी विमर्श में मनुष्य ही सारे मूल्यों का स्रोत एवं उपादान होता है। परन्तु वर्तमान परिवेश में उपभोगवादी संस्कृति, विश्व आतंकवाद, तस्करी, संकीर्ण राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए किसी सम्प्रभु राष्ट्र पर युद्ध थोपने की प्रवृत्ति, प्रजातांत्रिक एवं मानवाधिकारों की हिमायत करने वाले राष्ट्रों द्वारा संहारकारी हथियारों की कालाबाजारी के कारण मानवता एवं मानवीय संस्कृति के विकास की परिधि न केवल संकुचित होती गयी है, बल्कि मनुष्य के अस्तित्व की अनिश्चितता भी गहराती गयी है। इसका अर्थ है कि वर्तमान परिवेश में जो भी मूल्य हैं, मान्यताएँ हैं, संस्थायें हैं, व्यवस्थाएँ एवं नीतियाँ है, उनमें मानवता एवं मानव-संस्कृति के विकास की दृष्टि से अधूरापन है। इसलिए वे आधुनिकता संबंधी विमर्श के मानवतावादी एजेण्डे को खोखला बना रही हैं। इन मूल्यों, मान्यताओं एवं व्यवस्थाओं के अधूरेपन से धर्मवीर भारती की संवेदना कहाँ एवं किस सीमा तक टकराती है, यह शोध-प्रबंध का केंद्रीय विषय है। दूसरे शब्दों में, मानव-अस्तित्व, उसकी गरिमा एवं उसकी स्वातंत्र्य-चेतना को किसी-न-किसी रूप में अनावश्यक ठहराने वाली प्रवृत्तियों, मान्यताओं, मूल्यों, आदर्शों एवं संस्कारों से भारती जी की चेतना का टकराव ही इस शोध-प्रबंध का विषय है। शोध-प्रबंध में मानवता का अपमान करने वाली सामाजिक-धार्मिक-राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं पर खड़े किए गए प्रश्नों पर विचार किया गया है।

किसी भी महान रचनाकार की रचनाशीलता देश-काल की सीमाओं से परे, विश्व-मानव के कल्याण एवं उसकी रक्षा की चेतना से संवलित होती है। वर्तमान परिवेश में, जबकि विश्वव्यापी मानवीय संवेदनशीलता के क्षरण का संकट उपस्थित हुआ है, भारती जी रचनात्मक स्तर पर मानवीय चेतना एवं विवेक के उन्मेष प्रति कहाँ तक सफल हुए हैं? विश्वव्यापी स्तर पर मनुष्य की दयनीय अवस्था, उसके अस्तित्व पर बढ़ते खतरे,

उसका अतीत, भविष्य, उसका विखराव, निराशा एवं उसके दायित्व, सब पर दृष्टि डालते हुए क्या भारती जी इस केन्द्रीय प्रश्न से जूझने में सफल हो पाए हैं कि साहित्य मनुष्य को बचा सकता है या नहीं? यह शोध-प्रबंध भारती जी की इस रचनात्मक भूमिका की पड़ताल का प्रयत्न है।

भारती जी की 'ठंडा लोहा', 'सात गीत वर्ष' एवं 'सपना अभी भी' की कुछ कविताओं में, 'कनुप्रिया' में तथा 'गुनाहों का देवता' एवं कहानियों में रोमानी भाव-बोध की उपस्थिति के आधार पर एक खास वैचारिक प्रतिबद्धता वाले आलोचकों के समूह द्वारा उन्हें रोमानी भाव-बोध वाला रचनाकार बताया जाता रहा है। यहाँ तक कि उनकी 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' एवं 'अंधायुग' जैसी कृतियों पर भी रोमैंटिकता का आरोप चस्पा कर दिया गया। उनकी समस्त रचनाशीलता की समग्रता में मूल्यांकन करने की कोशिश नहीं की गई। लेकिन वास्तविकता कुछ अलग ही बयान करती है। भारती जी की रचनाशीलता एवं अनुभूति का क्षेत्र व्यापक है। कहानियों, कविताओं एवं उपन्यासों के अतिरिक्त उनके निबंधों, संस्मरणों, यात्रा-वृत्तांतों एवं रिर्पोताजों में मानव जीवन तथा समाज के जिस बहुपक्षीय स्वरूप का दर्शन होता है उससे स्पष्ट है कि रोमैंटिकता तो उसका एक पक्ष मात्र है। उनकी रचनाओं से गुजरते हुए लगता है कि उनमें मानव जीवन को सार्थक बनाने की बेचैनी निहित है। मानवीय गरिमा को पुनर्प्रतिष्ठित करते हुए मानवता के मुक्त विकास की संभावनाओं की तलाश करने वाली रचनाशीलता को आधुनिक संवेदना से रहित नहीं माना जा सकता है। आधुनिक भाव-बोध के व्यापक प्ररिप्रेक्ष्य में भारती जी की रचनाशीलता का विश्लेषण इस शोध-प्रबंध में किया गया है।

विषय के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शोध-प्रबंध छह अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में आधुनिकता को परिभाषित करने के साथ ही उसकी ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। साथ ही गैर यूरोपीय समाज में आधुनिकता के उदय एवं विकास की प्रक्रिया का अवलोकन किया गया है ताकि आधुनिकता को पाश्चात्य का पर्याय मानने की भ्रामक धारणाओं का शमन किया जा सके।

द्वितीय अध्याय में, भारत में आधुनिकता के उदय, विकास एवं स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इस प्रक्रिया में हिन्दी साहित्य एवं संवेदना के विकास के साथ आधुनिक चेतना के विकास के संबधों का भी विश्लेषण किया गया है। आधुनिक भाव-बोध के परिप्रेक्ष्य में भारती जी की काव्य-कृतियों का मूल्यांकन तृतीय अध्याय की विषय-वस्तु है। इसमें भारती जी के रोमानी भाव-बोध से अलग व्यापक जीवन-परिवेश का साक्षात्कार करने की छटपटाहट, आधुनिक परिवेश में जर्जर मूल्यों एवं मान्यताओं पर प्रश्न करने की प्रवृति तथा सांस्कृतिक प्रतीकों के प्रति विवेक सम्मत दृष्टिकोण का मूल्यांकन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में भारती जी के गद्य-साहित्य में निहित आधुनिक भाव-बोध संबंधी मान्यताओं एवं प्रश्नों का परीक्षण किया गया है। उनकी रचनाओं में व्यक्त मानवीय चिन्ताओं एवं धर्म, समाज, सत्ता तथा संस्कृति के विरोधाभासों, रोमानी भाव-बोध एवं आधुनिक भाव-बोध की टकराहट तथा रूप-शिल्प की विशिष्टता का उद्‌घाटन पाचवें अध्याय का विषय है।

आधुनिक संदर्भ में न केवल मूल्यों एवं आदर्शों के लिए बल्कि साहित्यिक अन्तर्पाठीयता के स्तर पर भी भारतीय पारम्परिक विरासत से भारती जी के जुड़ने और नवीन प्रयोग करने की युक्तिसंगतता को छठे अध्याय में स्पष्ट किया गया है। इसके साथ ही समकालीन रचनाकारों की आधुनिक भाव-बोध संबंधी मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है।

शोध-कार्य की शुरूआत अप्रिय एवं विषम परिस्थितियों में हुई। अर्थोपार्जन के 'स्वार्थ-समर' में लगातार असफलता के बीच जीवन ठहर सा गया। इस ठहरे हुए जीवन के बीच यदि शोध-प्रक्रिया प्रतिफलित हुई तो इसका समस्त श्रेय उन शुभेच्छुओं को है जिन्होंने इस प्रक्रिया में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग किया।

इस शोध-प्रबंध को पूरा करने के क्रम में सर्वप्रथम मैं उन महान रचनाकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी कृतियाँ मेरे शोध-कार्य में सहायक रही हैं।

आधुनिकता संबंधी चिंतन के प्रति जिज्ञासा पैदा करने, उसकी जटिल गुत्थियों को सुलझाने एवं शोध-प्रबंध के मूल रूप को व्यवस्थित करने के साथ ही भारती जी के तर्को

के प्रति व्यापक समझ विकसित करने में प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल से मिले सूत्रों एवं प्रोत्साहन की महत्वपूर्ण भूमिका है। उन कुंजी-सूत्रों के आधार पर आधुनिक भाव-बोध के परिप्रेक्ष्य में भारती जी की रचनाशीलता का यदि थोड़ा भी मूल्यांकन कर पाया हूँ तो उनके प्रति सच्चा आभार ज्ञापन होगा।

शोध-कार्य के दौरान ऋषभ, प्रदीप एवं पंकज के सहर्ष (अ)सहयोग के लिए औपचारिक आभार व्यक्त कर उन्हें अपमानित नहीं करना चाहता क्योंकि इनके वाग्विलास ने कठोर एवं विषम पड़ते जा रहे जीवन को सहज, मनोरंजक एवं रागात्मक बना दिया। प्रो. संदीप, इन्द्रजीत एवं आकांक्षा जैसे व्यक्तित्व का सहयोग पाकर कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सार्थक भले न सही, परन्तु बहुआयामी विकास कर सकता है। उदय गुरी का जीवन एवं व्यक्तित्व इस बात का प्रतीक है कि जगत के मायाजालों से निर्लिप्त रहकर भी जगत में कर्मशील रहा जा सकता है।

शोध-प्रक्रिया के दौरान विवेक, ज्ञानेन्द्र, जैनेन्द्र एवं प्रत्यूष ने दूरभाषिक संवाद के जरिए भौगोलिक दूरी को धत्ता बताते हुए न केवल विषय बल्कि जीवन के अनेक अनसुलझे पहलुओं को सरल बनाने में निःस्वार्थ सहयोग किया। अमरेन्द्र की पुस्तक-संग्रह की प्रवृति ने मेरे लिए एक छोटी लाइब्रेरी उपलब्ध करा दी, जिसके कारण सहायक सामग्री के लिए जहाँ-तहाँ दौड़-धूप से निवृति मिल गयी। प्रेम जी, अतुल, विश्वदीप, विशाल, अमित जी एवं शकील भाई द्वारा सतत् उत्साहवर्धन के लिए मैं हृदय से आभारी हूँ।

अपनी तमाम विडम्बनाओं के बावजूद संवेदनशील एवं स्नेहिल सहयोग करने वाले संयुक्त परिवार से उऋण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सतत् सहयोग कर परिवार के सदस्यों ने जो कीमत चुकायी है, उसकी भरपायी असंभव है।

अंत में, शोध-प्रबंध पूर्णतः त्रुटिहीन है, यह मैं दावा नहीं करता। शोध-प्रबंध में जो भी न्यूनताएँ या कमियाँ है, वह मेरी शोध-दृष्टि की सीमाएँ हैं। फिर भी यह शोध-प्रबंध यदि जिज्ञासुओं को यत्किंचित तोष एवं नयी दिशा में सोचने के लिए प्रेरित कर सकेगा, तो यही मेरे लिए पारितोषिक होगा।

– शिवानन्द उपाध्याय

प्रथम अध्याय

आधुनिकता, आधुनिकीकरण और आधुनिक भाव-बोध

आधुनिकता, आधुनिकीकरण और आधुनिक भाव-बोध

एक संप्रत्यय के रूप में आधुनिक या आधुनिकता को शब्दों की कृपणता के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास कई तरह के अन्तर्विरोधों को निमंत्रित करना है। आधुनिकता को अनेक तरह से परिभाषित करने और स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह कहा गया है कि गाँवों से शहरों की ओर (शहरीकरण), लघु और कुटीर उद्योगों से भारी कल-कारखानों की ओर(औद्योगीकरण), निम्न एवं आदिम संस्कृति से उच्च संस्कृति की ओर (संस्कृतिकरण) अतीत से भविष्य की ओर, (सर्वव्यापीकरण), धर्मान्धता से धर्मनिरपेक्षता की ओर (धर्मनिरपेक्षीकरण) अग्रसर होना आधुनिकता है। परन्तु इन मान्यताओं की एक सीमा है। इसलिए इन्हें सार्वभौम परिभाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। आधुनिकता न तो विचारधारा है, न दर्शन और नहीं यूटोपिया। 'आधुनिक' शब्द अंग्रेजी के 'मॉडर्न' (Modern) का अनुवाद है, जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'मोडो' (Modo) से हुई है, जिसका अर्थ है 'प्रचलन'। इसप्रकार वर्तमान युग में जो प्रचलित है, उसे ही आधुनिकता कह दिया जाता है। परन्तु यदि प्रचलन को ही आधुनिकता कह दिया जाय, तो फैशन और आधुनिकता में अन्तर ही क्या रह जायेगा? ऐतिहासिक क्रम में सदैव अपने से नयेपन के पर्याय के रूप में 'आधुनिक' एक संज्ञा है। सामान्य तौर पर प्रत्येक युग अपने पूर्ववर्ती युग से आधुनिक होता है, परन्तु इसे आधुनिक होने की शर्त नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यह संभव है कि परवर्ती युग अपने पूर्ववर्ती युग की तुलना में निम्नतम मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता हो। मध्ययुगीन भक्ति-संवेदना उत्तरवर्ती रीतिकालीन संवेदना की तुलना में आधुनिक संवेदना के अधिक निकट है और मानवीय मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है। अतः आधुनिकता कालवाचक अवधारणा नहीं है। इसे मूल्यवाचक भी नहीं कहा जा सकता है। इसके दो कारण है। पहला कारण यह है कि आधुनिकता का जो स्वरूप आज हमारे सामने है, वह कतिपय ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, धर्म और विचारधारा की महान शक्तियों की परस्पर अन्तर्क्रिया का परिणाम है। दूसरा कारण यह है कि आधुनिकता का स्वरूप देश-काल की परिस्थिति के अनुरूप बदलता रहता है। जिस मूल्य को किसी एक देश-काल में आधुनिकता का परिचायक

माना जाता है तो किसी अन्य देश-काल में उसे आधुनिकता विरोधी तत्व के रूप में देखा जाता है। एक अन्य कारण, डा. रघुवंश के अनुसार, ''आधुनिकता की प्रतिबद्धता किसी मूल्य-दृष्टि की प्रतिबद्धता न होकर निरंतर सर्जन में प्रवृत रहने और मूल्यों की खोज में संलग्न होने की है।''[1] अत: आधुनिकता किसी निश्चित मूल्यों की संवाहक नहीं है।

वास्तव में आधुनिकता एक ऐसा संप्रत्यय है जो युग एवं समय की सापेक्षता में अपने अर्थ का क्रमिक विकास करती है। अर्थात् यह एक काल सापेक्ष जीवन-दृष्टि है। यह किसी सामयिक तथ्य का नाम नहीं है। लेकिन आधुनिकता संबंधी प्रत्येक चिंतन के केन्द्र में मनुष्य होता है। डा. राम स्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में कहा जाय तो ''आधुनिक चिन्तन में मनुष्य सारे मूल्यों का स्रोत और उपादान है।''[2] अत: आधुनिकता का स्वरूप मनुष्य की नियति के अनुरूप बदलता रहता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिकता की अवधारणा मानव और मानव समुदाय की जीवन-दशाओं की समानुपाती होती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि किसी कल्पांत में उत्पन्न किसी भी पूर्ववर्ती की तुलना में नये को 'आधुनिक' संज्ञा की संगति प्राप्त नहीं होती, चाहे वह कितना ही अभूतपूर्व क्यों न हो। जब तक यह किसी मानवीय अनुभव या संवेदना के क्रम में रूपान्तरित नहीं होता, तब तक वह केवल एक धूमकेतू के उदय के समान निष्पन्न होकर रह जाता है।

आधुनिकता को मानसिक प्रत्यय के रूप में भी परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। परन्तु यह सच है कि आधुनिकता का संबंध किसी युग विशेष के मनुष्य के मानसिक प्रत्ययों या वैचारिकताओं से होते हुए भी उस युग विशेष के सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक सरोकारों से अधिक होता है। इसलिए बदलते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक -राजनीतिक-आर्थिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता के प्रतिमान और स्वरूप भी बदलते रहते हैं। इस प्रकार यह काल-सापेक्ष जीवन-दृष्टि है, मात्र मानसिक प्रत्यय नहीं। डा. रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार ''आधुनिकता मानसिक प्रत्ययों तथा सामाजिक रहस्यों को समझने और विश्लेषित करने की विधि है ताकि विशेष काल-संदर्भ में मनुष्य सचेतन और स्वतंत्र होकर परिवर्तन भी कर सके।''[3] अत: आधुनिकता समग्र एवं संश्लिष्ट दृष्टि और अभिव्यक्ति है। यह यथार्थ परिवेश के हलचलों, संघर्षों एवं द्वन्द्वों को सम्पूर्णता में स्वीकार करते हुए

उसकी व्याख्या करती है। यह निरंतर गतिशील प्रक्रिया है। जब तक समग्र यथार्थ के परिवर्तनों एवं द्वन्द्वों पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जायेगा तो आधुनिकता अवश्य खण्डित होगी। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज के संबंधों की सही परख सम्भव नहीं है। यह जीवन, समाज एवं प्रकृति के संबंधों के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टि है। समान्यतया मनुष्य, प्रकृति, विश्व तथा अपने संबंधों के प्रति सचेत होने के कारण एक सामान्य एवं विवेकसम्मत दृष्टि क्रमशः विकसित करता है, जिसे वैज्ञानिक दृष्टि कहा जाता है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि मात्र वस्तुगत दृष्टि नहीं है, जैसा कि विज्ञान मानता है, बल्कि उसमें विषयिगत दृष्टि का भी हस्तक्षेप रहता है। आइंस्टीन ने भी दिक् एवं काल की प्रतीति में द्रष्टा के महत्व को स्वीकार किया है। अतः आधुनिकता को वैज्ञानिक दृष्टि इस आधार पर कहा जा सकता है कि वह जीवन और समाज को वस्तुगत एवं विषयिगत दृष्टियों के आधार पर देखती है जो व्यापक स्तर पर संबंधों का विवेकसम्मत रूप है।

अवधारणा के स्तर पर आधुनिकता अमूर्त होती है। यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही मूर्त होती है। आधुनिकता को यदि विचारगत सत्ता माना जाय तो संश्लिष्ट जीवन-पद्धति से उसका सह-संबंध ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को जन्म देती है। आधुनिकीकरण को अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री अपने-अपने अनुशासनों के आधार पर परिभाषित करते हैं। अर्थशास्त्रियों के लिए आधुनिकीकरण का अर्थ है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का प्रयोग करते हुए उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति करना। समाजशास्त्रियों के लिए एक नयी सामाजिक संरचना के उदय की प्रक्रिया ही आधुनिकीकरण है। राजनीतिशास्त्री जनहित के लिए शासन-प्रणाली में परिवर्तन एवं नवीनीकरण को ही आधुनिकीकरण मानता है। लेकिन ये विभिन्न अर्थ आधुनिकीकरण को आंशिक रूप से ही परिभाषित करते हैं। आधुनिकीकरण का तात्पर्य केवल आर्थिक समृद्धि तथा सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना में परिवर्तन नहीं है बल्कि व्यक्ति और समाज के विचारादर्शो में परिवर्तन के साथ ही मानसिकता, संस्कारों, आचरणों, वृत्तियों, संस्थाओं एवं मूल्य-पद्धतियों का रूपान्तरण ही आधुनिकीकरण है। कई बार आधुनिकता के कई प्रवक्ताओं एवं बुद्धिजीवियों के पास आधुनिक विचार तो होते हैं

परन्तु संस्कारों एवं व्यवहारों के स्तर पर वे ठेठ अर्थों में दकियानूस होते हैं। प्रजातंत्र और धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों का वैचारिक रूप से पक्षधर होते हुए भी कई राजनीतिक एवं सामाजिक नेता या बुद्धिजीवी व्यवहारत: घोर सांप्रदायिक, सांमतवादी, जातिवादी एवं निरंकुश होते हैं। तात्पर्य यह है कि आधुनिकीकरण, आधुनिकता के विचारादर्शों को संभव बनाता है। डा. रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार, ''आधुनिकीकरण बर्हिगत अवस्थाओं एवं आधुनिकता अतंमुर्खी संकल्पों का आविर्भावक है''[4] जो देश-काल की सामाजिक संरचना एवं प्रकृति के संदर्भ में स्वरूपत: अलग-अलग होता है। इसके साथ ही यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मूल्य-धनात्मक तथा मानवतावादी लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रक्रिया है, अन्यथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन मानवतावादी लक्ष्यों में बाधक हो सकता है, जिसे आधुनिकीकरण नहीं कहा जा सकता है।

आधुनिकीकरण और आधुनिकता एक दूसरे को परिष्कृत करते रहते हैं। आधुनिकता को प्रतिफलित करने वाली आधुनिकीकरण कुछ ऐसी विघटनकारी स्थितियाँ भी उत्पन्न करती है, जो आधुनिकता की चेतना के विरूद्ध होती है, तब आधुनिकता का परिष्कार आवश्यक हो जाता है और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी विघटनकारी स्थितियों से मुक्त होने का प्रयास करती है। इस प्रकार आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आधुनिकता संबंधी चिंतन को गति देने के साथ ही उसके स्वरूप का पुनर्निर्धारण भी करती है। आधुनिकता भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को सतत नवीन रूप ग्रहण करने के लिए प्रेरित करती है। निष्कर्षत: आधुनिकीकरण की प्रक्रिया गहन एवं संश्लिष्ट अर्थो में जीवन की अंतर्बाह्य संरचना में परिवर्तन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से शब्द उधार लेकर कहा जाय तो आधुनिकीकरण, आधुनिकता का अचार या मुरब्बा है। इसी संश्लिष्ट सामाजिक परिवेश का साक्षात्कार, जिसमें मनुष्य की ऐतिहासिकता और उसकी नियति का निर्धारण होता है, करते हुए उसका अर्थपूर्ण बोध ही आधुनिक भाव-बोध है। आधुनिक भाव बोध के लिए अनिवार्य शर्त है कि वह संश्लिष्ट जीवन-प्रक्रिया के साथ संगति स्थापित करे, अन्यथा आधुनिक बोध न केवल आयातित दर्शन-मात्र बन जायेगा, प्रत्युत पूर्णतया खोखला विचार-मात्र बनकर रह जायेगा। आधुनिक भाव-बोध का अर्थ

विकास के वैज्ञानिक-तकनीकी उपादानों एवं सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करना नहीं है। ये सारी जानकारियाँ आधुनिक भाव-बोध का अंग तब तक नहीं बन सकती जबतक यह मनुष्य और समाज की संश्लिष्ट जीवन-प्रक्रिया का अंग बनकर उसकी चेतना को प्रभावित नहीं करें। जीवन के साथ इसके जटिल संबंधों को उद्‌घाटित करना ही रचनाकार का आधुनिक भाव-बोध है। डा. रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है कि ''आधुनिक भाव-बोध कोई संदर्भ च्युत जीवन-मूल्य नहीं, प्रत्युत संक्रमण की टकराहट से निष्पन्न आग्नेय कण है, जीवंतता का ज्वाला कण है, जो अतीत और वर्तमान के बीच की संवादहीनता को भंग कर उनमें एक लंबे एवं सुदीर्घ संवाद का मंच प्रस्तुत करता है।''[5] इससे स्पष्ट है कि आधुनिकता बोध केवल समकालीनता-बोध का पर्याय नहीं है। आधुनिकता बोध में तीनों कालवाचक वास्तविकताएँ-भूत, वर्तमान और भविष्य के संदर्भों के प्रति सतत सम्पृक्त रहने वाली जीवन-दृष्टि हैं।

इस प्रकार आधुनिकता की गत्यात्मक और परिवर्तनशील प्रक्रिया में एक निरन्तरता भी विद्यमान है। यह निरन्तरता प्रत्येक युग में उसका एक विशेष युग-बोध रहा है। आधुनिकता, अतीत के प्रति प्रतिबद्ध होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि अतीत से जो कुछ भी प्राप्य है उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाय। वास्तव में आधुनिकता अतीत के मूल्यों या परम्परागत मान्यताओं और मूल्यों को चुनौती देने का कार्य करती है। बदले हुए सामाजिक संदर्भों और आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में परम्परागत मान्यताएँ अनुकूल नहीं बैठती। ऐसी अवस्था में समकालीन सामाजिक संदर्भों के अनुरूप तर्कसम्मत आधार-भूमि पर उन्हें बदलने का प्रयास ही आधुनिक होना है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि आधुनिकता परम्परा की पूर्ण अस्वीकृति है। कोई भी विचार या धारणा शून्य में पैदा नहीं होती। सृष्टि के विकास क्रम में प्रत्येक नये युग ने परम्परा से ही सीखा है। आधुनिकता परम्परा का नहीं, बल्कि परम्परावाद का निषेध करती है। यह अतीत के लोगों की अनुभूतियों, जीवन्त मूल्यों, विश्वासों एवं मान्यताओं के प्रति विवेकशील एवं मानवीय दृष्टिकोण अपनाती है। अतः आधुनिकता न तो अतीतजीवी चेतना है और न ही अतीत के प्रति अतिशय भावुकता प्रदर्शित करती है।

समसामयिक संदर्भों में परम्परा के प्रति एक नई संवेदना या जागरुकता ही आधुनिकता है। दूसरे श्ब्दों में, आधुनिकता, परम्परा से जुड़कर भी संवेदना के धरातल पर वर्तमान से जुड़ी होती है। कोई भी आधुनिक भाव-बोध वाला रचनाकार अपनी संवेदना के कोण से वर्तमान के प्रति प्रतिबद्ध होता है तो अपने विवेक के दृष्टिकोण से परम्परा के मूल्यों के सापेक्ष में वर्तमान का समीक्षक भी होता है। आधुनिकता बौद्धिक स्तर पर यदि कहीं वर्तमान की आलोचना करती है तो अतीत से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही। इसके विपरीत रूढ़ परम्परावादी सामयिक परिस्थितियों से प्राप्त मूल्यों एवं विश्वासों के प्रति तीव्र आलोचनावादी होते हैं। आधुनिकता, वर्तमान परिवेश में उपस्थित यथार्थ का साक्षात्कार करते हुए नए मूल्यों और विश्वासों को आत्मसात करने की प्रक्रिया है। डा. जगदीश गुप्त का यह कथन निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि ''आधुनिकता का अर्थ मेरे निकट पुरातन को गाली देना नहीं है, बल्कि सारग्राहिणी तत्व-दृष्टि के साथ विगत सांस्कृतिक समृद्धि को आत्मसात करते हुए मानव की वर्तमान नियति एवं उसके भावी विकास के प्रति अपने दायित्व का विशिष्ट एवं सक्रिय अनुभव करना है।''[5] अर्थात् यह एक ऐसी जीवन-दृष्टि है जो बीते हुए को सार्थक रूप से भविष्य से जोड़ती है। अत: आधुनिकता की चेतना काल्पनिक एवं वायवीय यूटोपिया नहीं है।

जहाँ तक वर्तमान से सजगता का प्रश्न है तो इसे समकालीनता का पर्याय नहीं माना जा सकता। ज्ञान-विज्ञान के इस युग में यदि कोई युगीन सत्यों से विमुख होकर या तर्क और अनुभव के आधार पर मानवीय अस्मिता और मूल्यों के बरक्स प्राचीन रूढ़ियों एवं आस्थाओं से जुड़ा है तो आधुनिक नहीं कहा जायेगा, भले ही वह समकालीन होने का दावा करे। लेकिन यह कहना कि 'आधुनिक' समसामयिकता के मूल्यों को स्वीकार नहीं करता, उचित नहीं। वास्तव में, समसामयिक परिवेश के परिवर्तनों, मूल्यों एवं प्रतिमानों के प्रति जागरूकता आधुनिकता की प्राथमिक और अनिवार्य शर्त है। लेकिन पर्याप्त नहीं है क्योंकि परिवेश की मूल्यहीनता एवं मूल्य अराजकता को भी आधुनिकता स्वीकार नहीं करती जैसा कि नियतिवादी स्वीकार करते हैं। अर्थात्, आधुनिकता समसामयिक परिवेश के उन्हीं मूल्यों को स्वीकार करती

है जो मानवीय विवेक एवं मानवीय संवेदना की कसौटी पर तर्कसंगत होता है। इसलिए आधुनिकता समाज की विसंगतियों, मनुष्य की यंत्रणा एवं मूल्य-अराजकता के प्रति विद्रोह करते हुए सामाजिक परिवर्तन के विचार को भी प्रतिपादित करती है। लेकिन आधुनिकता, भविष्यवादी चेतना नहीं है। यह समसामयिक परिवेश की विसंगतियों के बरक्स मूल्य परिवर्तन की चेतना है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता कोई मूल्य नहीं है और नहीं नवीनता का पर्याय, बल्कि वह मूल्यों को नये संदर्भ में देखने की दृष्टि और विचार-पद्धति है। यह एक गत्यात्मक प्रक्रिया है और गत्यात्मकता मानवीय मूल्यों की नवीन संभावनाओं को उन्मुक्त करती है। इसमें फैशन मूलक प्रदर्शन प्रियता और जड़ एवं रूढ़िग्रस्त मानसिकता का कोई स्थान नहीं है। आधुनिकता के स्नायुमंडल में वैज्ञानिक दृष्टि की ऊर्जा है और विवेकशील प्रयोगात्मक चिंतन की अन्तर्धारा है।

(क) आधुनिकता का ऐतिहासिक संदर्भ

यद्यपि आधुनिकता को किसी भौगोलिक सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है, लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आधुनिकता की अवधारणा का सूत्रपात तब हुआ, जब मनुष्य, व्यक्ति के रूप में, चिंतन के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुआ। यद्यपि प्रसिद्ध सोफिस्ट दार्शनिक प्रोटागोरस ने ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में ही घोषित किया था कि 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है।' इसके बावजूद समस्त चिंतन के केन्द्र में अलौकिक सत्ता की प्रधानता बनी रही। सृष्टि के विकास क्रम के केन्द्र में किसी मानवेत्तर अलौकिक सत्ता के रहस्य को समझने तथा उसे नियति का निर्धारक मानने की प्रवृति बनी रही। परन्तु विश्व इतिहास में घटित तीन महान क्रांतियों ने समस्त पूर्ववर्ती धारणा को झकझोर डाला:-

(1) यूरोपीय पुनर्जागरण

(2) फ्रांस की राज्यक्रांति

(3) औद्योगिक क्रांति

इन तीन क्रांतियों ने क्रमागत रूप से आधुनिकता तथा आधुनिक भाव-बोध के स्वरूप को व्यापक आयाम दिया। एक अन्य क्रांति-रूस की साम्यवादी क्रांति-ने भी आधुनिकता संबंधी फलक को व्यापकता प्रदान की।

विश्व इतिहास की इन तीन महान क्रांतियों में से सबसे पहले यूरोपीय पुनर्जागरण 15वीं-16वीं शताब्दी में घटित हुई। इस पुनर्जागरण की लहरों से चर्चवादी मान्यताओं और मानवेत्तर मूल्यों में जकड़ा यूरोपीय समाज स्पन्दित हो उठा। रेनेसाँ से पहले का मनुष्य धार्मिक रूढ़ियों के जाल में उलझा हुआ था। उसके मन में यह धारणा घर कर गई थी कि दैवीय सत्ता की कृपा के बिना जीवन में कुछ भी कर पाना सम्भव नहीं है। पारलैकिक जीवन ही सत्य है। परन्तु रेनेसाँ के सुधार-आंदोलनों के कारण व्यक्ति और समाज चर्चवादी रूढ़िवादिता से मुक्त होने लगा। मानवीय क्रिया-कलापों का मूल्यांकन धर्म की दृष्टि से न करके कर्म की प्रतिष्ठा के आधार पर किए जाने पर बल दिया गया और आस्था के स्थान पर तर्क को प्रतिष्ठित किया गया। रेनेसाँ ने इस विश्वास का खण्डन किया कि धर्म के क्षेत्र में जो पावन

है वहीं सत्य और ग्राह्य है। रेनेसाँ ने सारे विमर्श के केन्द्र में व्यक्ति की अस्मिता को प्रतिष्ठापित करते हुए तर्क एवं विवेक की कसौटी को सत्यता का प्रतिमान माना। तर्क द्वारा जीवन में परिपूर्णता खोजने का विश्वास मनुष्य के लिए प्रगति का सोपान सिद्ध हुआ। यद्यपि तर्क–प्रधानता और मानववाद प्राचीन यूनानी मानस की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ थी, जिनका दर्शन हमें सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के विचारों में होता है। परन्तु विमर्श का प्रस्थान बिन्दु ईश्वरीय सत्ता ही थी। ईसाई धर्म और चर्च की स्थापना के बाद समस्त सामाजिक आचरणों का मूल्यांकन तर्क, विवेक एवं मानववाद के स्थान पर शास्त्रीय रूढ़ियों और धार्मिक रहस्यात्मकता के आधार पर होने लगा। इसप्रकार समस्त सामाजिक–धार्मिक मामलों में मानवीय विवेक और अनुभव के स्थान पर धर्मग्रंथ और चर्च के शब्दों को अंतिम प्रमाण माना जाने लगा। इसलिए पुनर्जागरण के द्वारा आधुनिकता का सूत्रपात सबसे पहले धर्म के क्षेत्र में ही हुआ। इसके बाद जितने भी प्रकार की विचार–प्रणालियाँ विकसित हुई या विमर्श के जितने भी क्षेत्र हुए–परम्परा, इतिहास, साहित्य, कला और संस्कृति सभी में मानव, तर्क एवं विवेक की प्रतिष्ठा हुई और समस्त मानवेत्तर रूपों को ध्वस्त कर दिया गया। इस प्रकार यूरोपीय पुनर्जागरण ने पहली बार मानव–मर्यादा, मानव–अस्मिता और मानवीय मूल्यों की हिमायत की। मनुष्य को पहली बार 'वस्तु सत्ता' या 'अन्य सत्ता' से ऊपर उठाकर 'चेतन सत्ता' के रूप में प्रतिष्ठित किया। यहीं से अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि आधुनिक यूरोपीय जातियों का निर्माण शुरू होता है। यहीं से लैटिन भाषा के स्थान पर आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में साहित्य–रचना भी शुरू हुई, जिसके केन्द्र में सामाजिक परिवेश की तमाम गतिविधियों का यथार्थ चित्रण महत्वपूर्ण हो गया। इस प्रकार एक ओर चर्च एवं पोप के प्रभुत्व का अन्त हुआ तो दूसरी ओर मानव की प्रतिष्ठा से मनुष्य की चिंतन–शक्ति, प्रयोग–शक्ति और विचार–स्वातंत्र्य आंदोलित हुआ। लेकिन भाषिक एवं वैचारिक परिवर्तन के बावजूद पुराना ढ़ाँचा और पुरानी रूढ़ियाँ अभी ध्वस्त नहीं हुई थी।

इस पुराने सामन्तवादी ढाँचे को ध्वस्त करने का कार्य अठारहवीं शताब्दी में इग्लैड की औद्योगिक क्रांति और फ्रांस की राज्यक्रांति ने किया। औद्योगिक क्रांति ने जहाँ सामंती ढाँचे के

आर्थिक आधार को ध्वस्त कर दिया, वहीं फ्रांसीसी क्रांति ने इस ढाँचे के वैचारिक आधार को ध्वस्त कर दिया। मशीनों के प्रयोग के कारण उत्पादन संबंधों में परिवर्तन आया, जिसका सीधा प्रभाव सामाजिक संरचना पर पड़ा। यंत्रीकरण, नगरीकरण, गाँवों से शहरों की ओर पलायन, व्यापारिक पूँजीवाद की प्रवृति काफी तीव्र हुई। मनुष्य के भौतिक सुख-समृद्धि के स्तर में भी वृद्धि हुई। नगरीकरण से प्रभावित बदलते हुए सामाजिक अर्थ, सामाजिक संबंधों की पद्धति को भी बदलते हैं। सामाजिक और पारिवारिक जीवन की पुरानी व्यवस्था भंग होने लगती है तथा व्यक्ति के आचार एवं वृत्ति में नयापन के साथ ही जटिलता प्रवेश करने लगती है। औद्योगिक सभ्यता के कारण पीढ़ियों का संघर्ष, मानवीय संवेदनशीलता का क्षरण, संबंधों में कड़वाहट, साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद तथा सामाजिक एवं आर्थिक शोषण जैसे अनेक जटिल अन्तर्विरोध पैदा हो गए। कुछ पूँजीवादी और पाश्चात्य मानसिकता की सोच से प्रेरित बुद्धिजीवियों ने औद्योगीकरण को ही आधुनिकता या आधुनिकीकरण का पर्याय मान लिया। यह एक भ्रामक सोच है। औद्योगीकरण ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को अवश्य गति प्रदान की, परन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक स्तर पर आधुनिकता का उदय हो चुका था। दूसरी बात यह है कि वैज्ञानिक विकास और औद्योगीकरण के बावजूद यदि किसी देश के लोग चेतना के स्तर पर अंधविश्वास और पिछड़ेपन को ढोते रहे तो उन्हें आधुनिक नहीं कहा जायेगा। जब तक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पीछे सकारात्मक वैचारिकता एवं चिन्तन का आधार नहीं है, तब तक आधुनिकता की दृष्टि को व्यापक नहीं माना जा सकता है। जब विज्ञान और तकनीक मानव कल्याण, प्रगति एवं उसकी संभावनाओं के विकास तथा प्रकृति के साथ उसके सहसंबंध में सहायक होते हैं, तभी सच्चे अर्थों में आधुनिकता या आधुनिकीकरण प्रतिफलित होती है, क्योंकि विज्ञान एवं तकनीक का नकारात्मक प्रयोग आज मानवीय अस्तित्व के लिए प्रश्नचिह्न बनता जा रहा है। औद्योगीकरण का एक अन्य नकारात्मक पक्ष यह है कि जहाँ प्रौद्योगिकी एवं मशीनीकरण ने पश्चिम के देशों की अर्थव्यवस्थाओं को सुदृढ़ बनाया, उनके भौतिक जीवन-स्तर को ऊपर उठाया, वहीं दूसरी एवं तीसरी दुनिया के अविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं को जर्जर बना दिया। इस प्रकार औद्योगिक क्रांति ने

रेनेसाँ के मानवतावादी आदर्शों को धूल में मिला दिया। पूँजीवाद और साम्राज्यवाद औद्योगिक क्रांति के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण की संताने हैं।

पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की इसी पृष्ठभूमि में ही विश्व इतिहास की एक अन्य युगान्तकारी क्रांति फ्रांस की राज्य-क्रांति हुई, जिससे मनुष्य और उसके समाज को प्रजातांत्रिक बोध की प्राप्ति हुई। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे प्रजातांत्रिक मूल्य आधुनिकता के सार्वभौम प्रतिमान बन गए। इस क्रांति से यह स्पष्ट हुआ कि स्वतंत्रता यदि मनुष्य-मात्र का स्वरूप लक्षण है तो समानता और बंधुत्व की कम-से-कम आगन्तुक धर्म के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए। फ्रांसीसी क्रान्ति के अग्रदूत नेपोलियन ने न केवल पुरानी परम्पराओं का अन्त किया, अपितु राष्ट्र, राज्य तथा संसद की स्थापना के अतिरिक्त कानूनी समानता के अधिकार की भी स्थापना की। क्रान्ति का व्यापक प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक तीनों क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हुआ।

रूस की महान क्रांति ने आधुनिकता को एक नया आयाम प्रदान करते हुए मानव-मात्र की क्रांतिकारी नियति में आस्था जगायी। इस रूसी क्रांति के मूल में मार्क्सवादी चिंतन था, जो उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही मानव जीवन एवं समाज की व्याख्या अत्यन्त मौलिक रूप से करने का प्रयास कर रहा था। मार्क्सवादी चिंतन ने मानवीय सभ्यता के विकास को समझने के लिए एक नयी दृष्टि प्रदान की। वह दृष्टि थी द्वन्द्वात्मक दृष्टि। यह ऐतिहासिक विकास के प्रगतिशील और वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। मार्क्सवाद मनुष्य और उसके इतिहास को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करता और देखता है। उसकी उपलब्धियों और अनुपलब्धियों के आलोक में विकास के विभिन्न युगों की वह व्याख्या प्रस्तुत करता है। यद्यपि वह भौतिक शक्तियों की द्वन्द्वात्मकता को आधारभूत सिद्धान्त मानता है परन्तु मानव संबंधों को शासित करने वाले अन्य नियमों की अवहेलना नहीं करता है। मार्क्सवाद विकृति एवं विघटन से अभिशप्त मनुष्य को मुक्ति प्रदान करते हुए समग्र मानव-व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण पर बल देता है। मार्क्स के अनुसार वास्तविक मुक्ति केवल धार्मिक रूढ़ियों से निजात पाना ही नहीं, अपितु उन सब झूठी मान्यताओं से भी छुटकारा पाना है जो सदा से ही

मनुष्य को बंधन में डाले हुए हैं। मानव-मूल्यों की लोक सापेक्षता को स्पष्ट करते हुए धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता तथा पाप-पुण्य की भावनाओं को लोकोत्तर चेतना से सम्पृक्त करना अंधविश्वास माना गया है। इस प्रकार आधुनिक भाव-बोध के स्वरूप के निर्धारण में मार्क्सवाद की निर्णायक भूमिका था। इसी आधार-भूमि पर रूसी क्रांति ने मुनष्य की संघर्ष क्षमता और कर्मण्यता में विश्वास प्रकट किया और मानव-नियति को निर्धारित करने का एकमात्र अधिकारी मनुष्य को बनाया।

इस समस्त क्रांतियों का प्रभाव मानव जीवन के सभी धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं एवं रूपों पर पड़ना स्वाभाविक था। ज्ञान के सभी क्षेत्रों में वास्तविकता की ज्ञानमीमांसा के लिए मानवीय विवेक और अनुभव ही आधार हो गए। नैतिकता और आचार के पुराने प्रतिमान झूठे सिद्ध हो गए, क्योंकि पुरानी नैतिकता के प्रतिमानों ने मनुष्य की उपेक्षा की थी, परन्तु नैतिकता के नये प्रतिमान मानव-जीवन से अधिक सम्पृक्त और संबद्ध है। नई नैतिकता मनुष्य की अधिक विश्वसनीय एवं समग्र कल्पना करती है। पुनर्जागरण के प्रभाव से दर्शन के क्षेत्र में भी आधुनिकता का उदय हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त ने पहली बार दर्शन को चर्चवादी धर्म के चंगुल से बाहर निकाला और समस्त ज्ञानमीमांसा और तत्वमीमांसा के केन्द्र में बुद्धि की महत्ता प्रतिपादित की। इसीलिए देकार्त को आधुनिक दर्शन का जनक माना जाता है। परन्तु देकार्त के साथ कठिनाई यह है कि वे बुद्धि की महत्ता को स्थापित करने के प्रयास में मानवीय अनुभवों और संवेदनों को नजरन्दाज कर गए। बाद में अनुभववादी दार्शनिकों-लॉक, बर्कले और ह्यूम ने मानवीय अनुभवों को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार माना। ह्यूम ने तो ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं किया। इसप्रकार बुद्धिवादी और अनुभववादी दार्शनिकों ने रेनेसाँ की मूलभूत धारणाओं के अनुकूल मानवीय चेतना और अनुभव में विश्वास प्रकट किया। दार्शनिक जगत में यह धारणा भी बलवती हुई कि सृष्टि एक व्यवस्था के अन्तर्गत चल रही है, जिसके सूत्र ईश्वर के हाथ में नहीं है। आगे चलकर न्यूटन ने वैज्ञानिक आधारों पर इस धारणा को सिद्ध किया।

आधुनिकता के इतिहास में या यों कहा जाय कि विचारों के इतिहास में आधुनिकता की दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी के ज्ञानोदय-काल (एज ऑफ एनलाइटनमेण्ट) की निर्णायक भूमिका है। इस काल का महत्व इस दृष्टि से है कि इसने बीसवीं सदी तक आधुनिकता संबंधी चिंतन को प्रभावित किया। ज्ञानोदय काल में मनुष्य के आचरणों और आकांछाओं का विश्लेषण व्यापक रूप से हुआ। इस काल के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व वाल्टेयर की यह धारणा थी कि धार्मिकता की भावना के लिए किसी भी तरह का धार्मिक संगठन अनावश्यक ही नहीं, बल्कि बाधक है।[7] उसने बौद्धिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए उस हर तरीके के प्रति अपना विरोध प्रकट किया, जिससे मानवीय स्वतंत्रता किसी भी तरह बाधित या कुंठित होती हो। मानवीय स्वतंत्रता को दृढ़ता से जमाने का प्रयास अस्तित्ववादी विचारकों ने भी किया। अस्तित्ववादी चिन्तकों ने मनुष्य के अस्तित्व पर छाए आधुनिक संकटों के बरक्स उसके विशिष्ट अस्तित्व की स्थापना की और अस्तित्व एवं अस्मिता पर नियंत्रण करने वाली सभी मान्यताओं का विरोध किया। सारे अस्तित्ववादी चिंतकों (कीर्केगार्ड, सार्त्र, हाइडेगर आदि) ने एक स्वर से घोषणा की कि मनुष्य का होना उसमें स्वतंत्रता की चेतना तथा उसका स्वतंत्र होना है।[8] इसप्रकार अस्तित्ववादी दर्शन ने आधुनिकता की चेतना को अपने स्तर पर दार्शनिक आधार प्रदान किया।

लेकिन दार्शनिक जगत में जर्मन दार्शनिक नीत्शे की ईश्वर-मृत्यु की घोषणा प्रथम-दृष्टया क्रांतिकारी प्रतीत हुआ, परन्तु नीत्शे द्वारा 'सुपर मैन' की परिकल्पना ने वर्तमान मनुष्य के अस्तित्व पर ही चोट की। भविष्य में उत्पन्न होने वाले इस 'महामानव' के लिए कुछ संवेदन शून्य एवं अहंकार ग्रस्त लोगों ने उचित-अनुचित एवं न्याय का ख्याल किए बिना सामान्य जनों के अस्तित्व को ही कुचलना शुरू किया और उन्हें मरणासन्न जाति का जीव सिद्ध कर दिया। नीत्शे के दर्शन से प्रेरित हिंसा एवं नृंशसता की भावना ने आधुनिकता के चिंतकों को नये सिरे से सोचने पर विवश कर दिया।

दर्शन के अतिरिक्त विज्ञान ने मनुष्य की सत्ता को दृढ़ता से स्थापित करने में कोई कसर शेष नहीं रखी। नवीन वैज्ञानिक खोजों ने समस्त धर्म समर्थित मान्यताओं और रहस्यों

को उलट-पुलट दिया। कोपरनिकस ने जब यह देखा कि इस ब्रह्माण्ड के केन्द्र में पृथ्वी और सृष्टि के केन्द्र में ईश्वर को स्वीकार करने से तर्क-संगत निष्कर्षों की प्राप्ति असंभव है तो उसने इन मान्यताओं को पलट दिया और सिद्ध किया कि सूर्य ब्रह्माण्ड का और मनुष्य सृष्टि का केन्द्र बिन्दु है। कलाओं के क्षेत्र में भी माइकल ऐंजेलो और लियोनार्दो द वींची ने भी ऐसे सम्पूर्ण मनुष्य की कल्पना की जो वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक और राजनीतिज्ञ आदि सभी कुछ हो सकने की क्षमता रखता है।

निष्कर्षत: हम देखते है कि आधुनिकता कालक्रम की दृष्टि से नहीं, बल्कि अपनी कुछ मौलिक विशेषताओं के कारण आधुनिक है। दूसरे श्ब्दों में, देशकाल के साथ सचेतन संबंध, विवेक से युक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण, रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति विद्रोह, युगीन यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में मानव मात्र की नियति, उसकी अस्मिता, अस्तित्व एवं गरिमा की रक्षा, नवीन मानवीय मूल्यों का निर्माण, मानव आत्मा का मुक्त विकास, बहुआयामी मानव-जीवन के गहरे-अर्थो की खोज, ईश्वरीय तत्वों का निषेध आधुनिक भाव-बोध के मूलभूत तत्व है। लेकिन यह भी कहना कि आधुनिकता के प्रस्थान और प्रमेय सार्वमौम है, एक अतिवादी धारणा है। वास्तव में आधुनिकता की अवधारणा का एक ऐतिहासिक नैरन्तर्य है जिसकी पृष्ठभूमि में यूरोपीय पुनर्जागरण से लेकर ज्ञानोदय, औद्योगिक क्रांति, फ्रांसीसी राज्यक्रांति और रूसी क्रांति की युगान्तकारी मान्यताएँ हैं, डार्विन का विकासवादी सिद्धान्त है, न्यूटन और कोपरनिकस की वैज्ञानिक धारणाएँ है, मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, फ्रायड आदि मनोविज्ञानियों की मानव-मन की व्याख्याएँ है और प्रकृति पर विजय पाने की मानव की दुर्निवार इच्छा है। इस चेतना ने ही मनुष्य को मध्ययुगीन धार्मिकता और सामंती बंधनों के दूहरे दासत्व से मुक्ति पाने की प्रेरणा दी। नवीन जनतांत्रिक मूल्यों से युक्त लेखकों और विचारकों ने सामयिक आग्रहों से मुक्त होकर जीवन को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में देखने का प्रयत्न किया। इस प्रकार आधुनिकता की चेतना हमारी संभावनाओं का ठोस आधार है। यह मानव संस्कृति के विविध उपकरणों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है इसलिए मानव व्यक्तित्व, मानवीय अस्मिता, मानवीय मूल्य तथा नियति के सभी दरवाजे यहाँ खुलते हैं।

आधुनिकता जड़ता नहीं, बल्कि यह जीवन में अविवेक की अपेक्षा विवेक को, श्रद्धा एवं आस्था की अपेक्षा प्रमा को, मिथक की अपेक्षा यथार्थ को, ईश्वरीय सत्ता की अपेक्षा मानवीय सत्ता को और 'न होने' की अपेक्षा 'होने' की स्थिति की गत्यात्मक प्रक्रिया है।

(ख) आधुनिकता : ऐतिहासिक प्रक्रिया और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

आधुनिकता या आधुनिकीकरण को अक्सर पश्चिमी संदर्भों में परिभाषित करने या पश्चिमी मॉडल के आधार पर परखने की प्रवृति रही है। लेकिन पश्चिमी जगत से परे गैर यूरोपीय सभ्यताओं में आधुनिकता या आधुनिकीकरण ने क्या स्वरूप ग्रहण किया तथा कौन से प्रतिमान सहायक हुए, इस पर विचार किया जाना आवश्यक है। बीसवीं सदी के विश्वयुद्धों एवं गृहयुद्धों से उपजी आर्थिक अराजकता, सामाजिक अशान्ति और राजनीतिक हलचलों ने भी मानव इतिहास के लिए एक अभिनव शुरूआत का मार्ग प्रशस्त किया। यह कहना अनुचित होगा कि यह अभिनवता केवल सकारात्मक थी। क्योंकि यह सच है कि बीसवीं सदी में राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर पर अनेक एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्र उपनिवेशवादी चंगुल से मुक्त होते हैं और उनमें प्रजातांत्रिक संस्थाओं की स्थापना होती है। परन्तु दूसरी ओर मानसिक अशान्ति, विक्षिप्त महत्वाकांक्षा, युद्धपरक विभीषिका, आतंकवाद, तस्करी, आदि के कारण मानव-अस्तित्व खतरे में पड़ता गया है और विश्व-मानव सर्वत्र आतंक के साये में जीने के लिए अभिशप्त है। इसके अतिरिक्त विश्व मानव समुदाय का एक बड़ा भाग भूमंडलीकरण के दौर में भी अभावों में जी रहा है। भूमंडलीकरण उनके अभावों एवं कष्टों को दुसाध्य बनाने में ही सहायक हुआ है। इस पूरे संदर्भ में आधुनिकता का आयाम बदल जाता है क्योंकि साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरूद्ध संघर्ष करते राष्ट्रों की आधुनिकता एवं अभावों से ऊपर उठती मानवता के लिए आधुनिकता का आशय ही अलग व्याख्या की माँग करता है। यह सच है कि यूरोप में आधुनिकता के उदय के बाद इसके आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं वैचारिक पहलुओं का पूरे विश्व में प्रसार हुआ, विशेषत: द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आधुनिकता ने सम्पूर्ण विश्व को अपने घेरे में ले लिया। फिर भी विभिन्न गैर यूरोपीय समाजों एवं सभ्यताओं की ऐतिहासिक स्थितियाँ और परम्पराएँ उनके बीच हुई आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को विविधता और मौलिकता प्रदान करती हैं। यह संभव है कि जो प्रतिमान यूरोपीय समाज की आधुनिकता के संवाहक हैं, वे गैर यूरोपीय समाजों के लिए अप्रासंगिक हो। मसलन, यूरोप में धर्मनिरपेक्षता का जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है वह रूस सहित कई

गैर यूरोपीय समाजों, दक्षिण-पूर्व एशियाई देश, पश्चिम एशिया के देश की मनीषा, परम्परा एवं स्वभाव से मेल नहीं खाता है। परिणामतः आवश्यक नहीं कि यूरोपीय धर्मनिरपेक्षता, गैर यूरोपीय समाजों के लिए भी आधुनिकता का संवाहक सिद्ध हो।

यूरोप से परे अधिकांश गैर यूरोपीय समाज-एशियाई, अफ्रीकी, तथा लैटिन अमेरिकी-लम्बे समय तक यूरोपीय साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का दुःस्वप्न झेलते रहे हैं। रूस, जापान एवं चीन यूरोपीय उपनिवेश भले ही न बन पाए हों, परन्तु यूरोपीय शक्तियों के अतिक्रमण से अवश्य अभिशप्त हुए हैं। अतः गैर यूरोपीय समाजों में आधुनिकता की यह पृष्ठभूमि सदैव निर्णायक रही है। प्रायः तीसरी दुनिया के देशों में आधुनिकता का विकास बाह्य शक्तियों के अतिक्रमण के विरूद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम है। यह प्रतिक्रिया दो तरफा रही है:-

(1) यूरोपीय आधुनिक संस्थाओं के आधार पर नयी संस्थाओं का निर्माण, जो समाज को लोकतांत्रिककरण की ओर ले जाने के मुख्य कारक हैं।

(2) यूरोपीय साम्राज्यवाद द्वारा पैदा की गई सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक चुनौतियों के प्रत्युत्तर के रूप में, जिसने गैर यूरोपीय जनमानस को राष्ट्रीय अस्मिता तथा सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति जागरूक किया।

इन दो रूपों में गैर यूरोपीय समाज की आधुनिकता प्रतिफलित होती है। लेकिन, रूस, चीन और जापान में आधुनिकता का उदय पश्चिमी शक्तियों जैसा शक्तिशाली होने, आर्थिक विकास प्राप्त करने तथा विश्व परिदृश्य में निर्णायक भूमिका निभाने की गहन महत्वाकांक्षा के कारण प्रेरित है। रूस और चीन का आकार, भौगोलिक स्थिति, स्वतंत्रता का लम्बा इतिहास, मजबूत केन्द्रीय सरकार और सांस्कृतिक परम्परा ऐसी शक्ति होने की माँग करती है। इन स्थितियों ने उन्हें आर्थिक एवं सैन्य स्तर पर आधुनिकीकरण के लिए प्रेरित किया। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण यह था कि रूस और चीन ने राष्ट्रीय या ऐतिहासिक गौरव और पश्चिम के प्रति घृणा एवं अनादर के संयुक्त रूप को बढ़ावा दिया। रूसी बुद्धिजीवियों के मन एवं आत्मा को जो चीज सबसे अधिक कचोटती थी-वह थी ज्ञान की कमी जिससे रूस, पश्चिम यूरोप

के सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की तुलना में पिछड़ता था। लेकिन रूसियों में आत्मविश्वास एवं गर्व की वह भावना थी, जिसके बल पर वह पश्चिम यूरोपीय देशों के विकास को पीछे छोड़ सकते थे तथा पश्चिम द्वारा अपनाए गए रास्ते पर चले बिना उस लक्ष्य तक पहुँच सकते थे। रूसी बुद्धिजीवियों के बहुमत ने रूस के इस पिछड़ेपन को पश्चिम के ऊपर एक अमूल्य लाभ के रूप में देखा क्योंकि इस पिछड़ेपन ने एक ओर रूसी समाज को तीव्रगामी विकास के लिए स्प्रिंगबोर्ड की तरह काम किया तो दूसरी ओर जनता में अत्यन्त बेशकीमती आध्यात्मिक मूल्यों को सुरक्षित रखने का काम किया, जिसे पश्चिम हमेशा के लिए खो चुका था। रूस की हीनता की इस लम्बी भावना ने उसे एक स्वदेशी, मौलिक तथा आधुनिकता के स्लॉविक मॉडल के लिए प्रेरित किया।

रूस में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पीटर महान की प्रेरणा से सन् 1700 में शुरू हुई। 1750-60 तक आधुनिकता सम्पूर्ण सरकारी नीतियों की आधारशिला ही नहीं, सम्पूर्ण राजनीतिक दलों की प्रकृति बन गई। उनके विमर्श का विषय यह था कि किस प्रकार आन्तरिक अस्थिरता से बचते हुए आधुनिकीकरण किया जाय। उदाहरणतः सर्फडम जैसे अत्यन्त संवेदनशील सामाजिक मुद्दे को समाप्त करने का विचार किया गया, परन्तु अन्य देशों के साथ चलते संघर्ष, किसान उपद्रवों से भय तथा राज्य सुरक्षा के आधार पर बार-बार इस पर कार्यवाही करने से पीछे हटना पड़ा। इसे अंतिम रूप से सन् 1816 में एलेक्जैण्डर द्वितीय के प्रयासों तथा राजनीतिक वर्ग एवं शिक्षित समाज के एक बड़े भाग के समर्थन से लागू किया गया। लेकिन रूस में सरकारी स्थिति का विरोधाभास यह था कि एक अत्यन्त संकीर्ण राजनीतिक सत्ता ने परिवर्तन और आधुनिकीकरण के एजेन्ट के रूप में काम किया। इसीलिए रूसी शासन-व्यवस्था के विकास के निम्न चरण में होने के बावजूद रूसी समाज एक उच्चतर मानव समाज था। इसके बरक्स पश्चिम में एक बहुत उच्च स्तर की शासन-व्यवस्था थी परन्तु निम्न स्तर का मानवीय संगठन था। इस बिन्दु से केवल पतन, क्षय, विघटन, खंडन आदि ही हो सकता है और जिसका शिकार यूरोपीय मानव समाज हुआ है। यूरोपीय समाज के ऐसे विघटन तथा पतनशीलता का कारण यह था कि इसने सच्चे एवं मूलभूत मानवीय तथा

नैतिक मूल्यों को खो दिया था या जैसा कि कुछ बुद्धिजीवी मानते है कि पूँजीवाद ही इसकी कब्र खोदने वाला सिद्ध हुआ था।

रूसी आधुनिकतावादियों का विश्वास था कि जहाँ तक रूस के विकास की गति और दिशा का प्रश्न है, वह अनन्त सम्भावनाओं वाला देश है। वे यह मानते थे कि रूस को एक रेखीय तथा पूर्वनिर्धारित क्रम में विकास नहीं करना चाहिए बल्कि वह विकास के विभिन्न चरणों को छोड़ सकता है। इसलिए रूसियों ने विकास के जिस विशिष्ट, देशज स्लॉविक मॉडल को अपनाया, उसमें विकास की निम्नतर अवस्था के साथ उच्च मानवीय मूल्यों के निर्माण की परिकल्पना थी, जिसके बल पर न केवल बिना किसी बुर्जुआ के बुर्जुआ-क्रांति कर सकता है बल्कि समय के सापेक्ष दौड़ भी जीत सकता है। इसीलिए 1750 से 1880 तक आधुनिकीकरण, विशेषतः औद्योगीकरण की गति निरन्तर, परन्तु काफी धीमी थी। विकास की इस विशिष्ट प्रक्रिया का शहरी और ग्रामीण जनसंख्या के एक बड़े भाग पर काफी सकारात्मक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। सन् 1880 से 1914 के बीच रूस में उद्योगों के ग्रामीणीकरण की विशिष्ट प्रवृति थी, जिसके कारण रूसी किसानों का न केवल औद्योगिक गतिविधियों से निकट का संबंध बना बल्कि रूस में ग्रामीणों के पलायन की प्रवृति भी नहीं देखी गई।

1917 में रूसी साम्यवादी क्रांति, रूसी आधुनिकता ही नहीं बल्कि, आधुनिकता के इतिहास में ही एक महत्वपूर्ण मोड़ है। इस क्रान्ति ने मनुष्य की संघर्ष क्षमता एवं कर्मण्यता पर विश्वास प्रकट किया और मानव नियति को निर्धारित करने का एकमात्र अधिकारी मनुष्य को बनाया। इसी विश्वास के बल पर रूसियों ने पूँजीवादी औद्योगीकरण के रास्ते को त्याग दिया। वे यह चाहते थे कि औद्योगीकरण की उन अवस्थाओं से मनुष्य और समाज को मुक्त रखा जाय, जिससे तनाव, कुंठा, एवं यांत्रिक गुलामी पैदा होती है तथा नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का पतन होता है। परन्तु उन लोगों ने कट्टर मार्क्सवादी रास्ते को भी नहीं अपनाया। लेनिन ने कृषक समुदाय की क्रांतिकारी भूमिका को शहरी श्रमिक प्रोलेटेरिएट के समर्थन के लिए स्वीकार किया, क्योंकि दो सौ वर्षो तक राज्य के प्रति लगातार विरोधी व्यवहार कृषक

समुदाय की एक विशिष्टता थी। इस विरोध की प्रवृति आकस्मिक नहीं थी बल्कि किसान वर्ग के जीवन और मानसिकता में इसकी स्थायी एवं गहरी जड़ें समाई हुई थी। वे एक मौलिक सहज, लेकिन शक्तिशाली, स्वत:स्फूर्त और अराजक रूख व्यक्त करते थे। लेनिन नहीं चाहता था कि कृषक राज्य के प्रति ऐसा रूख रखें क्योंकि यह स्थिति रूसी विकास के लिए घातक होती।

आधुनिक विकास के समाजवादी मॉडल में अन्य परिवर्तन भी किए गए। अपनी पूर्ववर्ती अवस्था में रूसी समाजवाद (मार्क्सवाद) राष्ट्रीय सीमाओं से परे जाकर सर्वहारा एकता की वकालत करने वाली विचारधारा थी। यह उस राष्ट्रीयता का विरोध करती है जिसका आधुनिकता के मुख्य भाग के रूप में पश्चिम में उदय हुआ। परन्तु, सन 1924 में स्टालिन की घोषणा द्वारा 'एक देश में समाजवाद' की नीति आधुनिकीकरण-राष्ट्रवाद के रूप में-के मूलभूत तत्व के रूप में अपनायी गई। इस समाजवादी मॉडल में समय के साथ पश्चिमी आधुनिकता से समानता रखनेवाली कुछ प्रवृत्तियों को स्वीकार कर लिया गया, परन्तु उनका मुख्य बल मौलिकता और अद्वितीयता पर था। पूँजीवादी वर्ग के उदय को बढ़ावा देने वाली अवस्थाओं को पूर्णतया त्याग दिया गया। तीसरा परिवर्तन समाजवादी मॉडल के दो स्तंभों में संतुलन द्वारा किया गया-एक ओर आर्थिक विकास तो दूसरी ओर न्याय, समानता एवं वर्गहीन समाज-ये दोनों रूसी क्रांति के आधार स्तंभ थे। स्टालिन ने द्रुत गति से आर्थिक विकास के काम को पूरा किया, परन्तु समानता का लक्ष्य प्राप्त करना शेष रहा, न्याय की तो बात करना ही असम्भव था। समानता को तभी लागू किया गया जब तीव्र वृद्धि और राज्य-नियंत्रण में निरन्तरता बनी रही। लेकिन समानता भी लिंग आधारित भेदभाव पर आधारित होने के कारण आधुनिकता की मूल चेतना को बाधित करती है।

रूस के आधुनिकीकरण विशेषत: औद्योगीकरण का दिलचस्प पहलू यह है कि रूस में ग्रामीण पलायन की प्रवृत्ति नहीं थी और उसके शहरी एवं औद्योगिक कार्य-बल में किसानों की बहुलता थी, जिन्होंने गाँवों से अपना संबंध कभी नहीं तोड़ा, वे अपने मूल जड़ से कटने के लिए अभिशप्त नहीं हुए। ये किसान वर्ष के कुछ समय फैक्ट्रियों में कार्य करते थे, शेष

समय गाँवों में व्यतीत करते थे। इसलिए रूस के ग्रामीण प्रवास से रूसी समाज पर वैसा घातक प्रभाव नहीं पड़ा जैसा कि इंग्लैण्ड में ग्रामीण पलायन की प्रक्रिया से पड़ा या अन्य देशों में शहरीकरण की प्रक्रिया से पड़ा। अर्थात् उद्योगों के लिए श्रम-आपूर्ति की विशिष्ट प्रक्रिया से रूस में काफी हद तक, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में, तनावों एवं कुंठाओं को न्यूनतम बनाए रखा जा सका। रूस में शहरीकरण की प्रक्रिया से नगरों के चारो ओर भयानक झुग्गी-निर्माण नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त बेरोजगारी, सामाजिक हाशिए पर जाने की प्रवृति अत्यन्त सीमित रही। एक किसान यदि नगर में काम पाने में असफल रहता था तो वह गाँव वापस लौट आता था। उसके ऊपर ऐसा दबाव नहीं था कि वह मानवीय और सामाजिक कीमत पर नगर में बना रहे। वे असहनीय पर्यावरण में स्थायी रूप से रहने के लिए बाध्य नहीं हुए। वे अपने गाँव से, उसके रीति रिवाजों से, आदतों एवं मूल्यों से संबंध बनाए रखे थे जिसके कारण रूसी समाज, सामाजिक तनाव एवं आर्थिक बोझ के बावजूद सापेक्षिक रूप से स्थिर बना रहा। स्पष्टत: गाँव नगरीय तनावों के लिए सुरक्षा वाल्व की भूमिका का निर्वाह कर रहे थे। तात्पर्य यह है कि रूस ने विकास की उस गति एवं अवस्था को पकड़ने का प्रयत्न नहीं किया जो यूरोप ने मानवीय अस्मिता, सम्पूर्ण मानव कल्याण एवं मानवीय मूल्यों की कीमत पर प्राप्त की थी।

TH-12759

रूस की तरह चीन ऐसा राष्ट्र है जिसने पाश्चात्य पूँजीवादी रास्ते के विपरीत आधुनिकीकरण के लिए मूल-भूत ढाँचा के रूप में समाजवादी अथवा मार्क्सवादी लेनिनवादी ढाँचे को अपनाया। यह ढाँचा पश्चिम के बाजारवादी ढाँचे से कुछ पहलुओं पर अलग है। लेकिन रूस के विपरीत चीन, उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी में पश्चिम शक्तियों द्वारा किए गए गहरे अमानवीय व्यावहारों के कारण पश्चिम के प्रति अत्यन्त कड़ा एवं प्रतिक्रियात्मक रूख अपनाया। चीन ने अपने पडोसियों के अनुभवों-सोवियत संघ, जो चीन का वैचारिक मॉडल है तथा जापान, जिसके साथ वह कुछ सामान्य सांस्कृतिक परम्पराओं का साझेदार है-का उपयोग आधुनिकीकरण के लिए किया। लेकिन रूस की तुलना में चीन न केवल आधुनिक तकनीकों के अनुभवों से हीन था, बल्कि उन्नत पश्चिमी देशों के साथ उसके संबंध

Jawaharlal Nehru University Library

भी अत्यन्त संक्षिप्त एवं संवेदनशून्य थे। चीन की आधुनिकता की प्रक्रिया, पश्चिमी पैटर्न को चुनौती देने, राष्ट्रीय गौरव की लम्बी परम्परा तथा पश्चिम के साथ इसके अमानवीय अनुभवों एवं दुर्बलताओं के अन्तर्विरोध के कारण भी प्रभावित हुई। उच्च महत्वाकांक्षा एवं पश्चिम के प्रति अनादर की भावना ने आधुनिकता के विकास को सीमित और जटिल बना दिया। इस प्रक्रिया में चीन की अपनी भाषा के प्रति गहरी संवेदना तथा अंग्रेजी भाषा की दूरूहता ने निर्णायक भूमिका निभायी। भाषिक समस्या के कारण चीनी, पश्चिमी औद्योगिक तकनीकों का उपयोग करने में अक्षम रहे।

सन् 1949 की क्रांति के बाद चीन में पूर्ण रूपेण आधुनिकता एवं आर्थिक विकास के समाजवादी मॉडल को मूर्त रूप प्रदान किया गया। रूस में विकसित इस मॉडल का विस्तार किया गया और विशिष्ट नीतियों की लम्बी सूची को आर्थिक एवं सामाजिक रणनीति के रूप में परिवर्तित किया गया। चीन से पहले कम-से-कम रूस ने मार्क्सवादी-लेनिनवाद को राष्ट्रीय विचारधारा के रूप में पहले ही पहचान लिया था। मार्क्सवादी-लेनिनवाद निश्चित रूप से पश्चिम विरोधी, पूँजीवाद विरोधी एवं साम्राज्यवाद विरोधी विचारधारा थी। तात्पर्य यह है कि चीन और रूस के आधुनिकतावादी प्रतिमान, पश्चिम के आधुनिकतावादी प्रतिमानों से अलग एवं मौलिक रूप में आकार ग्रहण करते हैं। इन प्रतिमानों का उदय ही पश्चिमी मॉडल के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में तथा उसे चुनौती देने की प्रक्रिया में हुआ है। लेकिन आधुनिक रूसी-चीनी मॉडल की सार्थक व्यावहारिक परिणति नहीं हुई। यद्यपि रूस और चीन का उदेश्य औद्योगीकरण करते हुए उसके पश्चिमी कुपरिणामों से मानव-समाज को मुक्त रखे रहना था। परन्तु इस प्रक्रिया में व्यक्ति की भावनाओं, उसकी विशिष्टता, उसकी स्वतंत्रता का, समानता के नाम पर हनन करके आधुनिकता के मूल आदर्शों पर ही चोट की गई। समानता भी केवल नाममात्र का पद था क्योंकि व्यक्ति-विशिष्टता तथा स्वतंत्रता के बिना समानता अप्रासंगिक हो जाती है। स्टालिन के लिए तो 'न्याय' का नाम लेना ही व्यर्थ था। कम-से-कम रूस इस प्रवृति से इस प्रकार अभिशप्त रहा है कि मानवीय अस्मिता, गरिमा एवं

मानवीय मूल्यों के विस्फोट को सहन नहीं कर सका और उसका समाजवादी मॉडल ताश के पते की तरह बिखर गया।

रूस और चीन के बाद जापान एक ऐसा राष्ट्र था जो पश्चिमी शक्तियों से टकराव के बावजूद अपने देश की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक संसाधन तथा भौतिक आवश्यकताओं के संदर्भ में पश्चिमी आधुनिकता के तत्वों को स्वीकार करते हुए भी अपनी मौलिकता बनाए रखा। जापान ने अपने परम्परागत सांस्कृतिक तत्वों एवं पाश्चात्य आधुनिकता के प्रतिमानों के बीच अद्‌भुत सांमजस्य स्थापित किया।

जापानी समाज में आधुनिकता की शुरूआत तब हुई जब उन्नीसवीं सदी के मध्य में जापान ने जातीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूपता प्राप्त कर ली। उस समय तक जापान एक राष्ट्र था, फिर भी राजनीतिक संस्थाओं के संदर्भ में यह राजनीतिक एकीकरण से काफी दूर था। आधुनिकता की दिशा में बढ़ने के लिए राजनीतिक एकीकरण आवश्यक था। पूरा देश 200 से अधिक प्रदेशों मे विभाजित था और प्रत्येक प्रदेश सेनापतियों द्वारा शासित किया जाता था, जिनके पास काफी अधिक स्वायत्तता थी। इस असंगठित शक्ति के कारण जापान का केन्द्रीय शासन (बाकुफू प्रशासन) पश्चिमी शक्तियों के दबाव का सामना नहीं कर सका। फलतः 1868 में जापान में मीजी क्रांति हुई, जिसने एक केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। यह आधुनिकता की दिशा में एक छोटा सा कदम था। मीजी क्रांति के नेता मुख्यतः निम्नवर्गीय भूतपूर्व सेनापति थे। इसलिए इस क्रांति को कुछ विद्वानों ने पश्चिमी अर्थ में क्रांति नहीं माना। दरअसल यूरोपीय समाज क्षैतिजिक या वर्ग आधार पर विभाजित था, जबकि जापानी समाज उर्ध्वाधर रूप में विभाजित था। अतः जापानी मीजी क्रांति को उर्ध्वाधर विभाजन के विघटन के रूप में देखा जाना चाहिए।

मीजी नेताओं ने सर्वप्रथम पश्चिमी दबावों के समक्ष खड़ा होने के लिए पर्याप्त सुरक्षा तंत्र के साथ औद्योगिक राष्ट्र बनाने का निर्णायक लक्ष्य सामने रखकर इस दिशा में प्रयास किया। इसका परम्परागत हितों, विशेषकर बाकुफू सेनापतियों, की ओर से शक्तिशाली प्रतिरोध किया गया, जो अचानक अपनी सामाजिक भूमिका एवं आय से वंचित हो गए थे। कुछ

विरोधी समूह ऐसे भी थे जिनकी समानता और स्वतंत्रता के पश्चिमी विचारों से सहानुभूति थी। दूसरी ओर बहुत से जापानियों को लगा कि पश्चिमी प्रभाव जापानी सांस्कृतिक अस्मिता को नष्ट कर रहा है। इसलिए जापानी नेताओं ने प्रगतिशीलता एवं परम्परावादिता के संयुक्त रूप को बढ़ावा देना शुरू किया। इस तरह की प्रवृत्ति कुछ यूरोपीय देशों जर्मनी, इटली, फ्रांस में भी पाई गई जहाँ परम्परागत संरचनाओं ने औद्योगीकरण या आधुनिकीकरण के प्रति हिंसात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। इन देशों के साथ-साथ जापान में प्रगतिशीलता के समर्थकों ने संकीर्णवादियों पर परम्परा से समझौता कर लेने का आरोप लगाते हुए परम्परागत तत्वों के पूर्ण उन्मूलन की माँग की। औद्योगीकरण या आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मुख्यत: संकीर्णवादियों द्वारा शुरू की गई थी, परन्तु परम्परागत तत्वों के दबाव में आर्थिक विकास की गति को परिवर्तित कर दिया गया था। फिर भी गैर यूरोपीय देशों में जापान पहला देश था, जिसने परम्परागत संस्कृति एवं औद्योगिक अनिवार्यता में सफलतापूर्वक संगति प्राप्त कर लिया था, जिससे औद्योगीकरण से उत्पन्न नकारात्मक स्थितियाँ भयानक रूप धारण नहीं कर सकी।

अमेरिका और ब्रिटेन ने औद्योगीकरण के पूर्व ही एक राजनीतिक एकीकरण स्थापित कर लिया था तथा तकनीकी विशिष्टता पर आधारित आर्थिक विकास को सफलतापूर्वक पूरा किया। उनकी यह सफलता दुनिया को यह मानने पर विवश किया कि बढ़ती विशिष्टता राजनीतिक एकीकरण को ध्वनित करती है। लेकिन उन देशों में इस विशिष्टता के कारण समानता की भावना हाशिए पर चली गई। इन देशों ने समानता की भावना को आर्थिक विकास एवं जीवन स्तर में सुधार के द्वारा परिभाषित किया। परन्तु वास्तविकता यह है कि समानता का संप्रत्यय आर्थिक विकास की देन नहीं है बल्कि बहुआयामी ऐतिहासिक क्रांतियों की देन है जो प्रत्येक मनुष्य को बिना किसी भेदभाव के संवेदना का समान धरातल प्रदान करती है। आर्थिक विकास एवं जीवन स्तर में वृद्धि के साथ समानता के संयुक्त दर्शन को अमेरिका-ब्रिटिश संदर्भो में 'उदारवादी वैयक्तिकतावाद' कहा गया। इसके विपरीत जापान, जहाँ औद्योगिक विकास के पूर्व राजनीतिक एकीकरण दृढ़ता से स्थापित नहीं था, ने सांस्कृतिक विरासत और औद्योगिक विकास के दोहरे कार्य को अपनाया। उसके रास्ते को क्लासिकल

'प्रजातांत्रिक वैयक्तिकतावाद' कहा गया और 1980 के बाद जापान इसका नेतृत्वकर्त्ता बन गया। जापान ने यह सिद्ध किया कि यद्यपि 'प्रजातांत्रिक वैयक्तिकतावाद', जो विशिष्टता के साथ समानता पर बल देता है, के अपने खतरे हैं। परन्तु 'उदारवादी वैयक्तिकतावाद' पर आधारित कोई भी फार्मूला रामबाण सिद्ध नहीं हो सकता।

रूस, चीन और जापान को छोड़कर तीसरी दुनियां के अधिकांश देश पश्चिमी शक्तियों के उपनिवेश रहे हैं या उपनिवेशिक शक्तियों की शर्तों के समक्ष विवश थे। इसलिए इन देशों में आधुनिकता का उदय ही इन शक्तियों के विरूद्ध राष्ट्रीय आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में होता है। दूसरे शब्दों में इन देशों की आधुनिकता की चेतना के मूल में पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध निहित है। तीसरी दुनिया के मध्यपूर्व एशिया, आन्तरिक एशिया, दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया, उत्तरी अफ्रीका और सहारा-अफ्रीका के मुस्लिम देश अपने धार्मिक विश्वास, धार्मिक-साम्प्रदायिक संगठन और राजनीतिक संस्थाओं के आधार पर एक विशिष्ट समूह बनाते हैं। इन मुस्लिम देशों के जीवन और समाज में विक्षोभ यूरोपीय शक्तियों से टकराव से ही पैदा हुआ। पश्चिमी शक्तियों के प्रति मुस्लिम बुद्धिजीवियों ने सामान्यतः दो तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त की। पहली प्रतिक्रिया पाश्चात्य तकनीक एवं पाश्चात्य सांस्कृतिक मूल्यों और प्रगतिशील मान्यताओं से प्रशिक्षित बुद्धिजीवियों एवं राजनीतिक वर्ग ने की। इन लोगों ने मुस्लिम समाज में भविष्य के लिए इस्लामिक आधुनिकता एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की अवधारणा का समर्थन किया। दूसरी प्रतिक्रिया उलेमाओं एवं सूफियों के नेतृत्व में जनजातीय नेताओं तथा सौदागरों की ओर से आयी, जो मुस्लिम समुदाय के पुनर्गठन और मूलभूत धार्मिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में वैयक्तिक आचरणों में सुधार का समर्थन करते थे। लेकिन विभिन्न मुस्लिम देशों में यूरोपीय शक्तियों के विरूद्ध प्रतिक्रिया अलग-अलग थी। ओटोमन प्रदेश के मुस्लिम देशों-तुर्की, मिस्त्र, अरब और ट्यूनिसिया में-लगभग देशज प्रतिक्रिया हुई लेकिन इनमें सांप्रदायिक भावना का स्पर्श नहीं था। इन देशों के बुद्धिजीवियों ने एक मजबूत राज्य तथा सामाजिक रूप से एकीकृत समाज के बीच गहरे संबंध की आवश्यकता को महसूस किया और ऐसे सामाजिक, विधिक और शैक्षिक कार्यक्रमों को

प्रचलित किया जो धार्मिक बुद्धिजीवियों की परम्परागत भूमिका को समाप्त करते थे। जबकि ईरान तथा इण्डोनेशिया में यूरोपीय शक्तियों के विरूद्ध साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया हुई, जिससे इन देशो में आधुनिकता की चेतना बाधित हुई।

वास्तव में, इस्लामिक आधुनिकता, मुस्लिम राजनीतिक वर्ग तथा बुद्धिजीवियों का 19 वीं सदी का सिद्धान्त है। ये बुद्धिजीवी पश्चिमी शक्तियों से राज्य-सत्ता की वापसी के लिए चिंतित थे। इसलिए देशज सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों की रक्षा करते हुए आधुनिकीकरण की आवश्यकता पर बल दिया गया। इस प्रक्रिया में इस्लाम का त्याग नहीं किया गया, बल्कि इस्लाम के मध्यकालीन रूपों का त्याग किया गया। इस्लामिक आधुनिकता के प्रति प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों का झुकाव धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की ओर भी था। ओटोमन साम्राज्य के युवा तुर्को ने इस्लामिक आधुनिकता के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता को अधिक तरजीह दी। ट्यूनिसिया में प्रथम पीढ़ी के बुद्धिजीवियों ने इस्लामिक आधुनिकता और धर्मनिरपेक्ष आधुनिकता के संयुक्त रूप को प्रस्तुत किया। मिस्त्र में भी इस्लामिक आधुनिकतावादी, धर्मनिरपेक्ष उदारवादी राजनीतिक दलों द्वारा विस्थापित कर दिए गए। अल्जीरिया और इंडोनेशिया, जहाँ उपनिवेशी सत्ता के विरूद्ध श्रमिक आंदोलन हुए, वहाँ राष्ट्रीयता को समाजवादी अवधारणा के साथ संयुक्त कर दिया गया।

जहाँ तक उलेमाओं का प्रश्न है तो बहुत से मुस्लिम देशों-ईरान, जावा, सुमात्रा आदि-में इन लोगों ने उपनिवेशवादी शक्तियों और आधुनिकतावादियों दोनों का विरोध किया। ये उलेमा उपनिवेशवादी शक्तियों के विरूद्ध स्थानीय संघर्षो के मुख्य आधार बन गए थे। साधारणतया, उलेमाओं के इस विरोध को संकीर्णवादी की तुलना में सुधारवादी रूप में व्यक्त किया जाता है। इन सुधारकों ने गैर मुस्लिम देश के प्रति मुस्लिम राज्यों की सहनशील मानसिकता का विरोध किया। वे इस्लाम के भ्रष्ट भाग को विनष्ट करने हेतु आतंकी कारवाई करने तथा सच्चे अर्थो में एक इस्लामी समुदाय के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध थे। इन उलेमाओं ने किसानों तथा सौदागरों के बीच अपना प्रभाव जमा लिया था। इनके आंदोलनों ने उपनिवेशवादी शक्तियों को कमजोर अवश्य किया लेकिन सुधारवादी प्रयत्नों के बावजूद

धर्मनिरपेक्षीकरण के बजाय इस्लामीकरण की जड़ें मजबूत करने का ही काम किया। फिर भी कुछ देशों में सुधारवादी प्रक्रिया, मुस्लिम आधुनिकता से संयुक्त हो गई । मिस्त्र में विद्वानों ने सुधारवादी सिद्धान्तों को यूरोपीय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों के आधुनिकतावादी प्रत्युत्तर से संयुक्त कर दिया। आधुनिकतावादियों एवं सुधारवादियों के विचारों में ऐसे मेल ने मिस्त्र, अरब, मध्य-पूर्व एवं उत्तरी अफ्रीका में सलफिया आंदोलन को प्रेरित किया। यह आंदोलन आधुनिक आर्थिक और तकनीकी उपलब्धियों से इस्लामी रिवाजों एवं व्यवहारों का सांमजस्य स्थापित करने के प्रति प्रतिबद्ध था।

जिन इस्लामी राज्यों में राज्य अधिक प्रभावी रहा है, मसलन, ओटोमन साम्राज्य और तुर्की में, वहाँ राजनीतिक बुद्धिजीवियों ने निर्विरोध रूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता का नेतृत्व किया। जिसके आधार पर अपने स्वतंत्र समाज की अवधारणा को परम्परागत, साम्राज्यिक तथा धार्मिक संदर्भ के बजाय राष्ट्रीय एवं जातीय संदर्भो में परिभाषित किया। ऐसे क्षेत्रों, जैसे आन्तरिक एशिया, जहाँ स्वतंत्रता के लिए आंदोलन बंद हो गया था, मुस्लिम आधुनिकतावाद जातीय राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण तथा आधुनिक राज्य-प्रभुत्व वाले समाजों के एकीकरण की ओर प्रवृत हुआ। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में इस्लाम और फारसी संस्कृति के परम्परागत सम्मिश्रण को इस्लाम और पश्चिमी संस्कृति के सम्मिश्रण द्वारा हटा दिया गया।

इस प्रकार मुस्लिम देशों की राष्ट्रीयतावादी अस्मिता, एक ऐतिहासिक अवधारणा पर आधारित है। आधुनिक राष्ट्रीय अस्मिता में इस समय तक भाषाई एवं जातीय कारकों पर विशेष बल दिया गया। तुर्कों, अरबों, ईरानियों, उजबेकों, ताजिकों के संदर्भ में राष्ट्रीय अस्मिता साधारणतया ऐतिहासिक विरासत, जातीय, भाषिक और इस्लामिक प्रतीकों के आपसी संयोग से निर्मित है।

आधुनिकता की चेतना से युक्त इन राष्ट्रीयतावादी प्रयत्नों के बावजूद कुछ देशों में एक नये प्रकार का गैर राजनीतिक सांप्रदायिक आंदोलन आस्तित्व में आया, जिसने आधुनिकता की प्रक्रिया को पीछे की ओर धकेलने का काम किया। यह प्रवृति पश्चिम अफ्रीका, मिस्त्र, इण्डोनेशिया, मलेशिया आदि देशों में विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो गई जहाँ जनजातीय एवं

सूफी संगठनों के पुराने रूप तो गायब हो गए परन्तु इस्लाम के मूल सिद्धान्तों से प्रेरित एक नये प्रकार के जातीय एवं धार्मिक संगठन अस्तित्व में आ गए थे। राज्य-शासन जितना अधिक धर्मनिरपेक्ष होता गया, ये धार्मिक संगठन उतने ही साम्प्रदायिक और व्यक्तिगत हितों की ओर उन्मुख होते गए। इसका मुख्य कारण इन इस्लामी देशों में धर्मनिरपेक्षीकरण तथा इस्लामीकरण को लेकर विद्यमान द्वयर्थकता थी। इस्लामी देशों में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया पश्चिम प्रभावित अवश्य थीं, परन्तु यह अपने देश की विशिष्टता के परिप्रेक्ष्य में ही विकसित हुई। जिसमें धार्मिक विशिष्टता की महत्वपूर्ण भूमिका थी। परन्तु इस धर्मनिरपेक्षीकरण की एक कमजोरी थी। धर्मनिरपेक्षीकरण तथा धार्मिकता में इतना क्षीण विभाजन था कि आम जनता द्वारा धर्मनिरेपक्षीकरण तथा धार्मिकता में संतुलन बनाए रखना असंभव था। आम जनता अत्यन्त सहज रूप से धार्मिक कट्टरता की ओर झुकने के लिए अभिशप्त थी।

निष्कर्षत: गैर यूरोपीय समाजों की आधुनिकता की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जो उन समाजों एवं सभ्यताओं की सांस्कृतिक विरासत, जातीय एवं भाषाई चेतना, साम्राज्यवादी शक्तियों के विरूद्ध संघर्ष की चेतना से समन्वित है। इन पर पाश्चात्य के प्रभावों से इंकार नहीं किया जा सकता, परन्तु इन समाजों की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संस्थाओं के निर्माण एवं गतिविधियों ने भी आधुनिकता की प्रक्रिया को विशिष्ट बनाया। सूत्र रूप में, राम स्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि ''पश्चिम में आधुनिकता का उपकरण यांत्रिकी है, साम्यवादी देशों में इतिहास।''[9] इसके साथ यह जोड़ा जा सकता है कि तीसरी दुनिया के देशों में आधुनिकता का उपकरण उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता एवं आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण का पर्याय नहीं है। आधुनिकीकरण को पश्चिमीकरण मानने का कोई भी पूर्वग्रह या प्रयत्न विसंगत निष्कर्षो को जन्म दे सकता है।

संदर्भ स्रोतः-

1. आधुनिकता एवं सर्जनशीलता-ले. डा. रघुवंश, पृ. सं.-16.
2. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-ले. रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. सं - 192
3. आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण-ले. रमेश कुन्तल मेघ, पृ. सं-314
4. वहीं, पृ. सं - 135
5. वहीं, पृ. सं - 285
6. नयी कविता (सैद्धान्तिक पक्ष) खण्ड-1, सं. जगदीश गुप्त, विजयदेवनारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. सं.-300.
7. आधुनिक विचार - ले. नन्द किशोर आचार्य, पृ. सं. - 32
8. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद-ले. शिवप्रसाद सिंह, पृ. सं.-96
9. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-ले. रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. सं - 268

द्वितीय अध्याय

आधुनिकता का भारतीय परिवेश

आधुनिकता का भारतीय परिवेश

भारत में आधुनिकता की अवधारणा का सूत्रपात करने का श्रेय पश्चिमी रेनेसाँ के विचारों तथा नवीन ज्ञान-विज्ञान की धाराओं से प्रभावित भारतीय मनीषियों को जाता है। ये भारतीय इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति और फ्रांस की राज्यक्रांति से भी प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे। इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि भारतीय आधुनिकता के विकास में भारत के पश्चिम से सम्पर्क और उसके प्रभाव की महत्वपूर्ण भूमिका है। लेकिन पश्चिमी सम्पर्क और प्रभाव के बावजूद आधुनिकता के भारतीय स्वरूप में प्रकृतितः अन्तर आ जाता है। अन्तर का कारण यह है कि भारतीय समाज के ऐतिहासिक स्वरूप एवं भौगोलिक परिवेश के अनुकूल आधुनिकता की अवधारणा का रूप और आकार विकसित होता है।

भारतीय समाज की कुछ विशिष्टताएँ उसे पाश्चात्य समाज से अलग करती हैं। भारतीय समाज एक ओर विभिन्न जातियों, धर्मों, भाषाओं और क्षेत्रीयता के आधार पर विभक्त था, तो दूसरी ओर वह अज्ञान, अशिक्षा, अंधविश्वास और रूढ़ियों के बीच जकड़ा हुआ था। इसके ऊपर शोषण की अनंत श्रृंखला थी, जो औपनिवेशिक सत्ता और सामन्तवादी सत्ता के गठबंधन की परिणाम थी। औपनिवेशिक साम्राज्य के विरूद्ध एक व्यापक स्वाधीनता आंदोलन को जन्म देने के लिए एक व्यापक तैयारी के बतौर न केवल समस्त धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त होने की आवश्यकता थी, बल्कि समस्त भारतीयों को आपस में संगठित करने की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने भारत में आधुनिकता की अवधारणा के विकास को एक विशेष दिशा प्रदान की। इसके साथ ही पाश्चात्य सम्पर्कों के परिणामस्वरूप भारत को विधि का शासन, संसदीय संप्रभुता, स्वतंत्रता, समानता, न्याय आदि नागरिक अधिकारों की सुरक्षा और व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके मूल्यांकन के नये विचारादर्श आधुनिक उपलब्धि के रूप में प्राप्त हुए। लेकिन इसका श्रेय ब्रिटिश उपनिवेशवाद को नहीं दिया जा सकता है। ब्रिटिश सत्ता को भारत में आधुनिकता के विकास से कोई वास्ता नहीं था। वास्तव में

उपनिवेशवादी सत्ता ने इन आदर्शों की आड़ में अपनी विस्तारवादी नीति को प्रश्रय दिया, जिससे आधुनिक चेतना के मार्ग में रोड़े ही खड़े किए गए। औपनिवेशिक नीतियों ने तो भारत का औद्योगीकरण नहीं होने दिया, साक्षरता के प्रसार को रोका और शिक्षा को आधुनिक विज्ञान से जुड़ने नहीं दिया। अज्ञान, अंधविश्वास और धर्मान्धता की जड़ों को मजबूत करने वाली सरकार आधुनिकता का संवाहक नहीं बन सकती है। धनंजय वर्मा के अनुसार ''वे हमें सभ्यता का वरदान नहीं, बल्कि बड़े अप्रत्यक्ष ढंग से भारतीय मानस में यह एहसास जगाने आए थे कि दर्शन, विचारादर्श एवं सांस्कृतिक स्तर पर हमारे पास कुछ नहीं था या है।''[1] इस औपनिवेशिक मानसिकता के विरूद्ध प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी, जिसका परिणाम हुआ भारतीय संदर्भों में आधुनिकता की खोज एवं व्याख्या। दूसरे शब्दों में, आधुनिकता के राष्ट्रीय संदर्भ की पहचान की गई, जिसका स्वरूप पाश्चात्य स्वरूप से सर्वथा अलग था।

यूरोपीय आधुनिकता का सीधा संघर्ष मध्ययुगीन मान्यताओं और मूल्यों से था। इसलिए आधुनिकता का यूरोपीय संदर्भ, परम्परा और आधुनिकता के बीच आंतरिक तनाव, कशमकश और द्वन्द्व से जुड़ा था। इन समस्त तनावों और द्वन्द्वों के केन्द्र में चर्च था। इसीलिए यूरोपीय आधुनिकता का राजनीतिक पहलू राज्य को महाप्रभुतासंपन्न चर्च की शक्ति से मुक्त करना था तो सामाजिक-धार्मिक पहलू के तौर पर सामान्य जन की मानसिकता को पारलौकिकता से ऐहिकता की ओर मोड़ने के साथ ही सामाजिक जीवन में फैलाये गए अंधविश्वास से मुक्ति देकर, अनुशासन, कर्म और श्रम के प्रति निष्ठा प्रकट करना था। धर्म और विज्ञान के बीच के तनाव और द्वन्द्व को इन्हीं प्रयत्नों के संदर्भों में देखा जा सकता है। परन्तु भारत में धार्मिक सत्ता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रतिनिधियों के बीच उस तरह का द्वन्द्व नहीं हुआ, जैसा यूरोप में हुआ। इसके अनेक कारण है। बकौल धनंजय वर्मा, ''अपने आधुनिक वास्तविक और प्रामाणिक अर्थों में विज्ञान हमारे यहाँ न तो जन्मा और न उसका स्वाभाविक विकास हुआ। अत: धर्म और विज्ञान का कोई वास्तविक द्वन्द्व यहाँ उभर नहीं पाया''[2] दूसरा कारण यह है कि भारत में आधुनिकता के प्रवर्त्तकों ने

धार्मिक रूढ़ियों का निषेध किया, धर्म का निषेध नहीं किया। राजा राम मोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज का उदेश्य ही था धार्मिक और सामाजिक सुधारों पर बल देना, ईश्वरीय सत्ता का निषेध करना नहीं। इसके विपरीत, धनंजय वर्मा के अनुसार, ''यूरोपीय आधुनिकता का एक मुख्य लक्षण आध्यात्मिक संक्रांति रहा है, जो भौतिक समृद्धि और सम्पन्नता से उपजा है, जहाँ प्रगति की दौड़ में मानव-मूल्य और आध्यात्मिक संस्कृति नगण्य हो जाती है।''[3] जबकि उपनिवेशवादी दौर में भारत में भौतिक समृद्धि और आधुनिकीकरण की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः भारत में आध्यात्मिक संस्कृति का क्षय नहीं हुआ। यह अवश्य है कि यूरोपीय बुद्धिजीवियों ने ऐसी समृद्धि को संदेह की नजरों से देखा है जिसने आध्यात्मिक संस्कारों और मानव-मूल्यों के समक्ष संकट पैदा कर दिया है। तीसरा कारण था भारतीय परम्परा में ज्ञानमार्ग, धार्मिक सहिष्णुता और वैचारिक उदारता की स्वस्थ प्रवृत्तियों की प्रधानता, जिसके कारण भारत में धार्मिक कट्टरता वह रूप ग्रहण नहीं कर सकी, जो ईसाई चर्च प्राप्त कर सका था। एक अन्य कारण यह था कि भारत में धर्म उस तरह संगठित नहीं था, जैसा कि यूरोप में चर्च में केंद्रित था। इसे स्पष्ट करते हुए पी.सी.जोशी लिखते हैं- ''हमारे देश में किसी मायने में धर्म की जड़ें अधिक गहरी है, क्योंकि वे गाँव-गाँव, घर-घर में फैली हुई हैं। पाश्चात्य देशों में धर्म के संगठित स्वरूप के विरूद्ध लड़ना आसान था, क्योंकि वहाँ आप जानते थे कि आपको किससे लड़ना है। यहाँ आप किससे और कैसे लड़ेगें? उस गरीब असहाय आदमी से जो हर तरफ से निराश होकर धर्म और ईश्वर की शरण में जाता है''[4] इसी कारण भारत में धर्म की सत्ता को चुनौती देना संभव नहीं था। इसके ऊपर औपनिवेशिक सत्ता के कारण आर्थिक विकास, वैज्ञानिक विकास और शिक्षा का प्रसार व्यापक रूप से संभव नहीं हो पाया, जो धर्म की सत्ता को चुनौती देने में निर्णायक भूमिका निभाते।

भारतीय और पाश्चात्य आधुनिकता में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि ''पश्चिम में आधुनिकता एक सम्पूर्ण अन्विति के रूप में उपलब्ध और अर्जित हुई है और सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, दार्शनिक, मूल्यपरक चिंतन और सर्जनात्मक

साहित्य के साथ-साथ समानान्तर जीवनगत संदर्भो में भी सक्रिय और विकसित है। अत: वहाँ का आधुनिक बोध आंशिक या विभाजित नहीं है, सम्पूर्ण है। भारत में वह आंशिक है, विभाजित है और एक हद तक खण्डित है, क्योंकि उसके अन्य सारे आयाम यहाँ अनुपस्थित हैं।''[5] अनुपस्थित होने का कारण यह है कि भारत में आधुनिक बोध यथार्थ जीवन के संदर्भो में प्रतिफलित नहीं हुआ।

(क) भारत में आधुनिक भाव-बोध का उदय

भारतीय संदर्भ में आधुनिकता के विमर्श को कुछ भारतीय चिन्तक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखने के आग्रही रहे हैं। वे यह मानते हैं कि परम्परा से ही आधुनिकता का विकास होता है। इसलिए वे आधुनिकता के विमर्श को बौद्ध-काल से शुरू करते हैं। डा. रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, ''भारतीय आधुनिकता की धारा बुद्ध के कमंडलु से अनुस्यूत हुई है।''[६] परम्परागत सामाजिक एवं वैदिक मान्यताओं, प्रतिष्ठित जड़ रूप कर्मकाण्डों और मानव नियति के समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा करते हुए गौतम बुद्ध ने मानव-मात्र के दूखों का निदान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया था। यह पहला आंदोलन था जिसने मनुष्य को विमर्श के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया। वेद और वैदिक मूल्यों के अस्वीकार ने जिस नास्तिकता बोध को जन्म दिया, वह बोध ही तद्युगीन आधुनिकता का परिचायक बना। बुद्ध को यह नयी दृष्टि अपने युग के इतिहास-बोध से मिली थी, जिसके कारण वे परम्परा से चली आ रही रूढ़ियों का विरोध करते हुए जीवन की सार्थकता के लिए नये मार्ग की तलाश करते हैं। तलाश की यह प्रक्रिया अनवरत गतिमान रहती है और प्रबुद्ध भारतीय मनीषा ने मानव जीवन और समाज के प्रतिकूल तथा जड़ जीवन-मूल्यों को न केवल अस्वीकार किया बल्कि युगानुकूल नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना भी की। मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन की संवेदना ने सामंतवादी मूल्यों को चुनौती दी। नानक कबीरादि संतों एवं भक्तों की वाणी उस निराश, जड़ और हताश युग के लिए आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करती थी। उनकी वाणी में मानवीय अस्मिता और मानवीय मूल्यों की एक उर्ध्वमुखी चेतना निहित थी। आधुनिकता की चेतना के अनुकूल यहाँ किसी विशेष धर्मग्रंथ को अंतिम सत्य नहीं माना गया जैसा कि यूरोप में माना जाता है। किसी व्यक्ति-विशेष की वाणी को अंतिम सत्य मानकर सामान्य व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास को अवरूद्ध नहीं किया गया और धर्मग्रंथों या रूढ़ स्थापित मूल्यों को चुनौती देने वाले को फाँसी के फँदे

पर नहीं बैठाया गया। यहाँ स्वयं को ब्रह्म कहने के जुर्म में किसी को ब्रह्म तक पहुँचा देने का प्रयास नहीं किया गया। स्वातंत्र्य-चिंतन और मानवीय-बोध की यह परम्परा नि:संदेह भारतीय जीवन-मूल्यों की मूलभूत विशेषता है। यह विशिष्टता आधुनिकता का केन्द्रीय तत्व है।

इसके बावजूद आधुनिक काल में जिस आधुनिक भाव-बोध का उदय हुआ, उसे प्राचीन काल से चली आ रही आधुनिकता की स्वाभाविक परिणति नहीं कहा जा सकता है। समकालीन संदर्भ में आधुनिकता का जो रूप और अर्थ है, वह निश्चय ही पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से सम्पर्को की देन है। आधुनिकता की जिस विकासमान प्रक्रिया को हम प्राचीन और मध्यकालीन समाज में देखते हैं या तलाश करते हैं, वह भी अपने प्रतिमान के लिए उन्नीसवीं-बीसवीं सदी की आधुनिक चेतना पर निर्भर है। सबसे बड़ी बात यह है कि वर्तमान संदर्भो में जिसे 'आधुनिकता' कहा जा रहा है, उस पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव है। जबकि प्राचीन और मध्यकालीन व्यक्ति-विमर्श, स्वातंत्र्य-चिंतन या रूढियों और अंधविश्वासों के अस्वीकार में विज्ञान या वैज्ञानिक दृष्टि की कोई भूमिका नहीं है। समस्त प्रगतिशीलता और क्रांतिकारिता के बावजूद प्राचीन और मध्ययुगीन समाज और उसकी चेतना पर अध्यात्म और धर्म का प्रभाव अनवरत बना हुआ था। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि जिस 'बुद्ध के कमंडलु' से आधुनिकता की धारा प्रवाहमान होने की बात की जाती है, उसी बुद्ध को ईश्वरावतार की संज्ञा दे दी जाती है। अर्थात, ईश्वरत्व को नकारने वाले को भी ईश्वर मान लिया जाता है। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्राचीन और मध्ययुगीन मानवीय-बोध के कारण सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाँचे में किसी भी तरह का आमूल परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता है। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी की आधुनिक चेतना के कारण सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक स्तर पर जिस प्रकार के बदलाव प्रारम्भ होने लगे थे,वैसे बदलाव अतीत में

कभी नहीं हुए थे। प्राचीन और मध्यकाल में यद्यपि वैचारिक स्तर पर जीवन में सार्थकता की तलाश और व्यक्ति को विमर्श के केन्द्र में लाने का प्रयास अवश्य किया गया, परन्तु सामाजिक स्तर पर उसकी अस्मिता का निर्धारण वर्णाश्रमवादी ढाँचें में उसकी 'स्थिति' के आधार पर ही होता था। हमारे संस्कारों, आचार-विचारों और जीवन-पद्धतियों में मध्ययुगीन सामन्ती संस्कृति के तत्व मौजूद थे। बुद्ध, कबीर, नानक, तुलसी और दादू आदि का प्रखर मानवीय-बोध तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सत्ता की संरचना में बदलाव नहीं ला सका। परन्तु इस संरचना में जो शिथिलता आज दिखाई देती है, वह अतीत में पहले कभी नहीं थी। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे मानवादर्शों, प्रजातंत्र जैसे राजनीतिक आदर्शों और नवीन ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीक से परिचित होते जाने के कारण मध्ययुगीन सोच और संस्कार में परिवर्तन दृष्टिगत होने लगा था। इसके साथ ही स्वाधीनता आंदोलनों ने आधुनिकता की प्रक्रिया को एक व्यापक राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना से युक्त किया। आधुनिक भाव-बोध के राष्ट्रीय चेतना से युक्त होने की बात अतीत में कभी नहीं हुई थी।

तात्पर्य यह है कि भारतीय संदर्भ में आधुनिक भाव-बोध के उदय को केवल मानवीय-बोध की ऐतिहासिकता के आधार पर नहीं समझा जा सकता हैं, बल्कि राष्ट्रीयता की व्यापक संघर्षशील चेतना से जोड़कर ही देखा जा सकता है। इस राष्ट्रीय संघर्ष की चेतना ने भारतीय समाज को जितना आंदोलित किया, उतनी किसी क्रान्ति ने नहीं।

इसप्रकार भारत में आधुनिकता के विकास को तीन चरणों में लक्षित किया जा सकता है। भारतीय पुनर्जागरणकालीन आधुनिक चेतना को आधुनिकता के विकास का प्रथम चरण माना जा सकता है। औपनिवेशिक सत्ता के विरूद्ध संघर्ष को इसका दूसरा चरण और स्वातंत्र्योतर कालीन चेतना आधुनिकता का तृतीय चरण है। पुनर्जागरणकालीन आधुनिकता ही राष्ट्रीय चेतना से युक्त आधुनिकता के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। यूरोपीय रेनेसाँ की तरह भारत में भी आधुनिकता के उदय की पृष्ठभूमि में धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलन की निर्णायक भूमिका थी। धार्मिक और सामाजिक सुधार को केन्द्रीय

एजेण्डा मानने के कारण ही राजा राम मोहन राय को आधुनिकता का प्रवर्तक माना जाता है। वे आधुनिकता के पश्चिमी प्रारूप के कायल थे। उन्होंने 1823 में अंग्रेजी सरकार द्वारा गठित लोक शिक्षा समिति के सदस्य के रूप में भारत में पाश्चात्य शिक्षा दिए जाने की वकालत की थी। वे प्राच्य शिक्षा और ज्ञान को आधुनिक-चेतना के विकास में बाधक मानते थे। इसके विपरीत एक अन्य धारा थी जिसने राष्ट्रीय संस्थाओं को पुनर्गठित और संस्कारों को परिष्कृत करते हुए भारतीय संस्कृति के स्रोतों से सहायता ली। इसके समर्थक परम्परागत धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का पुनर्संस्कार इसी रास्ते करना चाहते थे। अर्थात्, आधुनिकीकरण के प्रति उनकी दृष्टि विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय थी। इस धारा के प्रतिनिधि स्वामी दयानन्द थे। अपने-अपने दृष्टिकोण से दोनों धाराएँ जड़ वर्णाश्रमी व्यवस्था, सतीप्रथा, बालवध, बालविवाह आदि का विरोध करती हैं और नारी शिक्षा, विधवा विवाह एवं नारी स्वतंत्रता की माँग करती हैं। विरोध और समर्थन की यह प्रक्रिया देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विष्णुशास्त्री पंडित और भारतेन्दु से होते हुए विवेकानन्द और महात्मा गाँधी तक चली आई। स्वामी विवेकानन्द ने इन ध्रुवों से अलग भारतीय जीवन और दर्शन को उसकी सम्पूर्णता में विकसित करके युगीन संदर्भों में व्याख्यायित करते हुए राष्ट्रीय चरित्र से जोड़ने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के उपकरणों और उपादानों के महत्व को स्वीकार करते हुए राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक माना। इस प्रकार आधुनिकता के प्रति उनकी दृष्टि न तो विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय थी और न ही अंग्रेजीकरण की कायल। वे पश्चिम की आधुनिक दृष्टि को मूल्य-बोध के गहरे स्तर पर अपने देश की सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिवेश में पाने की कोशिश करते हैं। मानवतावाद, विश्व-बंधुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् की उनकी परिकल्पना देश की परम्पराओं और गहरे यथार्थ-बोध से विकसित है।

धार्मिक और सामाजिक सुधार की यह प्रक्रिया ही आधुनिकता के दूसरे चरण में राष्ट्रीय जागरण की चेतना का अंग बन गई। वास्तव में धार्मिक और सामाजिक सुधार

व्यापक राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि थी। इन धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों पर चोट किए बिना न केवल राष्ट्रीय चेतना का उदय असंभव होता बल्कि आधुनिकता नि:संदेह आयातित दर्शन होती।

आधुनिक चेतना की पृष्ठभूमि में औपनिवेशिक सत्ता की अप्रत्यक्ष भूमिका का भी मूल्यांकन आवश्यक है। ब्रिटिश शासन ने पहली बार सम्पूर्ण भारत पर अधिपत्य स्थापित कर राजनीतिक एकसूत्रता कायम की। परम्परागत शासन-व्यवस्था की विविधता के स्थान पर विधि की समानता पर आधारित शासन-व्यवस्था का प्रचलन करके प्रशासनिक एकता कायम की। आधुनिक न्यायालीय व्यवस्था, विधि का शासन, नई शिक्षण संस्थाओं, राजनीतिक शासन के प्रतीकों-विधान परिषद, संसदीय प्रभुता, व्यस्क मताधिकार आदि-से भारतीयों को परिचित कराया। यद्यपि ये सारी व्यवस्थाएँ अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवादी हितों के अनुकूल स्थापित की थीं, परन्तु परम्परागत राजनीतिक संरचना में इस प्रकार का आमूल परिवर्तन अप्रत्यक्षत: आधुनिकता के विकास में सहायक हुआ। इसीप्रकार आधुनिक वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास के प्रतीकों-रेल, टेलीग्राफ, मुक्त व्यापार आदि का प्रचलन भी साम्राज्यवादी हितों को साधने की दृष्टि से किया गया, परन्तु ये सुविधाएँ भौगोलिक और भाषाई आधार पर दूर पड़े भारतीयों को एक-दूसरे से जोड़ने में सहायक हुई। तत्कालीन आधुनिकता के उपर्युक्त उपादान व्यावहारिक स्तर पर पूर्ण रूपेण भले साकार नहीं हो पाये हों, परन्तु वैचारिक स्तर पर भारतीय मानस साक्षात्कार करने लगा था। धनंजय वर्मा के अनुसार, ''इस वैचारिक परिवर्तन की विशेषताओं में व्यक्ति को केन्द्र मानकर उसके मूल्यांकन की दृष्टि, उसके विकास में राज्य का कम से कम हस्तक्षेप, लोक स्वतंत्रता पर बल, धार्मिक सहिष्णुता, विवेक और बुद्धि का प्रयोग, मनुष्य की पूर्णता की इस रूप में कल्पना कि वह व्यक्ति और समूह के वैयक्तिक एवं वर्गीय स्वार्थों से ऊपर उठकर अपनी क्षमता का सामाजिक विकास कर सके, राज्य को जनस्वीकृति और न्यायिक प्रशासन आदि का नाम गिनाया जा सकता है।''[7] इस वैचारिक परिवर्तन का ही परिणाम था कि सम्पूर्ण भारतीय मानस राष्ट्रीयता के एक व्यापक धरातल पर आ जुड़ा।

साथ ही अंग्रेजी शोषण के चरित्र को पहचान सका। औपनिवेशिक सत्ता द्वारा अपने हितों को साधने हेतु प्रारम्भ किए गए प्रशासनिक और संस्थात्मक निकायों के द्वारा एक ओर भारतीय मानस जहाँ आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं से परिचित हुआ, वहीं दूसरी ओर इन संस्थाओं के माध्यम से होने वाले शोषण और मानवाधिकार हनन के चरित्र से भी वाकिफ हो गया। अंग्रेजों की प्रशासकीय मशीनरी और उसकी लूट ने भारतीय मानस को झकझोर डाला था। इसी कारण भारतीय मानस अपने साझे दुश्मन की गुलामी से मुक्त होने की चेतना से जुड़ गया। यह स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार यूरोप में शोषण के केन्द्र में चर्च का संगठित रूप था, उसी प्रकार भारतीयों के शोषण और बदहाली का कारण अंग्रेजी सत्ता है। यहीं कारण है कि भारत में आधुनिकता का विकास द्विविध स्तरों एवं दिशाओं में संघर्ष करते हुए हुआ। भारतीय आधुनिकता का उदय एक ओर मध्ययुगीन संस्कारों से संघर्ष करते हुए और विभिन्न धर्मों, जातियों, समुदायों और भाषिक आधारों पर बँटे हुए देश को एक राष्ट्र के रूप में विकसित करने के प्रयासों के विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ। दूसरी ओर इस संघर्ष को तीव्र करने का काम ब्रिटिश-साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी तत्वों के विरुद्ध किया गया। इस दोहरे संघर्ष की ऐतिहासिक आवश्यकता के संदर्भ में ही भारत में आधुनिक भाव-बोध के उदय को देखा जा सकता है।

(ख) स्वातंत्र्योत्तर भारतः आधुनिकीकरण का परिवेश

स्वाधीनता-पूर्व की आधुनिकतावादी चिंतन ने सामाजिक-आर्थिक संरचना को व्यापक रूप से प्रभावित नहीं किया। मुक्ति आंदोलन की चेतना को ध्यान में रखा जाए तो आर्थिक-समाजिक सुधारों की माँग के अतिरिक्त और कोई संरचनात्मक परिर्वतन दृष्टिगत नहीं होता है। सामाजिक-आर्थिक संरचना में या तो जड़ता थी या जो परिवर्तन हो रहा था, वह साम्राज्यवादी दबाव के कारण प्रतिगामी था। साम्राज्यवादी दबाव से प्रेरित सामाजिक-आर्थिक-संस्थागत परिवर्तन को आधुनिकीकरण का परिणाम नहीं माना जा सकता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की ऐसी शुरूआत, जिससे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, कलागत एवं संस्थागत परिवर्तन होता है, स्वातंत्र्योत्तर भारत में ही होती है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत का एक नए युग में प्रवेश होता है, जहाँ से विकास के सारे रास्ते खुल जाते हैं। जनजागरण और स्वाधीनता संघर्ष के दौरान यह आशा व्यक्त की गई कि संप्रभुसम्पन्न राष्ट्र को स्वनिर्माण की स्वतंत्रता होगी। इस स्वातंत्र्य-चेतना के साथ राष्ट्रीय नवनिर्माण का नया दौर शुरू हुआ। राजनीतिक स्तर पर जहाँ सही मायने में प्रजातांत्रिक व्यवस्था की नींव डाली गई, वहीं आर्थिक समृद्धि के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न किए गए। एक नयी व्यवस्था से साक्षात्कार तथा उस व्यवस्था को जीवन का अंग बना लेने का संकल्प भारत के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में पहला कदम था। यह कदम आधुनिक चेतना की दिशा में आजादी पूर्व की चेतना से सर्वथा अलग था। जनतांत्रिक प्रतिनिधित्व की इस व्यवस्था ने आम जनता की राजनीतिक भागीदारी को सुनिश्चित किया। एक स्वस्थ लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास के लिए सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक समानता, विचार-अभिव्यक्ति, धार्मिक स्वतंत्रता, अवसर की समानता तथा सबसे आगे बढ़कर व्यक्ति की गरिमा की प्रतिष्ठा की घोषणा की गई। लेकिन आधुनिकता की दिशा में उठाया यह कदम आगामी वर्षों में सुखद परिणाम देने वाला सिद्ध नहीं हुआ। आशा और उल्लास के झीने आवरण में समस्याओं का वृहत जाल छिपा हुआ था। इस उल्लास पर पहली मर्मान्तक चोट पड़ी विभाजन की। एक झूठ अर्थात् साम्प्रदायिकता ने एक बड़े सच

अर्थात् देश-विभाजन को जन्म दिया। इस विभाजन ने सामाजिक समरसता, भाईचारा, विश्वास और इंसानियत जैसी धारणाओं को खंडित कर दिया। सत्य और शुभ की विजय का विश्वास खंडित हो गया, समाज में मानवीय भावनाओं का महत्व कम हो गया। दूसरी ओर नेतृत्व वर्ग के भ्रष्ट आचरण, सत्ता से चिपके रहने की प्रवृति और राजनीतिक दलों की सिद्धान्तहीन राजनीति के कारण प्रजातंत्र के प्रति आस्था का ह्रास हुआ। नैतिकता और सैद्धांतिक प्रतिबद्धता वाणी का विषय रह गई, आचरण से उसका संबंध विच्छिन्न हो गया। इस वर्ग की कथनी-करनी में अन्तर के कारण ही जन सामान्य में मोहभंग की स्थिति हुई और भविष्य के प्रति अनिश्चय और अविश्वास का वातावरण बना।

आधुनिकीकरण की दिशा में जिस प्रभावी प्रयास की जरूरत थी, वह आर्थिक समृद्धि की प्राप्ति थी। यह पहले कहा जा चुका है कि पाश्चात्य में आधुनिकता का विकास आधुनिकीकरण की शर्त पर हुआ है और आधुनिकीकरण में सबसे बड़ा योगदान यंत्रीकरण, वैज्ञानीकरण और औद्योगीकरण का था। आजादी के बाद औद्योगीकरण की दिशा में प्रयास आधुनिकता की ओर ऐसा कदम था जिसका प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश पर पड़ा। लोकतांत्रिक समाजवाद के नारे को वैज्ञानिक उपलब्धियों के बल पर साकार करने का प्रयत्न किया गया। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय समृद्धि ही नहीं बढ़ी बल्कि लोगों के जीवन-स्तर में भी सुधार हुआ। आय बढ़ने के साथ भौतिक वस्तुओं के उपभोग और उत्पादन की प्रवृति का विकास हुआ। लेकिन आजादी के पूर्व जिस आर्थिक आत्मनिर्भरता का स्वप्न देखा गया था, वह स्वप्न ही रह गया। बिगड़ती अर्थव्यवस्था का असर सामाजिक जीवन और नैतिक मान्यताओं पर पड़ना स्वाभाविक था। अमीर-गरीब के बीच बढ़ती खाई, बेरोजगारों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि, बढ़ता काला धन तथा इन सबके ऊपर सरकारी नीतियों की असफलता के फलस्वरूप एक मोहभंग और विचित्र अवसादमय नैराश्य जनता में फैलता गया।

भारत लगभग दो शताब्दियों तक ब्रिटिश उपनिवेश बना रहा। उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था ने भारतीय मानस में औद्योगीकरण की पश्चिमी नीति को बद्ध-मूल कर दिया

था। पश्चिम में एक ओर बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण और उत्पादन के परिणामस्वरूप आत्मनिर्भरता और भौतिक समृद्धि तो दूसरी ओर भारत में घनी आबादी, आत्मनिर्भरता का अभाव और भौतिक बदहाली। इसीलिए भारतीय नेतृत्व वर्ग ने आजादी के बाद औद्योगीकरण की पाश्चात्य नीति का अनुकरण किया। इस नीति के पीछे उनके सकारात्मक इरादे पर संदेह नहीं किया जा सकता है। परन्तु यह ध्यान नहीं दिया गया कि बड़े उद्योग और बड़े पैमाने पर उत्पादन हर देश और काल के लिए उपयोगी नहीं होते। बड़े पैमाने पर यंत्रीकरण और औद्योगीकरण की जिस नीति को पाश्चात्य देशों द्वारा अपनाया गया था, वह उनकी साम्राज्यवादी जरूरतों का परिणाम था। जबकि भारत का लक्ष्य साम्राज्यवादी विकास नहीं, बल्कि ब्रिटेन की आबादी से तीगुनी-चौगुनी गरीब आबादी का भौतिक उत्थान करना था। पश्चिमी नीति अपनाने के कारण पूँजीवादी विकास से प्रेरित औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रवृति भारत में भी चल पड़ी। पूँजीवादी प्रभावों से प्रेरित औद्योगिक सभ्यता और मशीनीकरण ने जीवनपद्धति और जीवन-मूल्यों को इस कदर प्रभावित किया कि समस्त सामाजिक संरचना के समक्ष नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गई। हम भूल गए कि अंधाधुंध औद्योगिक प्रगति की दौड़ में कौन से मानवीय मूल्य नष्ट हो रहे हैं, कौन सी अमानवीय स्थितियाँ पैदा हो रहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि औद्योगीकरण नहीं किया जाय, परन्तु आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में कृषि और आधारभूत उद्योगों को गौण मानकर आनन-फानन में विकसित यूरोपीय देशों और अमेरिका के समकक्ष ले जाने की कोशिश एक भयानक चूक साबित हुई। जिसका परिणाम यह हुआ कि देश की एक बड़ी आबादी भूखमरी, बदहाली और अभावों में जीने के लिए अभिशप्त है। बढ़ते औद्योगीकरण और नगरीकरण के बीच आर्थिक दबावों ने सामाजिक संरचना के स्तर पर संयुक्त परिवारों में विघटन, स्त्री-पुरूष संबंधों में तनाव, बच्चों की असुरक्षा, लोगों में कुंठा एवं अवसाद को जन्म दिया। डा. रमेश कुंतल मेघ ने कई रूप छायाओं का उल्लेख करते हुए सामाजिक उथल-पुथल की ओर संकेत किया है- ''हमारे समाज में बेहद उथल-पुथल हो रही है, जिससे सामाजिक संबंध बदले हैं। आत्मपरायेपन और शोषण की भयानकता तथा क्रूरता ने

समाज में संवेदनशून्यता तथा अप्रतिबद्धता को व्यापक बनाया है।'[8] तात्पर्य यह है कि बढ़ते हुए यंत्रीकरण ने मनुष्य को सुविधाएँ ही नहीं प्रदान की बल्कि व्यक्ति से उसकी शक्ति भी छीन ली। मनुष्य का मनुष्य और प्रकृति से रागात्मक संबंध था, परन्तु मशीनीकरण ने मनुष्य की अनुभूतिशीलता का क्षय करके उसे अन्य मनुष्यों के साथ-साथ प्रकृति से भी दूर कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप मानवीय-बोध को आघात पहुँचा। मानव-मन अपने बाह्य जीवन में अजनबी और आन्तरिक जीवन में स्वयं को विस्थापित अनुभव करने लगा। स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार पाकर भी मनुष्य मशीनों की यंत्रवत गुलामी करने के लिए मजबूर हो गया। साथ-ही-साथ अनुभूति-शक्ति के ह्रास के कारण स्नायविक रोगों का शिकार होता गया। अत: पाश्चात्य आधुनिकता द्वारा गढ़ा गया मिथक कि-विज्ञान की सहायता से निरन्तर आर्थिक और सामाजिक विकास होता है-निरर्थक सिद्ध हो गया है। क्योंकि यहीं विज्ञान मानवीय मूल्यों में ह्रास के लिए उत्तरदायी भी सिद्ध हुआ है।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या आधुनिकीकरण की प्रक्रिया केवल मूल्यों का पतन, सामाजिक विघटन और नैराश्यजन्य अवसाद को ही जन्म देती है? क्या आधुनिकीकरण की परिणति व्यक्ति और समाज के लिए अमंगलकारी स्थितियों में होती है? क्या आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सुखद मानवीय पर्यावरण का निर्माण नहीं करती? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को समझने की जरूरत है। वस्तुत: आधुनिकीकरण की प्रक्रिया संबंधी प्रत्येक चिंतन के केन्द्र में मनुष्य होता है। इसलिए आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी मनुष्य की समृद्धि और कल्याण से जुड़ी होती है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार ''आधुनिकता समस्त विकास और गति का केन्द्र मनुष्य और उसकी उपलब्धियों को स्वीकार करती है।'[9] लेकिन आधुनिकीकरण के प्रभावी कारक औद्योगीकरण और यंत्रीकरण ही अमानवीय स्थितियों के लिए जिम्मेदार रहे हैं। वास्तव में हमारे नियोजन और चिन्तन पर पाश्चात्य नीति का असर इस कदर पड़ा कि हमने आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण को पर्याय मान लिया और पश्चिमीकरण को उद्देश्य समझ लिया। पश्चिमीकरण का तात्पर्य उन समस्त

सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मूल्यों एवं प्रतिमानों का अंधानुकरण करना हैं जिन्हें पश्चिम के देश प्राप्त कर चुके हैं। परिणामत: बकौल धनंजय वर्मा, 'पश्चिमीकरण या आधुनिकीकरण को हमने प्रक्रिया मानने के बजाय मूल्य मान लिया'[10]। और इस मूल्य को अपनाने के प्रयास में हम भूल गये कि भारतीय संस्कृति के कौन से मूल्य नष्ट हो रहे हैं। अत: इस अमानवीय स्थिति के उत्पन्न होने का महत्वपूर्ण कारक सांस्कृतिक क्रम-भंग भी रहा है। एक ओर हमारी भारतीय संस्कृति में मानवीय-बोध की गहरी परम्परा, मनुष्य और सृष्टि के बीच अखंड़ित संबंध और सार्वभौमिक आदर्श आदि अमूल्य धरोहर के रूप में विद्यमान है वहीं दूसरी ओर आधुनिकता की चेतना से युक्त और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से संपन्न जीवन व्यवस्था है। परन्तु इन दोनों को जोड़ने वाले सेतु का अभाव हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि हम इन अमूल्य धरोहरों को आधुनिक चेतना के साथ संयुक्त करने के बजाय एक ओर धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों से चिपके हुए हैं तो दूसरी ओर आधुनिकता के पाश्चात्य प्रतिमानों को ओढ़ते चले आए हैं। इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि पाश्चात्य आधुनिकता उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भों की उपज है, जिसका हम अंधानुकरण करते जा रहे हैं। इस दोहरी प्रवृति के कारण हमारे चिन्तन एवं व्यवहार में दोहरापन या अन्तर्विरोध पैदा होता गया है। सांस्कृतिक सेतु के अभाव का एक अन्य परिणाम यह होता है कि हम एक ओर अपनी सांस्कृतिक विरासत और परम्परा को नकारते हैं तो दूसरी ओर आधुनिकता की चेतना से सतही स्तर पर ही जुड़ पाते हैं। इसीलिए स्वातंत्र्योत्तर भारत में आधुनिकता के नाम पर औद्योगीकरण से पैदा हुआ तनाव, द्वन्द्व और खंडित व्यक्तित्व ही प्रधान हो गया है।

जहाँ तक विज्ञान, वैज्ञानिक साधनों एवं यंत्रों के उपयोग की बात है, तो समस्या इनसे नहीं है। क्योंकि प्राय: विज्ञान और यंत्र को सार्वभौमिक और सार्वदेशिक माना जाता है। परन्तु धनंजय वर्मा के अनुसार, ''सार्वभौमिक और सार्वदेशिक होकर भी विज्ञान अपने निजी संदर्भों से सम्पर्कित होकर ही रचनात्मक हो सकता है। इसलिए विज्ञान और प्रविधि

को भी रचनात्मक दृष्टि से अपने परिवेश और संदर्भ में ही ग्रहण किया जाना चाहिए।''[11] तात्पर्य यह है कि आधुनिकीकरण के लिए वैज्ञानिक साधनों एवं यंत्रों का आयात तो आवश्यक है। परन्तु इससे भी अहम् जरूरत है वैज्ञानिक दृष्टिकोण की। इसके अभाव में वैज्ञानिक साधनों को हम निजी परिवेश के अनुकूल रचनात्मक रूप से संयुक्त नहीं कर पाए। इसके विपरीत हम यंत्रों के गुलाम हो गए हैं, जिसका प्रभाव हमारी सम्पूर्ण सामाजिक संरचना पर पड़ रहा है।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में आधुनिकता के केन्द्र में स्वतंत्रता पूर्व मुक्तिकामी चेतना प्रासंगिक नहीं रह जाती है। उसके स्थान पर आधुनिक भाव-बोध अत्यन्त जटिल और अनेक प्रवृत्तियों का समूह हो जाता है। आधुनिकता संबंधी चिंतन के केन्द्र में विकासवाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद और मानववाद आदि अनेक विचारधाराएँ प्रमुखता पाती हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि आजादी के पूर्व ये विचारधाराएँ अस्तित्व में नहीं थी, परन्तु इसका महत्व गौण था। आजादी के बाद इन विचार पद्धतियों की प्रमुखता हो गई। पश्चिम में आधुनिकता संबंधी चिंतन इन विचारधाराओं एवं दार्शनिक पद्धतियों को आत्मसात किए हुए चलता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी यदि ये विचार पद्धतियाँ भारतीय जीवन-दर्शन और समाज को प्रभावित करती हैं तो इसे आश्चर्य नहीं माना जाना चाहिए। विकासवाद ने मनुष्य का ध्यान ऐहिकता की ओर खींचकर भोगपरक मूल्यों के विकास में सहायता पहुँचाई। मनोविश्लेषणवाद के आलोक में मनुष्य के अन्तर्मन में देखने की प्रवृति ने सामाजिक और नैतिक मूल्यों-विशेषकर स्त्री-पुरूष संबंध के संदर्भ में-को हिला दिया। अस्तित्ववादी और मानवतावादी मूल्यों ने युद्धोत्तर विभीषिका के नाम पर खूब धूम मचाया। इसप्रकार ये सभी चिन्तनधाराएँ अपने-अपने दृष्टिकोण से आधुनिक भाव-बोध के किसी-न-किसी पहलू को उठाने का प्रयत्न करती हैं। इसके साथ ही भारतीय संदर्भ में इन विचाधाराओं की सार्थकता को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। इन विचार पद्धतियों के आलोक में देखा जाय तो आधुनिकता संबंधी चिंतन ने परिवेश के प्रति सचेतता, मान्यताओं और मूल्यों के प्रति बौद्धिक दृष्टि, मानवीय सामर्थ्य के

प्रति आस्था और मानवीय स्वातंत्र्य की रक्षा जैसे मूल्यों की वकालत की। परन्तु औसत भारतीय बाह्यपरिवेशगत दबावों के कारण नवीन मूल्यों के साथ जीवनदायी संबंध स्थापित नहीं कर सके। क्योंकि जिस प्रकार हम औद्योगीकरण की प्रक्रिया को निजी परिवेश की आवश्यकताओं के अनुकूल आत्मसात नहीं कर पाए, उसी प्रकार इन वैचारिक मान्यताओं और सिद्धान्तों को हम निजी परिवेश के यथार्थ से संयुक्त नहीं कर पाए। इन विचार-पद्धतियों को उनके पश्चिमी संदर्भो के साथ ही आयात कर लिया। विकासवाद को हमने केवल भौतिक विकास की एकमुखी प्रक्रिया के रूप में देखा। इस तथ्य को नजरन्दाज कर दिया कि विकास की प्रक्रिया मूल्य-धनात्मक होती है और सांस्कृतिक विकास से भी जुड़ी होती है। अस्तित्ववादी मान्यताओं को भी हमने युद्धोत्तर विभीषिका के आंतक के रूप में देखा। जबकि भारत युद्ध एवं युद्धोत्तर विभीषिका से उस तरह नहीं गुजरा, जिस प्रकार पश्चिमी देश गुजरे थे। यह सच है कि युद्ध मानव और मानवीय मूल्यों के अस्तित्व के समक्ष संकट खड़ा करते हैं और आजादी के बाद सन 1948, 62 और 65 में भारत, पाक और चीन से युद्ध अवश्य लड़ा, परन्तु इन युद्धों ने भारतीय जीवन और समाज के समक्ष उस तरह से आतंक या संकट खड़ा नहीं किया था, जिसप्रकार विश्वयुद्धों ने पाश्चात्य समाज के समक्ष खड़ा किया था। इसके बावजूद भारतीय चिन्तकों ने विश्वयुद्धोत्तर आतंक को विश्वव्यापी मानकर उससे जुड़े भाव-बोध को भी स्वीकार कर लिया। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि भाव-बोध को राष्ट्र की सीमाओं में बँधा होना चाहिए बल्कि भाव-बोध को राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया के संदर्भ में ही देखना चाहिए।

इसप्रकार इस सचाई को खारिज नहीं किया जा सकता कि आधुनिकीकरण के पाश्चात्य आदर्शो को हमने फैशन के रूप में ग्रहण किया है जिससे हमारे मानवीय संबंध और प्रतिमान अस्थिर हुए हैं। यह स्पष्टीकरण देना कि मूल्यों का विघटन और संवेदनशीलता का ह्रास आधुनिकीकरण का अनिवार्य परिणाम है, इस प्रक्रिया के अन्तर्गत समग्र मानवीय स्थितियों पर विचार नहीं किया जा सकता है, एक अतिवादी धारणा है।

वास्तविकता यह है कि आधुनिकीकरण के यूरोपीय साँचे और आदर्श प्रत्येक स्थिति में हमारे लिए सदुपयोगी नहीं रहे हैं। यदि आर्थिक नियोजन और प्राविधिक प्रगति के संदर्भ में यूरोपीय साँचे को स्वीकार भी कर लिया जाय तो सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना एवं ऐतिहासिक परिदृश्य के संदर्भ में तो बिल्कुल संभव नहीं है। आधुनिकता के यूरोपीय आदर्श भले ही आकर्षक रहे हों, परन्तु इनसे हमारी मानसिक संरचना इसप्रकार अभिभूत या आक्रान्त हो जाती है कि अपने देश-काल की परिस्थितियों में मौलिक चिन्तन तथा नवीन मार्ग खोजने की सम्भावना से चूक जाती है। धनंजय वर्मा के अनुसार,''लोग यह भूल जाते हैं समस्त उदार, मानवतावादी, स्वाधीन और वैज्ञानिक चिन्तन के बावजूद, यूरोप के राष्ट्र अपनी राजनीतिक और आर्थिक नीतियों में घोर राष्ट्रवादी, महत्वाकांक्षी और काफी हद तक स्वार्थी और अनुदार रहे हैं।''[12] तात्पर्य यह है कि देशकालीन संदर्भों में ही आधुनिकता की प्रक्रिया रचनात्मक हो सकती है और एक सार्थक मानवीय पर्यावरण का निर्माण कर सकती है। आधुनिकता की प्रक्रिया को जीवन के प्रश्नों एवं संदर्भों से सम्पृक्त करने की अवस्था में ही आधुनिकीकरण संभव है और अमानवीय स्थितियों से बचा जा सकता है। मूल्यहीनता मानव नियति नहीं है बल्कि सकारात्मक मूल्यों का निर्माण ही आधुनिकता की प्रक्रिया का अंग है। मनुष्य, मशीन तथा प्रकृति के बीच एक ऐसा विवेकपूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाना, जिससे मनुष्य न तो मशीन का गुलाम हो और न ही मनुष्य का, ही आधुनिकता की मूल संवेदना को सार्थकता प्रदान कर सकता है।

(ग) हिन्दी साहित्य में व्यक्त परिवेश और आधुनिक संवेदना

आधुनिकता या आधुनिक भाव-बोध का जो परिवेश स्वतंत्रता के पूर्व या पश्चात रहा है, वहीं हिन्दी साहित्य के विकास का भी परिवेश रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्ध में हिन्दी साहित्य उन समस्त सुधारवादी मूल्यों और मान्यताओं का साक्षी रहा है जो आधुनिक संवेदना का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतेन्दु और उनके मण्डल ने नवजागरण की जिस चेतना को वाणी दी, वह तत्कालीन सामाजिक यथार्थ के गहरे यथार्थ-बोध पर आधारित है। इसलिए वह यथार्थ-बोध, आधुनिक भाव-बोध का प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार आधुनिकता के उदय की पृष्ठभूमि धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलनों से होते हुए राष्ट्रीय मुक्ति-चेतना से सम्पृक्त हो जाती है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य भी सुधार की आवश्यकताओं से प्रेरित होते हुए व्यापक मुक्तिकामी चेतना से सम्पृक्त हो जाता है।

हिन्दी साहित्य में पुनर्जागरणकालीन परिवेश और संवेदना के अनुकूल भारतेन्दु मण्डल ने अस्मिता-बोध को वाणी दी-''स्वत्व निज भारत गहै''। यह केवल राष्ट्रीय अस्मिता का उद्घोष नहीं है, वरन् इसके माध्यम से सम्पूर्ण सांस्कृतिक और मानवीय अस्मिता को स्थापित किए जाने पर बल दिया गया है। राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न राजनीतिक स्वाधीनता की चेतना से जुड़ा हुआ है। साम्राज्यवादी परिवेश का उन्हें पूरा बोध है। यह बोध तत्कालीन रचनाओं में व्यक्त हुआ है। ब्रिटिश राज्य का अन्याय और अंधापन 'अंधेरनगरी' नाटक का उपजीव्य है। भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने अंग्रेजी राजसत्ता के वास्तविक चरित्र और उसकी अस्मिता का पर्दाफाश किया है। जो अंग्रेजी शासन लोकतंत्र, नागरिक अधिकार, उत्तरदायी शासन और आधुनिक मानवतावादी मूल्यों का संरक्षक मानता है, उसकी कार्यनीति ठीक इसके विपरीत है। ''पै धन विदेश चलि जात'' का सूत्र पकड़ कर भारतेन्दु अंग्रेजी सत्ता द्वारा किए जा रहे घोर आर्थिक शोषण का पर्दाफाश करते हैं। तत्कालीन भारत की दुर्दशा, दमन और दीनता का चित्रण करते समय भी भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के समक्ष भारत की पूरी ऐतिहासिक-पौराणिक और सांस्कृतिक परम्परा मौजूद रहती है, वे परम्परा-बोध से कटे हुए नहीं है। यह परम्परा-बोध

ही उनके आधुनिक भाव-बोध को शक्ति प्रदान करता है जिसके बल पर वे औपनिवेशिक मानसिकता या दिमागी गुलामी के विरूद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित होते हैं। भारतेन्दु मण्डल को देशकाल की समझ थी। उन्हें लगा कि परिस्थिति बदल चुकी है, इसलिए साहित्य का विषय भी बदलना चाहिए। भारतेन्दु में विवेक, राष्ट्रीयता, जातीयता, वर्तमान के केन्द्र से अतीत और भविष्य पर नजर, धार्मिक सहिष्णुता, नये विचारों को स्वीकार करने का साहस, हिंदू-मुस्लिम एकता, रूढ़ियों और पाखण्ड़ों का विरोध, भारतीय भाषाओं का उत्थान, उद्योग-धंधों की वकालत, भारतीय इतिहास की पुनर्प्रतिष्ठा और औपनिवेशिक संस्कृति का लगातार विरोध आदि आधुनिकता के तत्व सहज ही मिलते हैं। इसी कारण भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्य आधुनिक माानव-जीवन तथा आधुनिक भाव-बोध की समग्र प्रस्तावना है और यहीं नवजागरण की मुख्य भाव-भूमि है।

डा. राम स्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार ''समग्र और सम्पूर्ण मनुष्य की परिकल्पना भारतीय पुनर्जागरण के केन्द्र में हैं।''[13] यहीं परिकल्पना आधुनिकता संबंधी चिंतन का भी मूल प्रस्थान है। विचार-बोध और भाव-बोध के स्तर पर इसी परिकल्पना के अनुरूप संवेदना की अभिव्यक्ति तत्कालीन साहित्य में प्राप्त होती है। 'समग्र और सम्पूर्ण मनुष्य' की परिकल्पना बाद के साहित्य में भी अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। द्विवेदी युगीन साहित्य में मनुष्य और परमतत्व के रिश्तों की समीक्षा होती है। सम्पूर्ण रचनाशीलता और चिंतन के केन्द्र में मनुष्य है, ईश्वर केवल आस्था का विषय है। आधुनिक संवेदना के अनुकूल इस दृष्टिकोण की पहली सशक्त उद्घोषणा 'प्रिय प्रवास' में मिलती है। जहाँ कृष्ण एक महापुरुष के रूप में दिखाई पड़ते हैं, ईश्वर या ब्रह्म के रूप में नहीं। यह समीक्षा गुप्त जी भी करते है। पंत, प्रसाद, निराला और प्रेमचंद तो समीक्षा के चक्कर में पड़ते ही नहीं हैं, बल्कि सीधे व्यक्ति के आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा करते हैं। यहीं व्यक्तिगत आत्मसम्मान, राष्ट्रीय आत्मसम्मान का अंग है।

भारतेन्दु मण्डल की तरह ही मैथिलीशरण गुप्त में भी गहरा परम्परा-बोध है। उनके अतीत गौरव-गान की आवश्यकता को देश-दशा के संदर्भ में समझा जा सकता है। उनके

अतीत गौरव के स्मरण में कहीं यह भाव नहीं है कि भारत को उस प्राचीन व्यवस्था की ओर लौट चलना चाहिए। वस्तुत: अतीत का गान अपनी राष्ट्रीय पहचान तथा अस्मिता का बोध देशवासियों को कराने के उदेश्य से किया गया। उनका राष्ट्रीय भाव-बोध युगीन परिवेश से रस ग्रहण करते हुए विकसित होता है। अतीत का सिंहावलोकन उन्हें शक्ति प्रदान करता है। 'भारत-भारती' में कवि ने जिसप्रकार देश की सामाजिक-आर्थिक दुर्दशा का चित्र उपस्थित कर सामन्तवादी व्यवस्था और अंग्रेजी शासन की नीचता दर्शाने में कोई कमी नहीं की, उससे स्पष्ट है कि सामन्तवाद और साम्राज्यवाद विरोधी चेतना वाला कवि आधुनिक भाव-बोध से वंचित नहीं हो सकता। वे परिवार, धर्म और समाज के पारम्परिक मूल्यों की गरिमा का वर्णन भी नवीन मानवीय संवेदना तथा तार्किकता के अनुकूल ही करते हैं। इसीकारण गुप्त जी और उनका साहित्य भारतीय आधुनिकता के सच्चे प्रतितिधि सिद्ध होते हैं।

आधुनिकता की अवधारणा जैसे-जैसे सुलझती गई है, पुनर्जागरण की कमजोरियाँ दूर होती गई हैं। इसी कारण राष्ट्रीय जागरण और आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति भी सूक्ष्मतर होती गई है। प्रसाद, निराला और प्रेमचन्द की रचनाएँ इसका प्रमाण है। प्रसाद और निराला की कविताओं में जिसप्रकार राष्ट्रीय परिवेश की अभिव्यक्ति हुई है, वह आधुनिक भाव-बोध की विशिष्टता है। 'राम की शक्तिपूजा' राम की नहीं, बल्कि निराला की शक्तिपूजा है, आधुनिक मानव की शक्तिपूजा है, स्वाधीनता के लिए संघर्षरत तत्कालीन राष्ट्रीय मानस की शक्तिपूजा है। निराला के 'राम' की जो करूण असमर्थता है, वह उस युग के व्यक्ति की असमर्थता है। राम द्वारा ''धिक जीवन को जो पाता ही आया विरोध'' कहकर आत्मभर्त्सना करना, भक्तिकालीन आत्मभर्त्सना से भिन्न है। यह आत्मभर्त्सना, जीवन-यथार्थ और उससे प्राप्त कटु अनुभव पर आधारित है। यह अपने गहरे अर्थ स्तरों में, केवल राम की हताश मन:स्थिति का नहीं, बल्कि सामूहिक राष्ट्रीय मन की अभिव्यक्ति है। यह आधुनिक मानव की मनोदशा है। 'शक्तिपूजा' में 'सीता-मुक्ति' की आकांक्षा को राष्ट्रीय आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। निराला के 'राम'

को यह चिंता नहीं होती कि उनकी पराजय से सत की महिमा की स्थापना नहीं हो सकेगी, धर्म की अधर्म पर श्रेष्ठता स्थापित नहीं हो सकेगी। उनकी चिंता केवल सीता की मुक्ति को लेकर है। युद्ध और शक्तिपूजा का समस्त आयोजन उसी के लिए है। यहीं पर राम का आधुनिक मानवीय पक्ष उभर कर आता है। वे अपनी पत्नी की मुक्ति के लिए अपनी एक आँख 'शक्ति' को समर्पित करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। इसी बिन्दु पर निराला के राम ''नारी हानि विसेष छति नाहिं'' कहने वाले तुलसी के राम से अलग दिखाई देते हैं। राम की यह उत्सर्ग भावना स्वाधीनता के लिए संघर्षरत तत्कालीन राष्ट्रीय मानस की दृढ़ उत्सर्ग भावना का भी मूर्तिकरण है। इस प्रकार मानवीय शक्ति और गरिमा का एक विराट आख्यान अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया गया है।

'शक्तिपूजा' के 'राम' की तरह 'कामायनी' के 'मनु' भी पराजय और निराशा की मन: स्थिति में दिखाई देते हैं। वे जब कहते हैं-''किंतु जीवन कितना निरूपाय ..... निराशा है जिसका परिणाम''[14] तो वे देवकुल का नहीं, बल्कि साम्राज्यवादी परिवेश में पराधीनता-बोध से त्रस्त राष्ट्रीय मानस का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इन परिस्थितियों पर विजय पाने का संदेश भी राष्ट्रीय परिवेश और मानसिकता के अनुकूल है। 'शक्तिपूजा' में जहाँ 'शक्ति की मौलिक कल्पना' की बात कही गई है वहीं 'कामायनी' शक्ति के विद्युत्कणों के समन्वय का संदेश देती है। इन दोनों संदेशों को शताब्दियों से पराधीन राष्ट्र के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। ऐसे राष्ट्र के लिए शक्ति की मौलिक कल्पना और शक्तिकणों के नियोजन से बढ़कर कोई सार्थक दृष्टि नहीं दी जा सकती है।

राष्ट्रीय चेतना के विकास में बाधक बनने वाली तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक समस्याओं का भी इन रचनाकारों ने चित्रण किया। 'कामायनी' में औद्योगीकरण, यंत्रीकरण और भौतिकतावादी प्रवृति से मानवीय सभ्यता और मूल्यों के समक्ष उत्पन्न होने वाले खतरों की ओर भी आगाह किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों और कहानियों में साम्प्रदायिक संघर्ष, आपसी बैर भाव, विलासिता के कारण देश की दुर्दशा, आर्थिक संकट के कारण भूखमरी, नारी के

ऊपर पुरूष का वर्चस्व आदि समस्याओं को भी अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। यह आधुनिक भाव-बोध वाले रचनाकार द्वारा ही संभव है।

सामाजिक यथार्थ के चित्रण में जिस व्यापकता और सूक्ष्मता का परिचय प्रेमचन्द ने दिया, उतना किसी अन्य समकालीन रचनाकार ने नहीं दिया। उनके निश्चित सामाजिक-राजनीतिक उदेश्य थे-''साहित्य केवल विलासिता की वस्तु नहीं है। हमारी कसौटी पर वहीं साहित्य खरा उतरेगा, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।''[15] यह उद्घोषणा आधुनिक भाव-बोध का प्रमाण है। उनके उपन्यासों-प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, निर्मला, गोदान आदि और कहानियों में तत्कालीन यथार्थ-बोध-वर्ग-वैषम्य, किसानों और मजदूरों का शोषण, सामाजिक असमानता, वेश्या जीवन, अनमेल विवाह, पूँजीवादी संस्कृति-की अभिव्यक्ति ही नहीं हुई, बल्कि जनता की साम्राज्यविरोधी भावना की भी अभिव्यक्ति प्रदान की। राम स्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन अक्षरश: सत्य है कि ''साहित्यिक क्षेत्र में प्रेमचन्द ने वहीं काम किया जो राजनीतिक क्षेत्र में गाँधी ने किया।''[16] इसीप्रकार हिन्दी साहित्य के आचार्य आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने बाह्य जगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना की और उनके आधार पर साहित्य में सामंती, रीतिवादी, कलावादी, धार्मिकता, श्रृंगारिकता और रहस्यवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया और देशभक्ति एवं जनतंत्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के हिन्दी साहित्य में आधुनिक संवेदना की सफल अभिव्यक्ति हुई है। स्वातंत्र्योतर परिवेश में आधुनिकीकरण के पाश्चात्य आदर्शों के अंधानुकरण की तरह हिन्दी साहित्य में भी आधुनिकता के पाश्चात्य के आदर्शों के प्रति तीव्र आकर्षण रहा है। परिणामत: अनेक रचनाकार अपने परिवेश के यथार्थ संदर्भों और प्रश्नों से टकराये बिना ही पाश्चात्य आधुनिकता के लक्षणों को ही फैशन की तरह हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त करते आ रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्य में संशय, संदेह, अस्वीकार और कुंठा का स्वर प्रधान होता गया। आधुनिकता के प्रतिनिधि माने गए रचनाकार अज्ञेय ने

लिखा है- ''यह युग संशय, अस्वीकार और कुंठा का है। अस्वीकार का स्वर सर्वोपरि है और कुछ अपवादों को छोड़कर इसे अश्रद्धा का युग कह सकते है।''[17] इसी प्रकार अनेक कवि-लेखक वर्तमान सामाजिक वास्तविकता से कटे होकर अपनी कुंठित चेतना, आरोपित संत्रास, दर्द, अकेलेपन, पराजय और विद्रोह को ही आधुनिकता का लक्षण मानते रहे हैं। 'कल्पना' और 'ज्ञानोदय' आदि पत्रिकाओं द्वारा ऐसे ही भाव-बोध की वकालत की जाती थी। मैनेजर पाण्डेय ने इस नकारात्मक भाव-बोध वाली आधुनिकता को लक्षित करते हुए लिखा है- ''यह आधुनिकता यथार्थ के विरूद्ध स्वप्न को, परम्परा के विरूद्ध क्षणबोध को, समाज के विरूद्ध व्यक्ति को और इतिहास के विरूद्ध मिथक को साहित्य में प्रचारित कर रही थी। अनास्था, कुंठा, घुटन, निराशा, आत्मरति, आत्मपरायापन और अजनबीपन को उलझे बिम्बों, जटिल प्रतीकों और अमूर्तन के सहारे व्यक्त करने को ही आधुनिकता कहा जाता था।''[18] ऐसे नकारात्मक भाव अपने देश-काल, जीवन और समाज की वास्तविक स्थिति से प्रेरित न होकर पाश्चात्य आधुनिकतावाद से प्रेरित हैं।

ऐसे रचनाकारों का मानना है कि स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया भी काफी तीव्र रही है। पूँजीवादी विकास, औद्योगीकरण और नगरीकरण ने इस प्रक्रिया में विशेष भूमिका निभायी है। नगरों में बढ़ती जनसंख्या ने मनुष्य को संवेदनात्मक स्तर पर अकेला बना दिया। व्यक्ति अपने को भीड़ से घिरा हुआ पाता है। वह अपनी इस स्थिति से असन्तुष्ट है। लक्ष्मी कान्त वर्मा और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने भीड़ बनाम व्यक्ति के द्वन्द्व को कविता में व्यक्त किया है।

इन कवियों की रचनाओं में जीवन के प्रति जिस ऊब खीझ, निराशा और कुंठा की अभिव्यक्ति हुई है, उसक मूल में शहरी जीवन की विषमताएँ है। लेकिन भीड़ में व्यक्ति के अकेलेपन और अजनबीपन को दिखाने के प्रयास में यह नजरन्दाज कर दिया जाता है कि व्यक्ति भी भीड़ का ही एक अंग है। भीड़ व्यक्तियों का समूह है। भीड़ भी मनुष्य का ही अंग है। यह मनुष्य का ही एक मूर्त और यथार्थ स्वरूप है जिसे व्यक्ति के नाम पर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता है।

कुछ रचनाकारों का मानना है कि नकारात्मक भाव-बोध के लिए देश की वास्तविक परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी हैं। मुक्तिबोध के अनुसार ''भ्रष्टाचार, अनाचार, तंगी, कलह, दांव-पेंच, राग-द्वेष के दृश्य हमें सर्वत्र दिखाई देते हैं। पैसे की कीमत बढ़ गई है, आदमी की कीमत गिर गई है। ऐसी स्थिति में भारतीय कविता में उदासी और विफलता, ग्लानि और क्षोभ का चित्रण होना स्वाभाविक है। अतएव उसे यूरोप-अमेरिका से उधार ली हुई भावना कहना, असंगत प्रतीत होता है।''[19] यहीं कारण है कि मुक्तिबोध जब जीवन की वास्तविकता को उजागर करते हैं तो उसकी विडम्बनात्मक स्थितियों के लिए विज्ञान और मशीन को नहीं बल्कि 'शोषण की सभ्यता के नियमों' को दोषी ठहराते हैं, जिसके 'सियाह चक्रव्यूह' में मनुष्य के प्राण फँसे हुए हैं।

तत्कालीन परिवेश में मानवीय संबंधों को अभिव्यक्त करने वाले व्यापारों ने भी अपना अर्थ खो दिया है। संवेदनात्मक क्षरण के कारण हम संबंधों को यंत्रवत निभाए जा रहे हैं। अज्ञेय ने 'केंकडें' के प्रतीक द्वारा तत्कालीन सामाजिक संबंधों के ठंड़ेपन की ओर संकेत किया है। आज व्यक्ति इस कदर आत्मसीमित हो गया है कि वह अपनी पत्नी, प्रेयसी, मित्र, भाई, अधिकारी-सभी से कृत्रिम स्वर में बात करता है। भाव और वाणी से सहज आत्मीयता लुप्त हो गई है। अनेक कवियों की रचनाओं, विशेषकर प्रबंध रचनाओं-'अंधायुग' 'आत्मजयी', 'संशय की एक रात' - में सामाजिक संबंधों का चित्रण इतिहास और पुराणों के वृत के माध्यम से हुआ है। मुक्तिबोध, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, कुँवर नारायण, नरेश मेहता और केदार नाथ सिंह आदि कवियों ने सामाजिक जीवन के तनावों के साथ-साथ मानव में सौहार्द्र और अपनत्व की सहज भावनाओं का भी चित्रण किया है। कवियों ने यह विश्वास व्यक्त किया कि तमाम अकेलेपन की भावना के बावजूद मानव में सामाजिकता की प्रवृति शाश्वत है। इस प्रवृति के विनाश की आशंका कवियों को विल्कुल नहीं है। तात्पर्य यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि आधुनिकता ने संकट पैदा किए तो साथ ही सृजनात्मक समृद्धि भी प्रदान की है। मनुष्य को अपनी रचनात्मक आकांक्षा पूरी करने के लिए पूरा अवसर प्राप्त हुआ।

संस्कृति, समाज तथा इतिहास की मानव केंद्रित, वैज्ञानिक, यथार्थवादी और तर्कशील व्याख्या हुई।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के परिवेश और उससे जुड़ी संवेदना की अभिव्यक्ति उपन्यासों और कहानियों में भी हुई है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की घोषणा, नारी-स्वतंत्रता की माँग, अस्तित्व की चिंता, परम्परागत रूढ़ मान्यताओं और शोषण की प्रवृति के प्रति विद्रोह आदि मूल्यों की अभिव्यक्ति इस दौर के उपन्यासों, नाटकों और कहानियों का प्रमुख उपजीव्य है। इन मूल्यों के पीछे नि:संदेह आधुनिकता की तीखी चेतना समाहित है। दूसरी और भौतिक मूल्यों को प्रश्रय देने के कारण सामाजिक संबंधों में आए तनाव, व्यक्तित्व का विखराव तथा मूल्यहीनता जैसे नकारात्मक मूल्यों को भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में आधुनिक चेतना के अनुकूल परम्परागत नैतिक मूल्यों का विरोध और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थन किया गया है। इसी प्रकार डा. देवराज के 'अजय की डायरी,' नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल', मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे', और ऊषा प्रियम्बदा के 'रूकोगी नहीं राधिका' में नैतिकता के परिवर्तित मानदण्डों, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, अस्तित्व-चेतना तथा यौन स्वच्छन्दता आदि मूल्यों को प्रतिष्ठित किया गया है। लेकिन व्यक्ति-स्वातंत्र्य, अस्तित्व-चेतना और यौन स्वच्छन्दता को अनुभूति की विशिष्टता के नाम पर आधुनिक चेतना के रूप में स्थापित कर सामाजिकता, इतिहास-बोध, यथार्थ, रोमैंटिकता और समय आदि का निषेध करना बेमानी लगता है। यहाँ पाश्चात्य आधुनिक साहित्य-चिंतन के अनुकरण से इंकार नहीं किया जा सकता है। इन उपन्यासों में यह प्रदर्शित किया गया है कि विज्ञान और तकनीक ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की स्थापना की परन्तु इस पर ध्यान नहीं दिया गया कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की आड़ में भौतिकतावाद पनपता गया। आधुनिकीकरण के दौर में इस प्रवृति ने नवीन मानवीय मूल्यों की ओर उन्मुख व्यक्ति को मूल्यहीन बना दिया है। अत: यहाँ व्यक्ति-मूल्यों के बदले विकृतियों को प्रश्रय मिला है। व्यक्ति अपेक्षाकृत अत्यधिक संकुचित होता गया, जिसने न तो परम्परा को स्वीकार किया और न युग की आधुनिक स्वस्थ दृष्टि को, जो मूल्यों के

निर्माण में सहायक होती है। निर्मलवर्मा के 'वे दिन' तथा 'लाल टीन की छत' में टूटते मूल्यों की ही कथा कही गई है। उनका कोई भी पात्र समाज के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है। सभी जीवन के प्रति नितान्त निजी विचार रखते हैं, जिसके अन्तर्गत न किसी तरह का आदर्श है, न नैतिक मूल्यों को प्रति किंचित भी आग्रह है। इस उपन्यास में पूर्ण स्वतंत्रता की आड़ में पनपी मूल्यहीनता को अभिव्यक्त किया गया है। इसी प्रकार राजकमल चौधरी की 'मछली मरी हुई' समलैंगिक यौनाचार में लिप्त स्त्रियों की कहानी है। भगवती चरण वर्मा की 'रेखा' में भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर यौन स्वच्छन्दता की प्रवृति को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

अस्तित्ववादी दर्शन के युद्ध एवं युद्धोत्तर विभीषिका के विश्वव्यापी आतंक को भारतीय रचनाकारों ने भी महसूस किया। व्यक्तित्व की परिपूर्णता या मानवता के अस्तित्व के समक्ष युद्ध एक संकट है। इस संकट को 'अंधायुग' में भी उपस्थित किया गया है। यह संकट इसके बावजूद है कि भारत ने तबतक (1955 तक) केवल 1948 का युद्ध लड़ा था। इस युद्ध ने भारतीय समाज के समक्ष वह आतंक पैदा नहीं किया, जितना विश्वव्यापी दृष्टि के नाम पर विश्वयुद्धोत्तर आतंक से भारतीय परिवेश में मूल्य विघटन की बात 'अंधायुग' में स्वीकारी गई है। कुछ यहीं स्थिति 'अंधेरे में' भी है जिसमें कर्फ्यू, आपात स्थितियों और मिलीटरी की बूटों और संगीनों का एक ऐसा आतंक प्रस्तुत किया गया है जो कम से कम उस समय भारतीय परिवेश के संदर्भ में उतना सच नहीं था, जितना पाकिस्तानी परिवेश के लिए सार्थक होता। मानवता के नाम पर विश्वव्यापी आतंक से जुड़ने की दृष्टि सार्थक नहीं कहीं जा सकती, क्योंकि मानवता एक विश्वव्यापी फेनोमिना होते हुए भी उसका एक निजी संदर्भ भी होता है। अस्तित्व दर्शन के आलोक में अज्ञेय की प्रशंसा करनी होगी। मृत्यु या युद्ध के अस्तित्ववादी आतंक के बरक्स ''अपने अपने अजनबी'' में अज्ञेय की उपपत्ति है कि ''नश्वरता का भाव ही जीवन को सर्जनात्मक, रसमय और अर्थवान बनाता है।''[20] भारतीय परिवेश के अनुकूल अस्तित्ववादी

दर्शन से भी अधिक सार्थक जीवन के समग्र-बोध की पहचान का प्रयत्न, 'बूँद और समुद्र' तथा 'भूले-बिसरे चित्र' में भी मिलता है।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में आधुनिक भाव-बोध की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ एक ओर आधुनिकता की चेतना के अनुकूल मानव, उसकी अस्मिता तथा मानवीय मूल्यों की तलाश को अधिक महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त परम्परागत रूढ़ियों के प्रति विद्रोह के बावजूद गहरा परम्परा-बोध, मानवीय मूल्यों पर आस्था और नैतिकता के नवीन मापदण्डों को परिभाषित किया गया है। दूसरी ओर आधुनिकीकरण के भौतिकवादी प्रभावों से उत्पन्न हुई सामाजिक विकृतियों, कुण्ठा, निराशा, यौन स्वेच्छाचारिता आदि स्नायविक बीमारियों से त्रस्त और सडाँध की जिंदगी जीने की नियति का भी साक्षात्कार किया गया है। ये स्थितियाँ आधुनिकता संबंधी चिंतन के समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं कि मानव, उसकी अस्मिता तथा उसके अस्तित्व की रक्षा संबंधी मूल्यों का पर्यवसान क्यों निषेधात्मक होता है?

(घ) हिन्दी साहित्य में आधुनिकता संबंधी चिंतन

हिन्दी में आधुनिकता या आधुनिक भाव-बोध के संबंध में बहस स्वातंत्र्योत्तर काल में होती है। यह बहस अधिकांशत: सैद्धांतिक ही है और जैसा कि अक्सर होता है कि सैद्धांतिक बहसों में निर्णय की पूरी छूट रहती है। हिन्दी के चिन्तकों ने इस छूट का पूरा उपयोग किया है। इसी कारण ''हिन्दी के चिन्तन में आधुनिकता संबंधी अधिकांश विचार व्यक्तिनिष्ठ रहे हैं।''[21] कभी आधुनिकता को 'शास्त्र' बनाकर उसे 'वाद' का रूप देने का प्रयास किया गया है तो कभी इसे ऐतिहासिक प्रक्रिया माना गया है। कुछ लोग आधुनिकता को अप्रगतिशील ठहराते हैं तो कुछ लोग बौद्ध अवस्था मान लेते हैं। इस प्रकार के चिन्तन को आधुनिकता के प्रति सार्थक नहीं मान लेते हैं। इस प्रकार के चिंतन को सार्थक चिंतन नहीं माना जा सकता है।

कुछ हिन्दी चिंतक आधुनिकता को मूलत: बौद्धिक प्रक्रिया मानते हैं। विजयदेव नारायण साही ने एक गोष्ठी में आधुनिकता को दिमाग के बुखार को प्रकट करने वाला माना है। परन्तु आधुनिकता को केवल बौद्धिक मानना उसे व्यक्ति-केन्द्रित करना है। वास्तविकता यह है कि आधुनिकता जबतक व्यक्ति के व्यवहारों, आचरणों, प्रवृतियों और संस्कारों में बदलाव नहीं लाती, तबतक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया संभव नहीं है। यह संभव नहीं है कि हम बौद्धिक स्तर पर आधुनिक चेतना से युक्त हो, परन्तु व्यवहार और संस्कार के स्तर पर रूढ़िवादी बने रहें। आधुनिकता गतिशील जीवन-दृष्टि है। बिना सामाजिक रूपांतरण के इसकी गतिशीलता को बनाए रखना संभव नहीं है।

नयी कविता के आचार्य लक्ष्मीकान्त वर्मा ने आधुनिकता का संबंध समसामयिकता से मानते हैं। क्षण-क्षण के यथार्थ के भोग में भाग लेने की क्षमता ही आधुनिकता है। वे रोमांटिक विरोध के प्रति आग्रही और विवेकसम्मत होने को आधुनिकता की शर्त मानते है।[22] लेकिन वास्तविकता यह है कि आधुनिकता केवल समसामयिकता से ही सीमित नहीं है। सामयिकता को जीने का अर्थ है क्षण-क्षण के यथार्थ का भोग करना। परन्तु आधुनिकता, क्षण-बोध के साथ-साथ निरन्तरता का भी बोध है। क्षण-क्षण के यथार्थ भोग

से मूल्य-चेतना संभव नहीं है। जहाँ तक रोमांटिक-विरोध की बात है तो आधुनिकता का रोमाण्टिकता से विरोध ही नहीं है। आधुनिकता रोमांटिकता के समग्र भाव-बोध को लेकर चलती है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार, आधुनिकता की वास्तविक परख यह है कि हम कितना इतिहास-मुक्त हो सकते है।[23] गाँधी और ईसा इतिहास-मुक्त होने के साथ इतिहास को अपने पीछे-पीछे चलने के लिए बाध्य करने वाले थे। उनके अनुसार इतिहास-मुक्त मनुष्य जब काल की सीमा को लाँघ कर एक नई गतिविधि का प्रणेता होता है तो वह आधुनिक हो जाता है। लेकिन गाँधी और ईसा को इतिहास-मुक्तता के आधार पर आधुनिक कहना आधुनिकता का यांत्रिक प्रयोग करना है। वास्तव में गाँधी और ईसा में मानव-इतिहास की सम्पूर्ण चेतना थी। वे इतिहास-मुक्त नहीं थे, बल्कि इतिहास-युक्त थे। प्रश्न यह है कि मनुष्य जब अपने समाज और परिवेश से अलग नहीं हो सकता है तो इतिहास से कैसे मुक्त हो सकता है? अत: धनंजय वर्मा के शब्दों में ''इतिहास से मुक्त होने या बच निकलने की कोशिश बृहत्तर यथार्थ की अस्वीकृति है।''[24]

डा. धर्मवीर भारती ने आधुनिकता को संकट-बोध के रूप में देखा है। उनके अनुसार एक ही ऐतिहासिक अनुभूति के दो पहलुओं की तरह तथा परस्परावलम्बित संकट-बोध और आधुनिकता-बोध साथ-साथ प्रकट होते हैं। ''यह संकट केवल आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक नहीं बल्कि मानवजीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट है।[25] ''यह संकट केवल पश्चिम एवं पूर्व का नहीं है, बल्कि समस्त संसार में विभिन्न धरातलों पर विभिन्न रूप में प्रकट हो रहा है।''[26] उनके अनुसार, इस संकट का अथवा मानवीय तत्व के विघटन का तात्पर्य यहीं है कि वर्तमान युग में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिसमें अपनी नियत्ति के इतिहास के निर्माण के सूत्र मनुष्य के हाथों से छूटे हुए लगते हैं और मनुष्य दिनों-दिन निरर्थकता की ओर अग्रसर होता प्रतीत हो रहा है। धर्मवीर भारती के अनुसार, आधुनिक संकट का स्रोत यह है कि विज्ञान ने परालौकिक सत्ता को आधारभूत मानकर चलने वाली मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टि को तोड़ दिया और ''मानव नियत्ति के साक्षात्कार के लिए जैविक एवं ऐतिहासिक विकास के यांत्रिक नियमों की खोज होने लगी

जो केवल अनुमानात्मक न हों, वैज्ञानिक हों''[27] पर वह मानव-स्वभाव को सम्पूर्णता में देखने के बजाय खण्ड रूप में एवं यांत्रिक रूप से ही देख सका। अत: इस मनुष्य को सम्पूर्णता में देखते हुए मानवीयता का पुनरूद्धार, मूल्यों की खोज और अपनी नियति के स्वामी के रूप में मनुष्य की प्रतिष्ठा ही आधुनिक साहित्य का कर्त्तव्य है। लेकिन भारती के अनुसार, इस जीवनव्यापी विघटन के कारण साहित्यकार आज निरन्तर बढ़ती हुई भीड़ में अकेला अनुभव करता है और इसलिए या तो अपने सुरक्षा-कवच में वापस लौट रहा है या भीड़ में विलिन होता जाता है। इसी क्रम में आधुनिकता-बोध को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''आधुनिकता-बोध मानव नियति का साक्षात्कार, इसी संसार में इसी काल-प्रवाह में करना चाहता है। अपने परिवेश और समस्त परिस्थितियों को नितांत सत्य मानते हुए उसमें मूल्यों की खोज एवं सार्थकता की खोज करना चाहता है।''[28]

इस प्रकार भारती जी ने आधुनिकता और आधुनिक-बोध का सार्थक विश्लेषण किया है। परन्तु इस विश्लेषण में कुछ विसंगतियाँ रह गई हैं। मसलन्, आधुनिकता केवल संकट-बोध नहीं है और नहीं आधुनिकता उदय के लिए संकट पर आश्रित है।यह मान्यता मनुष्य और समाज का, उनकी नियति का कुंठित एवं अंधकारपूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करता है। आधुनिकता गतिशील और सृजनशील जीवन-दृष्टि है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। इसमें निरन्तरता का बोध निहित होता है। अत: आधुनिकता संकट-बोध से आगे बढ़कर मूल्यान्वेषण के विकल्प तक पहुँचती है। यह मूल्य-धनात्मक प्रक्रिया है। पुन: संकट को सार्वदेशिक मान लेना भी उचित नहीं प्रतीत होता। वास्तव में पश्चिम और पूर्व के संकट की प्रकृति में अंतर है। पश्चिम के संकट या मूल्य विघटन के पीछे दो महायुद्धों के साथ-साथ भौतिक समृद्धि का भी हाथ है। महायुद्धों के कारण जहाँ जीवन के प्रति अनास्था, अनिश्चय एवं अस्थिरता को जन्म दिया है वहीं भौतिक समृद्धि ने नैतिक और आध्यात्मिक पतन के साथ-साथ भौतिकता के प्रति मोहभंग एवं निरर्थकता को जन्म दिया है। इसके विपरीत भारत न तो महायुद्धों में शामिल हुआ और न ही भारत में कभी भौतिक समृद्धि आई। चीनी और पाकिस्तानी युद्धों से भारत के जीवन और समाज पर अनिश्चयता

एवं अनास्था के छाये नहीं पड़े। भारतीय संकट वास्तव में भौतिक अभाव से उपजा संकट है। आज खुली अर्थव्यवस्था के बावजूद देश का एक बड़ा हिस्सा अभाव, भूखमरी और बेकारी का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। यह अभाव ही निराशा, मोहभंग और अनास्था का कारण है। जिस मानव समाज की बाह्य सत्ता भौतिक अभावों से अभिशप्त है। उसकी आन्तरिकता उससे निरपेक्ष होकर कैसे सार्थक हो सकती है? इस संकट के लिए विज्ञान या यंत्रीकरण को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। वास्तव में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से प्रेरित यंत्रीकरण ही इस जीवनव्यापी विघटन के लिए उत्तरदायी है। भारती जी की यह मान्यता कि इस जीवनव्यापी विघटन के दबाव में साहित्यकार, भीड़ में अकेलापन महसूस करता है, संतोषजनक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि, ''उसमें कहीं-न-कहीं आधुनिक युग के विराट पाठक वर्ग के साथ साहित्यकार के संबंध और उनके प्रति दायित्व से बचने की प्रवृत्ति भी है। एक ओर तो आप मानव नियति की चिन्ता से व्यग्र है और दूसरी ओर मानव के मूर्तरूप और यथार्थ-स्वरूप को तिरस्कृत भी करना चाहते हैं।''[29] साहित्यकार के लिए आवश्यक तो यह है कि भीड़ का सदस्य रहते हुए भी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत रहे और भीड़ के प्रति अपने उत्तरादायित्वों का निर्वहन करें तभी वह भीड़ में भी अकेलेपन की ऊब से बच सकता है।

अज्ञेय 'आधुनिक साहित्य-बोध के मूलतत्व' में आधुनिकता का विश्लेषण आधुनिक संवेदन के रूप में करते हैं और इसका संबंध जैविक परिस्थिति से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक परिस्थिति से जोड़ते हैं। उसके अनुसार जीवन-दर्शन के बदलने के साथ ही संवेदना भी बदलती है। अत: कोई भी मूल्य आत्यान्तिक नहीं है। उनका मानना है कि सतह और गहराई की समस्या, कलाकार की आत्मचेतना के कारण अत्यधिक तीव्र हो जाती है और संवेदना विभाजित हो जाती है। ऐसी विभाजित संवेदना के सम्प्रेषण में साहित्यकार के समक्ष कठिनाई उत्पन्न होती है। लेकिन अज्ञेय की इस मान्यता में बुनियादी कमी है। वस्तुत: प्रत्येक मानवीय अस्तित्व की जैविक परिस्थिति होती है। अत: ऐसी कोई मानवीय

संवेदना नहीं, जिसका संबंध जैविक परिस्थिति से नहीं है। पुनः संवेदना का संबंध केवल जीवन-दर्शन से नहीं, बल्कि जीवन की परिस्थिति एवं पद्धति से भी होती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी परम्परा और आधुनिकता को परस्परपूरक मानते हुए कहते हैं कि ''खड़ा पैर परम्परा है और चलता पैर आधुनिकता।''[30] उनके अनुसार परम्परा एक गतिशील एवं जीवन्त प्रक्रिया है जो अपने परिवेश के संग्रह-त्याग की आवश्यकताओं के अनुरूप निरन्तर क्रियाशील रहती है। यह अतीत का पर्यायवाची नहीं है, बल्कि अतीत का परिमार्जित रूप ही परम्परा के रूप में प्राप्त होता है। वे आधुनिकता के तीन लक्षण मानते हैं।[31] पहला लक्षण है ऐतिहासिक दृष्टि। दूसरा, इसी दुनिया के मनुष्य को सब प्रकार की भीतियों और पराधीनता से मुक्त करके सुखी बनाने का आग्रह और तीसरा, व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव या सम्पूर्ण मानव समाज की कल्याण-कामना। आधुनिकता भी परम्परा की तरह गतिशील प्रक्रिया है। दोनों में अंतर यह है कि परम्परा यात्रा के बीच में पड़ा हुआ अंतिम चरण है जबकि आधुनिकता आगे बढ़ा हुआ गतिशील कदम। उनके अनुसार, ''मनुष्य ने अनुभवों द्वारा जिन महनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है, उन्हें नए संदर्भों में देखने की दृष्टि आधुनिकता है। परम्परा से हमें इन मूल्यों का वह रूप प्राप्त होता है जो अतीत के संदर्भों में बना था।''[32] अर्थात् परम्परा, आधुनिकता को आधार देती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्यत्व के अनुकूल ही आधुनिकता का सजग एवं संतुलित विवेचन किया है। जो निःसंदेह तत्कालीन चिन्तकों की धारणाओं से महत्वपूर्ण हैं। लेकिन आचार्य द्विवेदी इस तथ्य पर ध्यान नहीं देते हैं कि आधुनिकता, परम्परा से संयुक्त होते हुए भी उसकी मोहताज नहीं है। दूसरी बात यह है कि परम्परा से प्राप्त महनीय मूल्यों को नये संदर्भ में देखने की दृष्टि 'सुधारवादी' एवं 'पुनर्जागरणवादी' दृष्टि भी हो सकती है। जबकि आधुनिकता का एक क्रांतिधर्मी पहलू होता है जहाँ वह परम्परा के मूल्यों को त्याग कर क्रम को भंग कर देती है। इसी क्रांतिकारी पहलू के कारण आधुनिकता परम्परा की मोहताज नहीं है।

डा. राम स्वरूप चतुर्वेदी आधुनिकता को एक ऐसी मनोवृत्ति के रूप में देखते हैं जो स्थितियों में प्रतिफलित होती है। वे मानते है विकासशील संस्कृति के तत्वों के अनुरूप अपने-आपको परिष्कृत करते चलना ही आधुनिकता का प्रथम लक्षण है।''[33] उनके अनुसार प्रत्येक युग में आधुनिकता के सूचक-उपकरण भिन्न-भिन्न रहे हैं। वर्तमान संदर्भ में यह भविष्योन्मुख दृष्टि है। डा. चतुर्वेदी के अनुसार साहित्य में आधुनिक संवेदना के उपकरण है: क्षण का महत्व, सामान्य और अकिंचन क्षणों का उनकी सम्पूर्ण संगति में अंकन। दूसरा महत्वपूर्ण तत्व बौद्धिकता का है। उनके अनुसार, इस बौद्धिकता की प्रवृति ने नए साहित्य में एक रागात्मक तटस्थता को जन्म दिया है। वे आधुनिक संवेदना को रचना के स्तर पर उतारने का श्रेय अज्ञेय को देते हैं। लेकिन डा. चतुर्वेदी की इन मान्यताओं से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता है। पहली बात यह है कि आधुनिकता केवल मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह एक दृष्टि भी है जिसके द्वारा कोई वृत्ति संचालित होती है और इतिहास का समुचित उपयोग संभव है। यह पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि आधुनिकता केवल क्षण को महत्व नहीं देती, बल्कि यह क्षण-बोध के साथ-साथ निरन्तरता का भी बोध है। जहाँ तक अज्ञेय की रचनाओं में आधुनिक संवेदना के अभिव्यक्त होने का प्रश्न है तो यह कहा जा सकता है कि आधुनिक भाव-बोध को किसी एक रचनाकार पर आरोपित करने के अपने अलग खतरे हैं। वास्तविकता यह है कि अज्ञेय की रचनाएँ आधुनिक संवेदना के एकांगी या कुछ अंगों को ही अभिव्यक्त करती हैं, समग्र रूप को नहीं।

कुबेर नाथ राय आधुनिकता को एक दृष्टिक्रम, एक बोध-प्रक्रिया, एक संस्कार-प्रवाह तथा एक खास तरह का स्वभाव मानते है।[34] आधुनिकता (उन्नीसवीं सदी की) को समूह-सत्य से जुड़ा मानते हैं, परन्तु नई आधुनिकता (बीसवीं सदी की) को व्यक्ति-सत्यों पर केन्द्रित मानते हैं जिसका जन्म मूल्यों के प्रति मोहभंग से मानते हैं। वे ''संक्रांतिकालीन मिजाज (मूड) या प्रश्नगर्मी संक्रांति के प्रति सचेतनता को आधुनिकता कहते है।''[35] लेकिन यह परिभाषा आधुनिकता की सार्थक तस्वीर प्रस्तुत नहीं करती। यह प्रयास पूर्णत: बौद्धिक होने के कारण वायवीय हो जाने के लिए अभिशप्त है। जिन लक्षणों

के आधार पर पुरानी और नये आधुनिकता में विभाजन किया गया है, वह ऐतिहासिक प्रक्रिया का सरलीकरण है। प्रश्न यह है कि क्या मूल्यों के प्रति मोहभंग में नए मूल्यों की बेचैनी और टकराव की कोई भूमिका नहीं है? क्योंकि हम अक्सर इस तथ्य पर ध्यान नहीं देते कि हर दौर में संक्रान्तिकालीन मिजाज या प्रश्नगर्मी संक्रान्ति के प्रति सचेतता केवल मूल्यों के प्रति सम्पूर्ण मोहभंग तक ही नहीं रूकी है, उसने एक मूल्य-विकल्प भी ढूँढा है और पूराने मूल्यों से मोहभंग के बाद मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया से असम्पृक्त, संक्रान्तिकालीन मिजाज, सचेतनता, प्रश्नगर्मिता और संशयात्मकता का कोई महत्व नहीं। ये सभी आधुनिकता की प्रक्रिया है, स्वयं आधुनिकता नहीं। इसीप्रकार मूल्यहीनता या मोहभंग की प्रक्रिया को आधुनिकता नहीं कहा जा सकता है।

हिन्दी में आधुनिकता की संकल्पना पर व्यवस्थित रूप से विचार करने का श्रेय धनंजय वर्मा तथा रमेश कुंतल मेघ को जाता है। धनंजय वर्मा ने 'आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय' में आधुनिकता संबंधी पूर्वी और पश्चिमी धारणाओं का तटस्थ मूल्यांकन करते हुए अपनी आधुनिकता संबंधी धारणा प्रस्तुत की है। धनंजय वर्मा के अनुसार, ''आधुनिकता धारणा या प्रत्यय से अधिक व्यक्ति की वृत्ति और बोध या दृष्टि से ही सीधे संबद्ध है।''[36] वे स्टीफन स्पेण्डर के शब्द को दोहराते हुए आधुनिकता को 'विजन आव द होल' मानते हैं जो ''पूरे संस्कारों, वृत्तियों और सम्पूर्ण व्यक्तित्व या उसके परिवर्तन और रूपान्तरण से संबद्ध है।''[37] इसी आधार पर वे आधुनिकता को मानव-विकास की जटिल, संश्लिष्ट और गतिशील प्रक्रिया मानते हैं। वह निरन्तर नए होते चलने की गतिशीलता की चेतना और वर्तमानता का बोध भी है। इसीकारण ''बदलते परिवेश से सम्पृक्त व्यक्ति की नए अनुभवों और प्रयोगों के प्रति स्वस्थ दृष्टि उपजती है, नए उन्मेष और परिवर्तन जीवन के हर क्षेत्र में नए आयामों एवं प्रवृतियों को सामाजिक और जीवन संदर्भो में उनकी अनिवार्यता और सार्थकता की तलाश करता हुआ उन्हें उदार दृष्टि से देखता है।''[38] वे पुनः स्पष्ट करते हैं कि ''नए के प्रति एक तत्परता, उससे सम्पृक्त होकर, बौद्धिक प्रौढ़ता प्राप्त अन्तर्विवेकाश्रित प्रतिक्रिया करने का स्वभाव आधुनिक व्यक्ति की वृत्ति कही जायेगी।''[39]

इस प्रकार धनंजय वर्मा की परिभाषा में आधुनिकता के अनेक स्तर हैं। उनकी इस परिभाषा को हम परस्पर विरोधी तत्वों का समाहार मान सकते हैं। वे आधुनिकता को परिभाषित करने के क्रम में किसी एक तत्व को अतिरिक्त महत्व नहीं देते हैं। धनंजय वर्मा ने प्रारम्भ में ही आधुनिकता को 'विजन आव द होल' के रूप में देखा है। यदि अंतर्विवेक निजत्व की और बौद्धिक प्रौढ़ता वस्तुनिष्ठ स्थिति है तो कहना पड़ेगा कि इन दोनों स्थितियों के बिना न तो मनुष्य की वृत्ति में बदलाव सम्भव है और न ही नवीन के प्रति गतिशील चेतना सम्भव है। जब तक मनुष्य की वृत्ति में बदलाव और साथ ही परिवेश के प्रति सम्पृक्ति नहीं होती, तब तक व्यापक मानवीय संदर्भों के लिए आधुनिकता का कोई अर्थ नहीं है।

धनंजय वर्मा के विपरीत डा. रमेश कुंतल मेघ ने ''आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण'' में आधुनिकता पर विचार व्यष्टि के संदर्भ में न करके समष्टि के संदर्भ में करते हैं। मेघ के अनुसार, ''समग्र आधुनिकता तो सामाजिक व्यवस्था का दर्पण, संस्कृति का मूल्य चक्र, विभिन्न समूहों की चिंतन पद्धति तथा विभिन्न मनुष्यों की वृत्तियों का अमूर्त पैटर्न है। इसके अलावा वह आधुनिकीकरण से अनिवार्यतः संबद्ध है तथा व्यक्तियों या समूहों में उसका अपने-अपने ढ़ंग के 'आधुनिक बोधों' के द्वारा अनुकीर्तन होता है।'[40] यदि मेघ की आधुनिकता की इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि ऐसी कौन सी संकल्पना है जिसका संबंध समष्टि के विचार, दर्शन और इतिहास से नहीं है। यह अक्सर देखा गया है कि किसी देश-काल या समाज के सभी व्यक्ति वृत्ति एवं बोध के स्तर पर आधुनिक नहीं होते है। ऐसी स्थिति में उनकी सामूहिक वृत्तियों को आधुनिक कैसे कहा जा सकता है?

आधुनिकता पर विचार करने वाले अकादमिक विचारकों का प्रतिनिधित्व डा. नगेन्द्र करते हैं। डा. नगेन्द्र 'आधुनिक' शब्द का विभिन्न अर्थ करते हैं। वे पहला अर्थ समय-सापेक्ष मानते हैं। उनके अनुसार, ''आधुनिकता एक विशेष कालावधि का द्योतक है।'[41] इसलिए आधुनिकता का रूप प्रत्येक युग में बदलता रहता है। दूसरा अर्थ विचारपरक

है जिसके अनुसार ''आधुनिक एक विशेष दृष्टिकोण, मध्ययुगीन विचार-पद्धति से भिन्न एक नये जीवन-दर्शन का वाचक है।''[42] तृतीय अर्थ में, आधुनिकता एक विशिष्ट धारणा का वाचक है[43] जो व्यवहारिक जीवन-दृष्टि और विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संबंधित है। स्पष्टत: डा. नगेन्द्र की परिभाषा विसंगतियों से युक्त है। प्रथम एवं द्वितीय अर्थ में आधुनिकता को अतीत से पृथक और केवल नये का वाचक मान लिया गया है। जबकि अतीत में सबकुछ अनआधुनिक नहीं होता है और नए में सब कुछ आधुनिक नहीं होता। वास्तव में आधुनिकता समग्र इतिहास-संचरण और उसके बोध से युक्त होती है। तृतीय अर्थ में ही आधुनिकता सही अर्थों में परिभाषित होती है क्योंकि युगबोध तथा व्यवहारिक जीवन-दृष्टि के साथ-साथ विवेकयुक्त दृष्टिकोण विघटन, निराशा और अवसाद को आधुनिकता का तत्व मानने से प्रतिबंधित करता है।

संदर्भ स्रोत

1. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - ले. धनंजय वर्मा - पृ. सं. 207.
2. वहीं - पृ. सं. 194.
3. वहीं -पृ. सं. 190.
4. अवधारणाओं का संकट - ले. पूरन चन्द्र जोशी - पृ. सं. 63.
5. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - ले. धनंजय वर्मा - पृ. सं. 189.
6. आधुनिकता और भारत धर्म-धर्मयुग, 13 मार्च 1966 पृ. सं. 12.
7. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - ले. धनंजय वर्मा - पृ. सं. 206.
8. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण - ले. रमेश कुंतल मेघ - पृ. सं. 328.
9. नयी कविता के प्रतिमान- ले. लक्ष्मीकांत वर्मा - पृ. सं. 255.
10. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - ले. धनंजय वर्मा -पृ. सं. 193.
11. वहीं -पृ. सं. 186.
12. वहीं -पृ. सं. 197.
13. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - ले. रामस्वरूप चतुर्वेदी - पृ. सं. 36.
14. कामायनी-ले. जयशंकर प्रसाद, सं. 1998; पृ. सं. 16.
15. साहित्य का उदेश्य - ले. प्रेमचन्द - पृ. सं. 16.
16. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - ले. रामस्वरूप चतुर्वेदी - पृ. सं. 140.
17. आत्मनेपद, ले. अज्ञेय - पृ. सं. 23.
18. साहित्य और इतिहास दृष्टि - ले. मैनेजर पाण्डेय - पृ. सं. 223.
19. नयी कविता का आत्मसंघर्ष - ले. गजानन माधव मुक्तिबोध - पृ. सं. 40.
20. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - ले. रामस्वरूप चतुर्वेदी - पृ. सं. 211.
21. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय- ले. धनंजय वर्मा, पृ. सं. 210.
22. नई कविता के प्रतिमान - ले. लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ.सं. 193
23. नई कविता के प्रतिमान - ले. लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ.सं. 193
24. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय- ले. धनंजय वर्मा - पृ. सं. 225.
25. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 249.
26. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 188.
27. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 188.
28. पश्यन्ति - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 149.
29. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - ले. धनंजय वर्मा -पृ. सं. 226.

30. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-9, पृ. सं. 359.

31. वहीं, पृ. सं. 359-360.

32. वहीं, पृ. सं. 360.

33. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, ले. राम स्वरूप चतुर्वेदी पृ. सं. 170.

34. गंधमादन - ले. कुबेर नाथ राय पृ. सं. 259.

35. वहीं पृ. सं. 268.

36. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - ले. धनंजय वर्मा -पृ. सं. 80.

37. वहीं - पृ. सं. 80.

38. वहीं - पृ. सं. 81.

39. वहीं - पृ. सं. 81.

40. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण - ले. रमेश कुंतल मेघ- पृ. सं. 331.

41. नयी समीक्षा:नये संदर्भ डा. नगेन्द्र, पृ. सं. - 61.

42. वहीं पृ. सं. - 61.

43. वहीं पृ. सं. 62

तृतीय अध्याय

भारती का काव्य-कर्म और आधुनिक भाव-बोध

भारती का काव्य-कर्म और आधुनिक भाव-बोध

आजादी के बाद भारतीय जन-जीवन के सामाजिक ढाँचे में युगान्तकारी परिवर्तन हुए। देश में एक लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था की नींव डाली गई, जिसके तहत बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों की अभिव्यक्ति के अधिकार के साथ-साथ वयस्क मताधिकार के माध्यम से शासन में भागीदारी का अधिकार प्राप्त हुआ। जन सामान्य अपने चिर प्रतीक्षित स्वप्नों एवं आकांक्षाओं के पूरे होने की सम्भावना से रोमांचित हो उठा। वैज्ञानिक अनुसंधान और तकनीकी विकास के बल पर उद्योग सहित विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति के नये आयाम खुलने लगे। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश में आर्थिक समृद्धि का दौर चल पड़ा। लेकिन इन सकारात्मक परिवर्तनों के साथ-साथ नकारात्मक परिवर्तन हुए। स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले आदर्शवादी, कर्मठ और प्रतिबद्ध नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं को हाशिए पर कर दिया गया। सत्तालोलुप और स्वार्थी तत्व सत्तातंत्र पर काबिज होते गए। इससे एक ओर देश में सच्चे अर्थों में लोकतांत्रिक व्यवस्था का विकास संभव नहीं हुआ, वहीं दूसरी ओर इस व्यवस्था से लोगों का मोहभंग होने लगा। प्रशासनिक भ्रष्टाचार और राजनीतिक अक्षमता के कारण आर्थिक विकास की योजनाओं को पूरी प्रतिबद्धता से क्रियान्वित नहीं किया जा सका। फलतः न केवल बेरोजगारी बढ़ी बल्कि जन-सामान्य की आकांक्षाओं पर भी कुठाराघात हुआ। आर्थिक अवसरों की खोज में लोगों का गाँवों से शहरों की ओर पलायन शुरू हुआ। इसका प्रभाव गाँव और शहर के सामाजिक ढाँचे पर भी पड़ा। संयुक्त परिवार विघटन के शिकार हो गए। शहरों में जहाँ एक ओर भीड़ बढ़ी, वहीं गाँव से शहर आया व्यक्ति अपने को भीड़ में अकेला महसूस करने लगा। द्वितीय विश्व युद्ध और उसमें प्रयुक्त अणुबमों ने मानवता के अस्तित्व के समक्ष जो विश्वव्यापी संकट खड़ा किया, उसका प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर भी पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अणुशक्तियों के बीच शीत-युद्ध की परिस्थितियों ने मनुष्य की जीवन-पद्धति और विचारों में तनाव पैदा किया। समाज और संस्कृति में अधोमुखी प्रवृतियाँ गतिशील हो गई। विडम्बना यह हुई कि जिस मनुष्य ने

वैज्ञानिक विकास द्वारा सुख-समृद्धि का साधन जुटाया, विज्ञान की ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के समक्ष उसी का अस्तित्व संकट में पड़ गया। वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप जिस मशीनी सभ्यता और संस्कृति का उदय हुआ, उसके समक्ष मनुष्य बौना बन गया। यह निश्चित करना मुश्किल हो गया कि मनुष्य, मशीन को संचालित कर रहा है या मशीन, मनुष्य को संचालित कर रहा है। यांत्रिक संस्कृति से मनुष्य को समृद्धि तो प्राप्त नहीं हो सकी, उल्टे मानवीय संवेदनशीलता का क्षरण हो गया और सांस्कृतिक विकलांगता बढ़ती गई। तत्कालीन परिवेश में इतनी अबूझ जटिलता पैदा हुई कि मनुष्य अपने बाह्य जीवन में अजनबी और आन्तरिक जीवन में स्वयं को विस्थापित महसूस करने लगा। दूसरे शब्दों में, जिस आधुनिकता ने मानवीय मूल्यों और मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया, उसी ने मनुष्यता को आस्थाहीनता, विश्वासहीनता और आशाहीनता के कटघरे में ला खड़ा किया। ईश्वर की तो बात ही छोड़ दी जाय, मनुष्यता में भी अविश्वास पैदा हो गया। इस विषम स्थिति में प्रत्येक विश्वास, मूल्य, कर्मनिष्ठा, मुक्तिप्रयास एवं संघर्ष-चेतना, यहाँ तक कि आधुनिकता की अवधारणा के समक्ष संशयात्मक प्रश्नचिह्न लग गए। सम्पूर्ण मानव समुदाय निराशा और पराजय के भाव से ग्रस्त हो गया। इस स्थिति ने व्यक्ति की अनुभूतिशीलता और सर्जनात्मकता को झंझोड़ कर रख दिया।

तत्कालीन साहित्य इन सम-विषम परिस्थितियों का साक्षी रहा है। किसी भी युग का साहित्य समसामयिक परिवेश की गतिविधियों को अपने में समेटे रहता है। तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक और मानवीय मूल्यों के विघटन की अभिव्यक्ति इस दौर के साहित्य में हुई है। साथ ही मानव-जीवन के उच्चतर जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है। तमाम आस्थाहीनता और पतनशीलता के बावजूद तत्कालीन रचनाशीलता मानवीय संवेदना से अनुप्राणित है। डा. नगेन्द्र की टिप्पणी अत्यन्त सटीक है - ''अनास्था भी सर्जनात्मक बनकर जीवन की आस्था को ही पुष्ट करती है।''[1]

आधुनिक भाव-बोध के प्रवक्ता डा. धर्मवीर भारती आधुनिकता का संबंध जीवन में भोगी जाती वर्तमान जीवन की समस्याओं से जोड़ते हैं। इसी कारण वे द्वितीय विश्व

युद्ध और शीतयुद्ध की परिस्थितियों में मानवीय मूल्यों के विघटन से आतंकित नहीं दिखते हैं। वे इसे एक संकट मानते हैं, जो सर्वव्यापक तो है, परन्तु सर्वकालीक नहीं। धर्मवीर भारती यह स्वीकार करते हैं कि 'द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मनुष्य की अंतरात्मा ध्वस्त हो गई है, उसका विवेक लुप्त हो गया है और मानवीय गौरव का क्षरण हो गया है। चारों तरफ जीवित अंधे और द्रष्टा मुर्दे एक साथ पड़े हुए हैं। मनुष्य का हृदय लुप्त हो गया है, जिसकी अभिव्यक्ति अस्तित्ववादी विचारधारा में तूफान में ध्वस्त जहाज के प्रतीक से हुआ है।'[2] इन्हीं ध्वस्त मानवीय मूल्यों के आधार पर भारती के काव्य-संसार में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा, नवीन मानवीय और सामाजिक मूल्यों की खोज हुई है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारती जी का आग्रह है कि आधुनिकता का अर्थ केवल विघटन और विवशता का चित्र देना मात्र न होकर अनास्था और पीड़ा से गुजरकर आस्था की खोज करना है। चाहे रोमानी भाव-बोध की संवेदना से युक्त 'ठंडा लोहा' और 'सात गीत वर्ष' हो या व्यक्ति की सत्ता को नकारने वाले इतिहास की निरर्थकता बयान करने वाली 'कनुप्रिया' हो या आधुनिक मूल्यों के संकट को व्यंजित करने वाला 'अंधायुग' हो, सभी में आस्थाहीनता और पतनशीलता की अभिव्यक्ति के बावजूद मानव और समाज के प्रति एक नयी आस्था और नये आत्मविश्वास को वाणी दी गई है। इस आस्था और आत्मविश्वास का निर्माण तत्कालीन विघटनशील सामाजिक और मानवीय परिस्थितियों की आधार-भूमि पर ही हुआ है। 'सात गीत वर्ष' की भूमिका में भारती जी ने आस्था, आत्मविश्वास, विवेक पूर्णता और नवीन मानवीय मूल्यों के निर्माण की आकांक्षा की ओर संकेत किया है। - ''अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक संसार, क्षण और निरवधि काल के बीच अंधेरी राह पर कहीं एक भूमि है जहाँ शून्य को पराजित कर हम रचते हैं स्थायित्व देने के लिए और सार्थकता पाने के लिए।''[3] अंधेरे के यात्रा-पड़ावों से गुजरते हुए ज्योति तक पहुँचने की दृष्टि ही भारती जी के लिए आस्था और नवीन मानवीय मूल्यों के निर्माण की दृष्टि है।

(क) ठंडा लोहा और जीवन की विराटता के बीच खड़े होने की कोशिश

यद्यपि भारती जी के काव्य-कर्म की शुरूआत 'तारसप्तक' (1943) से पहले हो चुकी थी, परन्तु 'ठंडा लोहा' सन् 1952 में प्रकाशित उनका पहला काव्य-संग्रह है। इसमें सन् 1946 से 1952 के बीच लिखी हुई रचनाओं का संकलन है। इस समय भारती जी उम्र के उस पड़ाव पर थे जब उन्हें किशोर मन की भावुकता, प्रणयाकांक्षा, रूपासक्ति और विरहवेदना स्वाभाविक रूप से आकर्षित करती थी। इसके साथ ही उनमें लोक संवेदना, राष्ट्रीय चेतना, मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक विरासत के प्रति लगाव और दुर्दमनीय शक्तियों से मुकाबला करने की भावना का बीजारोपण हो रहा था। इसीलिए 'ठंडा लोहा' की कविताएँ किसी विशेष प्रवृति का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं, बल्कि विभिन्न भावभूमियों और मनःस्थितियों में संक्रमण करते हुए लिखी हुई कविताएँ है जिनमें हृदय-सत्य की निर्द्वन्द्व अभिव्यक्तियाँ है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ भावुक किशोर मन की प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति होने का कारण रोमैंटिक भाव-बोध से युक्त हैं। लेकिन यह प्रणयानुभूति किसी भावुक यूटोपिया लोक की अनुभूति नहीं है, बल्कि वास्तविक जीवन से जुड़ी अनुभूति है। इसलिए यह अनुभूति जीवन के संघर्ष, दुख-दर्द और आशा-निराशा से जुड़ी हुई है। किसी भी कविता का महत्व तभी है जब उसमें अनुभूति की प्रामाणिकता हो, जीवन के संश्लिष्ट अनुभवों का गहरा साक्षात्कार हो। 'ठंडा लोहा' की रोमैंटिक भाव-बोध से युक्त कविताएँ इस कसौटी पर पूर्णरूपेण भले खरी नहीं उतरती हो, परन्तु व्यापक मानवीय अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में अत्यन्त सफल हुई हैं।

इस संग्रह की एक मुख्य विशेषता यह है कि भारती जी की ईमानदारी और साहस के कारण इनमें प्रणयानुभूति का सीधा और निर्द्वन्द्व साक्षात्कार है। इसमें छायावादी कविताओं की तरह लुकाव-छिपाव नहीं है। भारती जी अपनी प्रणयानुभूतियों के ऊपर कोई नैतिक या दार्शनिक आवरण डालकर उसके उदात्तीकरण का प्रयास नहीं करते। वे प्रणय संबंधों के अन्तर्गत स्त्री-पुरूष के शारीरिक आकर्षण को प्राकृतिक और स्वस्थ प्रवृत्ति

मानते हैं। इसलिए वे प्रणय के वासनामय होने के बावजूद अपराध-भाव से ग्रस्त नहीं होते हैं, बल्कि वे इस प्रणय प्रेरित वासना को जिन्दगी की वास्तविकता का प्रतिमान मानते हैं:-

''धड़कते वक्ष पर मेरा अगर व्यक्तित्व खो जाए
न हो यह वासना तो जिन्दगी की माप कैसे हो?
किसी के रूप का सम्मान मुझ पर पाप कैसे हो?''[14]

तात्पर्य यह है कि भारती जी की रोमांटिकता जीवन की वास्तविकता से जुड़ी हुई है। वे रोमांटिकता और प्रेम के मामले में एक बनी बनाई लीक का अनुसरण नहीं करते। उनका रोमांटिक प्रेम सतत एक नयी भावना और एक नये विचार के साथ विचरण कर रहा होता है। उनकी रोमांटिक अनुभूतियों से स्पष्ट है कि प्रेम का विषय कभी पुराना नहीं पड़ता। उनकी प्रेम-भावना में जीवन के प्रति आस्थावादी दृष्टिकोण है। कुण्ठाजन्य प्रेम की अभिव्यक्ति के बावजूद जीवन के प्रति निराशा का भाव पैदा नहीं होता ।

''मेरी कल्पना मजबूर
मेरी मंजिलें भी दूर
किन्तु फिर भी चल रहा हूँ मैं
कि कोई और मेरे साथ
नीली झील की
गहराइयों से बात करता चल रहा है।''[15]

परन्तु जहाँ तक आधुनिक भाव-बोध का प्रश्न है, वह रोमानी भाव-बोध के कारण बाधित हुआ है। आधुनिक भाव-बोध के प्रश्नों को उठाने में नितांत वैयक्तिक रागवाली रचनाएँ सफल नहीं होती। 'ठंडा लोहा' की 'तुम्हारे चरण', 'प्रार्थना की कड़ी', 'उदास तुम', 'डोले की गीत', 'फागुन की शाम', बादलों की पाँत', 'बेला महका', फिरोजी होंठ', 'गुनाह का गीत', 'कच्ची साँसों का इसरार' और 'मुग्धा' आदि कविताएँ रोमानी भाव-बोध की हैं जिनमें वैयक्तिक रोमांटिक प्रणय की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। ये कविताएँ आधुनिक भाव-बोध की दृष्टि से सफल भले न हो, परन्तु जीवन और समाज के यथार्थ

चित्रों की छायाएँ अवश्य विद्यमान हैं। इन कविताओं में परिवेशजन्य परिस्थितियों का दर्शन किया जा सकता है। रोमांटिक भाव-प्रवणता के बावजूद सर्द पड़ते प्रेम-संबंधों की झलक दिखाई देती है। रोमांटिक भावुकता के भीतर प्रेमजन्य कुण्ठा की भी अभिव्यक्ति हुई है। प्रिया की अस्वीकृति और संसर्गाभाव से कवि-मन कुण्ठित हो गया है। 'ठंडा लोहा' एक प्रकार से प्रेम-संबंधों के या मानव-संबंधों के ठंडे पड़ जाने का प्रतीक है। मानवीय प्रेम संबंधों के ठंडे पड़ जाने के कारण तनावों और द्वन्द्वों में जीता हुआ आदमी ठंडा लोहा बन गया है। परिस्थितिजन्य दबावों या यथार्थ जीवन से टकराहट के कारण ही व्यक्ति और समाज के 'स्वप्न भरी पलकों', 'गीत भरे होठों' और 'दर्द भरी आत्मा' पर न तो अब स्वप्न है, न गीत और नहीं दर्द है। व्यक्ति के सपनों, आँसू और प्यार से भी बड़ा बन गया है 'ठंड़ा लोहा'। यह ठंडापन व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सहज संबंधों, रागात्मक लगावों और विश्वासों को बेरहमी से कुचलता जा रहा है :-

''मेरे और तुम्हारे सारे भोले निश्छल विश्वासों को
आज कुचलने कौन खड़ा?
ठंडा लोहा।'' [6]

इस प्रकार भारती का भावाकुल मन, निर्द्वन्द्व प्रणय वाला मिजाज, धीरे-धीरे मिलन, विरह, वेदना और समर्पण जैसी विविध भाव-भूमियों को पार करता हुआ युगीन संघर्षो, मानसिक प्रत्याघातों और दुख-दर्दो की ओर अग्रसर होता है तथा उस विराट जीवन-सत्य के अनुसंधान में संलग्न होता है जो व्यक्ति-अस्मिता और व्यक्ति-गौरव में सहायक है। 'ठंड़ा लोहा' की भूमिका में भारती जी की यह स्वीकृति है कि ''किशोरावस्था के प्रणय, रूपासक्ति और आकुल निराशा से एक आत्मसमर्पणमयी वैष्णवभावना और उसके माध्यम से अपने मन के अहम् का शमन कर अपने से बाहर की व्यापक सचाई को हृदयंगम करते हुए संकीर्णताओं और कट्टरता से ऊपर एक जनवादी भावभूमि की खोज-मेरी छंद यात्रा के यहीं प्रमुख मोड़ रहे हैं।''[7] इस स्वीकृति से स्पष्ट है कि रचनाकार को यथार्थ-बोध है। इस यथार्थ-बोध के बिना न तो 'अपने से बाहर की व्यापक सचाई को

हृदयंगम' किया जा सकता है और न ही 'जनवादी भावभूमि की खोज' की बात सोची जा सकती है। 'ठंड़ा लोहा' संग्रह की 39 में से 9 कविताएँ ऐसी हैं जो नितांत वैयक्तिक रोमांटिकता के दायरे को तोड़ती है और निजी आंतरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति के स्थान पर 'अपने से बाहर की व्यापक सचाई को हृदयंगम' करने का प्रयास करती है। कवि यह महसूस करता है कि जीवन में केवल रोमांटिक प्रणय, अतृप्त इच्छाएँ और दमित कामनाएँ ही सबकुछ नहीं है। ''यथार्थ की इस साक्षात्कार में प्रेम की समस्त कल्पनाशील रंगीनी, उसकी कोमलता, सरलता और अकुलाहट सब तिरोहित हो जाते हैं''[8] :-

''यह आत्मा की पावनता, मन की ऊँचाई
ये रेशम के सपने
अनजान गुफाओं में खो जाते हैं'' [9]

अर्थात, ''भारती की रोमैंटिक प्रेम की कोमल कल्पना यथार्थ से, जीवन के कठोर और निर्भय यथार्थ से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती है।''[10] रोमैंटिक प्रणयाकांक्षा और भावावेश का व्यावहारिक जीवन की सच्चाई से अन्तर्विरोध प्रकट होता है। यह अन्तर्विरोध ही रचनाकार को आधुनिक भाव-बोध के निकट ले आता हैं। वासना के विष को अमृत मानने वाला रचनाकर यह स्वीकार करता है :-

''जीवन है कुछ इतना विराट, इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सब का महत्व'' [11]

इस प्रकार जीवन की विराटता को स्वीकार कर कवि जीवन-संघर्षों का साक्षी बनता है। 'ठंडा लोहा' के अतिरिक्त 'थके हुए कलाकार से', 'कवि और अनजान पगध्वनियाँ', 'फूल मोमबतियाँ और सपने' और 'कविता की मौत' में जीवन की विराटता और विविधमयता का साक्षात्कार करता है। 'कवि और अनजान पगध्वनियाँ' में कवि यह स्वीकार करता है कि वह नितांत वैयक्तिक रोमांटिकता के सीमित दायरे में घुटता रहा है। उसकी सर्जनात्मकता जीवन का सत्य खोजने के मार्ग से भटक गई है।

''अब यह मेरा खोखला हृदय

धीरे-धीरे भूल रहा

मैं कभी सत्य के चरणों का प्यासा था

अपनी कुण्ठाओं की / दीवारों में बन्दी

मैं घुटता हूँ।'' [12]

लेकिन अब वह कुण्ठा की दीवारों को तोड़ता है। प्रिय के फिरोजी होठ, जाफरानी तन, चम्पई वक्ष और मंजुल बाहों के प्रति उसका आकर्षण कम हो जाता है। वह व्यापक जीवन संघर्षो का साक्षात्कार करता है। कवि की दृष्टि व्यापक हो जाती है। वह फूल, मोमबतियाँ, टूटे हुए सपने, कामकाज की व्यस्तता, दफ्तरों की फाइलों के बीच उचटे हुए जीवन और भत्ता-वेतन को सच मानता है या उनके बीच जीते हुए जीवन का साक्षात्कार करता है :-

''यह फूल, मोमबतियाँ और टूटे सपने

ये पागल क्षण,

यह कामकाज, दफ्तर-फाइल, उचटा सा जी/भत्ता-वेतन

ये सब सच है'' [13]

इस कठोर यथार्थ के साक्षात्कार के बाद कवि को लगता है कि जीवन में जो संघर्ष है, दुख है, गहरा उतरता दर्द है, बेचैनी है वह केवल एक व्यक्ति का नहीं है, बल्कि संपूर्ण मानव समुदाय इससे अभिशप्त है। इस प्रकार युग सत्य चाहे जितना ही कड़वा है, रचनाकार उसे कहने का साहस करता है:-

''यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सब का है

सब ने पाया है प्यार, सभी ने खोया है

सबका जीवन है भार, और सब जीते है''[14]

जीवन में सुख-दुख की व्यापक स्वीकृति ही एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़ती है और मानवता में दृढ़ आस्था प्रकट करती है। इस प्रकार यह दुख-दर्द, बेचैनी, शुभ-अशुभ, निराशा, अनास्था आदि जीवन का सत्य अवश्य है परन्तु रचनाकार का

विश्वास है कि ये चीजें अंतिम नहीं हैं। भारती जी की दृष्टि में आधुनिक भाव-बोध का अर्थ मात्र जीवन का दुख-दर्द, विकृति और निराशा का बोध मात्र नहीं है, बल्कि मानव की मुक्ति तथा मानव-आत्मा के मुक्त विकास के लिए संघर्ष भी आधुनिक भाव-बोध का महत्वपूर्ण पहलू है। इसीलिए भारती जी यह मानते हैं कि इस दुख-दर्द, अशुभ और निराशा से परिपूर्ण जीवन से पलायन करने की जरूरत नहीं है, बल्कि जीवन-संघर्ष में गहरे उतरने की जरूरत है। जीवन-संघर्ष से ही आशा की ऐसी रोशनी मिल सकती है 'जिसके मंजुल प्रकाश में सब के अर्थ नये खुलने लगते हैं।'[15] जीवन के ये नवीन अर्थ एक जैसे जीवन संगीत का सृजन करते हैं जिसमें जीवन-संघर्ष के समस्त शुभ-अशुभ तत्व एक ही मीठी लय में बँध जाते हैं:

''सब में संगीत जगा देती अपने-अपने
गूँथ जाते है ये सभी एक मीठी लय में।''[16]

कवि का विश्वास है कि इस नवीन जीवन-संगीत में बँधने के बाद गहरा उतरता दर्द और घनी होती निराशा ही एक ऐसे नव जीवन का संचार करेगी जिससे मानवीय व्यक्तित्व तथा मूल्य का नव-निर्माण संभव हो सकेगा।

''यह दर्द विराट जिन्दगी में होगा परिणत
है तुम्हें निराशा फिर तुम पाओगे ताकत।''[17]

दर्द के विराट जिन्दगी में परिणत होने तथा निराशा से ताकत प्राप्त करने का विचार भारती जी के आधुनिक भाव-बोध का महत्वपूर्ण अंग है। इसीलिए वे कहते है कि ''हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो।''[18]

'कविता की मौत' और 'थके हुए कलाकर से' में भी कवि की यही दृष्टि है-विघटन, विध्वंस और निराशा के माध्यम से जीवन-निर्माण करने वाले मूल्यों तक पहुँचना। तत्कालीन परिवेश में मानवीय मूल्यों के विघटन से उत्पन्न गंभीर संकट के बावजूद भारती जी आदमी के सृजन की ताकत में आस्था प्रकट करते हैं। वास्तव में आदमी के सृजन की ताकत भूख, हिंसा, आंतक और गरीबी, इन सारी मानव प्रतिरोधी

शक्तियों से अधिक ताकतवर है। यहीं पर, वे आधुनिक भाव-बोध संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्न करते हैं कि 'कौन कहता है कि कविता मर गई' जबकि

''अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है

हो चुकी है हैवानियत की इन्तेहां

आदमीयत का मगर आगाज बाकी है''[19]

कविता के मर जाने का अर्थ है मानव निर्मित मूल्यों का ध्वस्त हो जाना, मानवीय सृजनात्मकता का समाप्त हो जाना, जिससे मानवीय अस्मिता गंभीर संकट में आ पड़ी है। परन्तु कवि को अपनी 'आखिरी आवाज' पर विश्वास है जो नयी कविता, नये मूल्य या नयी मानवीय संहिता का निर्माण कर सकती है। इस 'आखिरी आवाज' पर आस्था और इसकी सृजन-क्षमता पर कवि का आत्मविश्वास उसके आधुनिक भाव-बोध संबंधी चिंतन का मुख्य पड़ाव है। कविता की इस 'आखिरी आवाज' में इतनी प्रचण्ड ताकत है कि वह इंसानियत का नया इतिहास रच सकती है। इसीलिए कवि 'थके हुए कलाकार से' कविता की सृजनात्मक क्षमता में आस्था रखने के लिए प्रेरित करता है।

इस प्रकार 'ठंड़ा लोहा' की कविताओं का मूल स्वर रोमैटिक भाव-बोध से युक्त है। परन्तु यथार्थ अनुभूति उन्हें जीवनगत संघर्षों के बीच खड़ा कर देती है। यद्यपि रोमैंटिक भाव-बोध के कारण भारती की काव्य-चेतना में जीवन की व्यापकता और गहराई का अभाव है, परन्तु सामाजिक और मानवीय सरोकारों की ओर कवि की काव्य-चेतना का झुकाव क्रमशः होता गया हैं। वह सामाजिक सरोकारों को व्यापक फलक पर चित्रित करने का प्रयास करता है। व्यक्ति, समाज, साहित्य और राजनीति उसके सामाजिक सरोकारों के अंतर्गत प्रवेश पाते जाते हैं। इस प्रकार रोमानी भाव-बोध के बावजूद भारती जी का आधुनिक भाव-बोध तत्कालीन सरोकारों के अनुकूल रूपाकार ग्रहण करता जाता है।

(ख) सात गीत वर्ष और रोमैंटिक प्रेम की निरर्थकता का एहसास

सन् 1952 में प्रकाशित पहले काव्य-संग्रह के सात वर्ष बाद 1959 में 'सात गीत वर्ष' प्रकाशित हुआ। इसमें पिछले सात वर्षों में लिखी गयी 51 कविताओं का संकलन है। ये सात वर्ष नयी कविता आंदोलन के चरमोत्कर्ष के काल हैं। पहले काव्य-संग्रह में रोमैंटिक भाव-बोध से जीवन की विराटता, जनवादी भावभूमि और आधुनिक जीवन-संघर्षों की जटिलता की ओर अग्रसर होते हुए 'अंधायुग' जैसी रचना करने के बावजूद 'सात गीत वर्ष' में उनका रोमैंटिक भाव-बोध बना हुआ है। 'ठंडा लोहा' की कविताओं की तरह ही इस संग्रह की रचनाओं में भी वैयक्तिक प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। लेकिन अब रोमैंटिक भाव-बोध की यथार्थ की कठोर परिस्थितियों से टकराहट होती है। इस टकराहट से न केवल 'ठंडा लोहा' का मादक, उद्दाम प्रणयाकांक्षा, उन्मुक्त मांसल प्रेम का उल्लास जीवन की वास्तविकता में पिघल गया है बल्कि रचनाकार का यथार्थ-बोध और अधिक परिपक्व हो गया है।

'सात गीत वर्ष' की भूमिका में भारती जी की स्वीकृति है कि ''अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक संसार, क्षण और निरवधि काल के बीच अंधेरी राह पर कहीं एक भूमि है, जहाँ शून्य को पराजित कर हम रचते हैं स्थायित्व देने के लिए और सार्थकता पाने के लिए।''[20] अर्थात् चरम निजी अनुभूति और व्यापक संसार के बीच की अंधेरी राह पर रचना की भूमि की तलाश में भारती जी क्रमशः वैयक्तिक से सार्वजनीन होते गए हैं। यहीं कारण है कि वे युगव्यापी यथार्थ-बोध से होते हुए नवीन मानवीय मूल्यों की ओर उन्मुख होते हैं। डा. रघुवंश ने 'सात गीत वर्ष' के संबंध में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि धर्मवीर भारती ने ''व्यक्ति-स्वतंत्रता, रचनाशीलता, इतिहास और आस्था-अनास्था जैसे मानवीय मूल्यों के बारे में अपने युग के संदर्भ में ऊहापोह किया है।''[21]

'ठंडा लोहा' की कविताओं की तरह रोमांटिक भावावेश 'सात गीत वर्ष' की कविताओं में बना हुआ है। परन्तु अब जीवनगत विवशताओं और प्रत्याघातों के कारण

रोमैंटिकता में कवि का मन चैन नहीं पाता है। उसका ध्यान जीवन के यथार्थ संघर्ष की ओर चला जाता है और वह निराशा, मोहभंग, उदासीनता और आत्मनिर्वासन का अनुभव करता है। निष्फल प्रेम की व्यथा भरी स्मृतियाँ भी उदासी को गहराने में सहयोग करती हैं। रोमैंटिक प्रेम की निरर्थकता से वह अवगत हो चुका है। यह निरर्थकता प्राकृतिक परिवेश की निस्तब्धता से मिलकर समस्त वातावरण को एक रहस्यमयी उदासी से युक्त कर देती है। प्रकृति की रंगीन छवियाँ उसके लिए सहज आकर्षण का विषय न रहकर कभी कवि के थके और उबे मन की सहारा बन गई हैं तो कभी उसे निर्वासन का एहसास कराती हैं। 'फाल्गुन के दिन की एक अनुभूति' में कवि आत्मनिर्वासन का अनुभव करता है। प्रेमोल्लास के जादुई आकर्षण के लुप्त हो जाने के बाद 'घाटी के बादल' में कवि अपने 'मैं' को अकेला और भटकाव की स्थिति में पाता है। कभी-कभी लगता है कि अकेलेपन या इससे उत्पन्न दर्द को दूर करने की अपेक्षा अथवा उससे दूर होने की असमर्थता को जानकर ही कवि निराशा या पीड़ा की मनःस्थितियों को भोगना चाहता है। वह यथार्थ-बोध एवं समष्टि चेतना के कारण सामाजिक विद्रूपता, मूल्यगत विघटन, परिवारिक विघटन, राजनीतिक जीवन में अधिकार लोलुपता एवं स्वार्थ लिप्सा का साक्षात्कार करता है। वह गहरे अंतर्विरोध का जीवन या दुविधाग्रस्त जीवन जीने लगता है। एक ओर वैयक्तिक सुख-दुख की अनुभूति तथा दूसरी ओर वैयक्तिक सीमाओं को तोड़कर सामाजिक जीवन को गति देने के संकल्प के बीच गहरा मंथन चलता है। उसके इस अनिर्णयात्मक स्थिति या मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति 'जिज्ञासा' में हुई है। इस अंतर्द्वन्द्व के कारण ही उसके मन में संशय बना हुआ है कि सामाजिक जीवन को दिशा देने वाले ''मेरे ये तीखे एकाकी स्वर/गूँजेंगे या स्व में खो जायेंगें।''[22] इस संशय के कारण कवि अवसाद से भर जाता है। 'संश्यात्मा विनश्यति' के तर्ज पर चलते हुए वह कभी 'पराजित पीढ़ी' का गीत गाने लगता है तो कभी चौखटों पर क्रॉस सा लटका महसूस करता है। उसे लगता है कि मूल्यों के संघर्ष में कहीं-न-कहीं अविश्वास, झूठ और फरेब का कीड़ा दुबका बैठा है। मानवीय मूल्यों के नाम पर भ्रम और संशय का जो वातावरण निर्मित हुआ है, उससे मूल्य, आडम्बर अधिक सिद्ध हुआ है। इसलिए कवि महसूस करता है कि 'हम

सबके दमन पर दाग' हैं, 'हम सबकी आत्मा में झूठ' है और 'हम उसके माथे पर शर्म' है। मानवीय मूल्यों, जिसमें मानवीय अस्मिता और गौरव की बात निहित है, के नाम पर भ्रम, संशय या अविश्वास का वातावरण एक बड़ा प्रश्नचिह्न है।

यहीं पर भारती जी आधुनिक भाव-बोध संबंधी एक महत्वपूर्ण मूल्य का परीक्षण करते हैं। वह मूल्य है मानवीय स्वाधीनता का मूल्य। स्वतंत्रता मनुष्य का स्वरूप धर्म है। अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार व्यक्ति-स्वातंत्र्य ही सारे मूल्यों का उत्स है। अस्तित्ववाद के अनुसार अस्तित्व उसी का है जो स्वतंत्रता की चेतना के साथ जीवन जी रहा है। इस दृष्टि से केवल मनुष्य ही अस्तित्ववान है। परन्तु भारती जी यह अनुभव करते हैं कि आधुनिक परिवेश में सबसे अधिक किसी मूल्य को चुनौती दी गई है तो वह है व्यक्ति-स्वातंत्र्य का मूल्य। चाहे कोई भी सामाजिक व्यवस्था या सत्तातंत्र हो, चाहे वह सामंतवादी, पूँजीवादी, लोकतांत्रिक और साम्यवादी तंत्र हो, सभी किसी-न-किसी रूप में मानवीय स्वतंत्रता और इस प्रकार मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा अवश्य पैदा करते हैं। ये खतरे आधुनिक, माने जाने वाले तथा मानवीय गरिमा की अगुवाई का दंभ भरने वाले सत्ता-तंत्रों के विरूद्ध एक प्रश्नचिह्न है। शासन व्यवस्था चाहे कोई भी हो, सत्ताधारी यदि 'गुलाम बनाने वाले' हैं तो वे मनुष्य की स्वाधीनता को कैद करने के लिए जंजीरें ही लाते हैं:-

''घोड़ों पर रखकर या थैली में भरकर।
या रोटी से ढँककर या फिल्मों में रंग कर
वे जंजीरें, केवल जंजीरें ही लाए हैं''[23]

ये जंजीरें मूर्त रूप में लोहे की जंजीरें मात्र नहीं है, बल्कि मानसिक जंजीरें भी है जो व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना को गुलाम बनाती हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को गुलाम बनाने की मनोवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आया है, भले गुलाम बनाने की विधि नयी हो गयी है। भारती जी व्यक्ति-स्वातंत्र्य, व्यक्ति की आंतरिकता और स्वाभिमान को ऐसे मूल्य मानते हैं जो मनुष्य को पशु-स्तर से ऊपर उठाते हैं। किसी भी सत्तातंत्र या विकास की मर्यादा या वैधता तभी तक संभव है जबकि वह व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना और उसकी

आंतरिकता को सुरक्षित रखने का प्रयास करती है। इसलिए प्रलोभन का सहारा लेकर व्यक्ति की आंतरिकता और स्वाभिमान को खरीदने की प्रवृति रखने वालों को चुनौती देते हैं:

''कह दो उनसे/जो खरीदने आए हैं तुम्हें
हर भूखा आदमी बिकाऊ नहीं होता।''[24]

मनुष्य की आंतरिकता पर यह संकट मानवीय संस्कृति का सबसे बड़ा संकट है, जो मनुष्य की स्वतंत्र-चेतना, उसके विवेक और नैसर्गिक क्षमता को कुंठित कर देती है। मध्यकालीन क्रांतिकारी कवि कबीर के यहाँ भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानवीय विवेक की उपेक्षा करने वाली सामाजिक व्यवस्था का विरोध देखा जा सकता है। आधुनिक काल में यह संकट और गहरा गया है। इस संकट की पहचान कर भारती जी ने अपने कबीरधर्मी व्यक्तित्व का परिचय दिया है। स्वातंत्र्य-चेतना के कुंठित होने से मनुष्य किस प्रकार विवश और लाचार महसूस करता है, 'वाणभट्ट' कविता में देखा जा सकता है, जहाँ वाण की समस्त नैसर्गिक सृजनात्मक क्षमता राजा हर्षवर्द्धन द्वारा प्रदान किए गए अधिकार और ऐशो-आराम की गुलाम बन गई है। उसकी विवशता इन स्वरों में प्रकट होती है।

''हाय वाणभट्ट! हाय
तुमको भी, तुमको भी, आखिर यही होना था।''[25]

इसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी अर्जुन, 'वृहन्नला' के रूप में युद्ध क्षेत्र और कर्म क्षेत्र से दूर पराये (राजा विराट के) अंत:पुर में चाटुकार विद्वानों, मूर्ख-महिषियों और अशिक्षित विदूषकों से घिरा हुआ 'नृपति विराट का विश्वस्त दास' के रूप में भयाक्रांत जीवन जी रहा है। भय का कारण यह है कि कहीं उसका अज्ञातवास न भंग हो जाए और उसकी आजीविका न छीन जाय। वास्तव में कवि ने आधुनिक सत्ता-तंत्र के साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक चरित्र का उद्‌घाटन किया है, जिसमें पौरुष और ओजस्विता से युक्त व्यक्ति मात्र आजीविका के छीन जाने के भय से 'कुत्सित नपुंसक मुद्राओं में ढला हुआ' वृहन्नला दिखाई देता है। वह युद्ध क्षेत्र में लड़ने के लिए नहीं जाता है बल्कि ''रक्त सने

बेबस, दम तोड़ते शवों के/गहरे कपड़े लूटने के लिए''[26] जाता है। यह आधुनिक सत्ता-तंत्र के समक्ष एक गंभीर प्रश्नचिह्न है।

धर्मवीर भारती की 'प्रमथ्यु गाथा' कविता व्यक्ति-स्वातंत्र्य, व्यक्ति का दायित्व एवं विवेक जैसे मानवीय मूल्यों की महत्ता को स्थापित करती है। यहाँ भारती जी अस्तित्ववादी दर्शन के सूत्र का उपयोग करते हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिक सार्त्र के अनुसार, ''मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से ही आत्म निर्माण करता है, वह जो कुछ बनता है वह उसके स्वतंत्र निर्णय का ही परिणाम है।''[27] तात्पर्य यह है कि परिस्थितियों और प्रभावों को ध्यान में रखने के बावजूद व्यक्ति की समस्त योजनाएँ उसके स्वतंत्र निर्णय के अनुसार ही संचालित होती है। 'प्रमथ्यु गाथा' का प्रमथ्यु धरती को अंधेरे से मुक्त करने के लिए स्वर्ग से अग्नि लाने का जो साहसपूर्ण और दुष्कर कार्य करता है, वह उसका स्वतंत्र निर्णय है। भले ही उस स्वतंत्र एवं दायित्वपूर्ण निर्णय के कारण उसे आपार पीड़ा भोगनी पड़ती है। पीड़ा-भोग की यह स्वीकृति एक व्यक्ति की विवेकपूर्ण स्वीकृति है। मानव-जीवन में आलोक फैलाने का स्वतंत्र निर्णय लेकर मानवीय मूल्यों की रक्षा का यह प्रयत्न निश्चय ही मानवीयता में आस्था का प्रतीक है। यहीं पर, भारती जी आधुनिक भाव-बोध की दृष्टि से एक विडम्बनात्मक यथार्थ का भी उद्‌घाटन करते हैं। जिस जनसाधारण के जीवन में आलोक फैलाने के लिए प्रमथ्यु ने अदम्य साहस के साथ दारूण पीड़ा भोगी थी, वह तमाशबीन होकर प्रमथ्यु की मर्मान्तक पीड़ा को देखती रही। दासता के अभ्यस्त होने के कारण जनसाधारण विद्रोह कर पाने में असमर्थ था। जनसाधारण तो अपनी कायरता और निर्लज्जता से ही चिपटा हुआ है:

''अग्नि नहीं थी जब
तब हमने नहीं कहा कि जाओ अग्नि ले आओ
और जब अग्नि आयी
हमने नहीं कहा कि अग्नि नहीं लेंगे हम''[28]

यही कारण है कि जो अग्नि द्युपितर के महलों में दासता और घुटन की शिकार थी, वह भी जनसाधारण की विवेक शून्य स्वार्थपरता से ग्रस्त है। उसका वक्तव्य जनसाधारण की कृतघ्नता पर एक तीखा व्यंग्य है:

''मुझसे ये सुबह-शाम चूल्हा सुलगाएँगें

शय्या गरमाएँगे

सोना गलायेंगे[29]

मानव-अस्तित्व, मानवीय अस्मिता और संस्कृति की रक्षा के लिए दिखाए गए साहस, बलिदान और भोगी गई पीड़ा के लिए इससे बढ़कर क्या त्रासदी हो सकती है। इस त्रासदी को दिखाकर भारती जी ने जनसाधारण की क्रांतिकारिता एवं संघर्षशीलता के ऊपर प्रश्नचिह्न खड़ा किया है।

जनता की संघर्ष क्षमता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करने की भारती जी की दृष्टि कुछ प्रगतिशील आलोचकों को मध्यवर्गीय पूर्वग्रह लग सकती है। परन्तु सचाई यह है कि स्वाधीनता आंदोलन में त्याग और संघर्ष का आदर्श प्रस्तुत करने वाले नेता हाशिए पर कर दिए गए थे और सत्तालोलुप एवं अकर्मण्य नेताओं ने ऐसे सत्ता-तंत्र की नींव डाली थी जिसमें जनसाधारण यांत्रिक बनकर अपनी क्रांतिकारी क्षमता खो बैठा था।

लेकिन प्रमथ्यु के प्रयास, इस धरा को मंगल ज्योति प्रदान कर अंधेरे से निकालने के प्रयास की विडम्बनापूर्ण परिणति से भारती जी निराश नहीं। उनकी समष्टि चेतना में यह विश्वास बना हुआ है कि प्रमथ्यु का साहस और त्याग निष्फल नहीं कहा जा सकता है। उसे विश्वास है कि प्रत्येक साधारण जन के भीतर एक प्रमथ्यु सोया हुआ है, जिसे अभी तक साहस दिखाने का मौका नहीं मिला है। इसीलिए प्रमथ्यु जनसाधारण की समस्त कृतघ्नता, निष्क्रियता और उदासीनता के बावजूद वह स्वीकार करता है:

''कोई दिन ऐसा होगा

जब मेरे पीड़ा सिक्त स्वर

उसके मन को बेध मुर्च्छित प्रमथ्यु को जगाएँगें

उस दिन/अकेला मैं रहूँगा नहीं

सबके हृदयों में मैं जागूँगा/मैं-प्रमथ्यु[30]

इस प्रकार जनसाधारण की विवेक शून्य निष्क्रियता और स्वार्थवादिता के बावजूद भारती जी की समष्टि चेतना सतर्क है। समष्टि के प्रति उनकी प्रतिबद्धता में कोई कमी नहीं आई है उनकी समष्टि चेतना सारी निराशा और विवशता के बावजूद भविष्य के प्रति आशा का संबल प्रदान करती हैं:

''दूर कहीं लोग अभी जीवित है, यात्राएँ करते हैं, मंजिल है उनकी''[31]

लेकिन भारती जी का समष्टिवाद, मार्क्सवादी, समष्टिवाद की तरह नहीं है, बल्कि उनकी समष्टि चेतना में व्यक्ति-स्वातंत्र्य जैसे मानवीय मूल्यों की गरिमा का पूरा ध्यान रखा गया है।

ऐसा नहीं है कि आज का मनुष्य अपने परिवेश के प्रति संवेदनशील नहीं है। उसे अपने परिवेश एवं युग का इतना तीव्र बोध है कि वह स्वातंत्र्य-चेतना और मानव-अस्तित्व के विरोधी प्रत्येक व्यवस्था और विचार को अस्वीकार कर देता है। वह भले ही हाशिए पर कर दिया गया हो, तुच्छ हो, बौना हो परन्तु अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए समूह से अलग दिखने के लिए प्रयत्नशील है। अंधी सामूहिकता उसे स्वीकार नहीं। इसीलिए भारती का 'टूटा पहिया' रथ के लिए अनुपयोगी और उपेक्षित हो जाने के बावजूद मानवीय मूल्यों के लिए संघर्ष करने का और इतिहास की गति को गतिशील बनाने का साहस रखता है। उसे एहसास है कि ''क्या जाने कब/इस दुरूह चक्रव्यूह में अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ/कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय।''[32] अब यह टूटा पहिया ही उस निहत्थे अभिमन्यु के हाथों पड़कर महारथियों के अन्यायी आक्रमण से लोहा ले सकता है। तात्पर्य यह है कि 'टूटा पहिया' सामान्य और उपेक्षित मानव की उस शक्ति का प्रतीक है जो मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए संघर्ष कर सकता है। उसे अपनी निज की चेतना का इतना गहन बोध है कि वह इतिहास की अंधी सामूहिकता तथा विडम्बनापूर्ण अराजक स्थितियों के बरक्स सत्य की पुनर्प्रतिष्ठा करते हुए मानवीय इतिहास की गति को गतिशील

बनाने का साहस रखता है। इस प्रकार बौना बन चुका मनुष्य अपने बौनेपन के बावजूद अपने तीन पगों से इस धरती को नाप लेने का साहस रखता है। भारती जी ने ऐसे बौने एवं उपेक्षित व्यक्तियों को नियतिवादी और विवशताओं का दास नहीं रहने दिया है। उन्हें साहस और हिम्मत भी प्रदान किया है:

''मैं बौनों में बौना ही बनकर रहता हूँ
हारो मत, साहस मत छोड़ो
इससे भी अथाह शून्य में
बौने ने ही तीन पगों में धरती नापी।''[33]

इस प्रकार व्यक्ति की अस्मिता और आंतरिकता को महनीय मानव मूल्य के रूप में स्थापित करते हुए भारती जी एक साथ मार्क्स और फ्रायड जैसे आधुनिक चिंतकों को प्रश्नों के कटघरे में खड़ा कर देते हैं। मार्क्स ने भौतिक विकास पर बल देकर मनुष्य की इच्छाओं, भावनाओं और रागात्मक लगावों को अनदेखा कर दिया था, मानव मूल्यों के निर्माण में मनुष्य की आंतरिकता को कोई महत्व नहीं दिया था। फ्रायड भी मनुष्य को दमित वासनाओं का दास बताकर उसे विवेक शून्य पशु की कोटि में ला देता है। भारती का 'टूटा पहिया' तीन पगों से धरती नापने वाला बौना,' 'प्रमथ्यु' और 'भूखा आदमी' इन दोनों ही चिंतनधाराओं के समक्ष गंभीर प्रश्नचिह्न है। मनुष्य की आंतरिकता की रक्षा का प्रश्न अस्तित्ववादी चिंतन से प्रभावित होते हुए भी जनोन्मुखी है। यह जनोन्मुखी चिंतन ही मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करता है। इससे स्पष्ट है कि भारती जी का चिंतन आधुनिकता के नकारात्मक पतनोन्मुख और फैशनपरस्त रूप की अपेक्षा सकारात्मक, रचनात्मक और मानवता के सहायक रूप के प्रति प्रतिबद्ध है। उनकी दृष्टि में, आधुनिकता अगर आज के परिवेश में विघटित होते हुए मानव मूल्यों एवं संकट ग्रस्त मानव नियति को जीवन की आस्था नहीं दे पाती है, तो त्याज्य है।

(ग) कनुप्रिया और 'राग-संबंधों की वैचारिक पृष्ठभूमि'

'कनुप्रिया' भारती जी की काव्यात्मक प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। यह सन् 1959 में प्रकाशित हुई थी। इसमें इतिहास और परम्परा को वर्तमान के संदर्भ में मूल्यांकित करते हुए जीवन के अनेक प्रश्नों का समाधान खोजने का प्रयत्न किया गया है। 'कनुप्रिया' का कथानक राधा-कृष्ण की सहज प्रेम-भावना को नये आयामों एवं नये संदर्भों में प्रतिपादित करते हुए तत्कालीन सामाजिक संबंधों को उद्घाटित करता है। इसी प्रक्रिया में आधुनिक भाव-बोध के प्रश्नों का मूल्यांकन करने का प्रयास निहित है। इस काव्य का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-भावना जैसे विषय को कथानक के रूप में लेने के बावजूद भारती जी रोमानी भाव-बोध के साये से मुक्त दिखाई देते हैं। प्रभाकर श्रोत्रिय के अनुसार, ''भारती जी की मार्मिक परीक्षण स्थली 'कनुप्रिया' है जिसका प्रेम इतना विस्फोटक है कि अधकचरी रूमानियत और ओढ़े हुए आदर्श की चिन्दी-चिन्दी उड़ा देता है, लेकिन प्रेम का ऐसा मधुर स्रोत भी खोल देता है, जिससे विचार की, औदात्य की और गाम्भीर्य की स्रोतस्विनी बहकर दिक्काल के ओर-छोर मिला देती है, अपने समय को हमारे समय से जोड़ देती है।''[34] इसीलिए 'कनुप्रिया' में ऐसे सहज प्रेम की अभिव्यक्ति है जो खोखले और विघटनशील मूल्यों को नकारता है।

'कनुप्रिया' में राधा-कृष्ण का प्रेम परम्परागत प्रेम-प्रद्धति से अलग सर्वथा नवीन है। इसीलिए वह आधुनिक भाव-बोध के अनुकूल पड़ता है। 'कनु' का तात्पर्य कृष्ण से है और 'प्रिया' का अभिप्राय है प्रेमिका या सहचरी। इस प्रकार 'कनुप्रिया' का अर्थ है कृष्णप्रिया अर्थात् राधा। भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से ही राधा-कृष्ण काव्य की नायिका के रूप में स्वीकृत रही है। संस्कृत कवि जयदेव, चण्डीदास और तदन्तर हिन्दी कवियों में विद्यापति, सूरदास, नन्ददास, बिहारी, देव, हरिऔध, गुप्त आदि कवियों की कृतियों में विविध रूपों में उनका उल्लेख है। सभी के यहाँ राधा और कृष्ण का पौराणिक चरित्र बना हुआ है। परन्तु भारती पुराणकार नहीं है। उन्होंने अत्यन्त सतर्कता से

इतिहास, पुराण और आधुनिक जीवन-दृष्टि में पार्थक्य बनाए रखा है। भारती की राधा पौराणिक पात्र होते हुए भी आधुनिक संवेदना वाली नारी है।

'कनुप्रिया' में भारती ने राधा-कृष्ण के जिस प्रेम-कथा को आधार बनाया है, उसे पाँच खण्डों-पूर्वराग, मंजरी-परिणय, सृष्टि-संकल्प, इतिहास और समापन'-में प्रस्तुत किया है। 'पूर्वराग', 'मंजरी-परिणय' और 'सृष्टि संकल्प' में भारती जी ने मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से राधा और कृष्ण के प्रेम की अनन्यता, बंधन की अटूटता और परस्परपूरकता की व्याख्या की है। राधा का कृष्ण से प्रेम माखन-चोरी करते कृष्ण के मुख-सौंदर्य के दर्शन से नहीं हुआ है बल्कि जीवन के कटु-मधु अनुभवों के बीच होता और परिपक्वता को प्राप्त होता है। राधा और कृष्ण की परस्परपूरकता को सृष्टिव्यापी प्रसार में रखते हुए भारती जी ने उसे पुरुष और प्रकृति के समन्वय के रूप में देखा है और यह स्पष्ट किया है कि राधा को जहाँ पूर्णता की प्राप्ति हेतु कृष्ण की अपेक्षा है, वहीं राधा के बिना कृष्ण का जीवन अधूरा और असंतुलित है। इस प्रेम भावना के माध्यम से आधुनिक युग में स्त्री-पुरुष के सनातन संबंधों का मूल्यांकन करने के साथ ही आधुनिक नारी के आत्मबोध को भी प्रस्तुत किया गया है। 'इतिहास खण्ड' में भारती जी ने राधा-कृष्ण प्रेम के विविध स्तरीय रूप को इतिहास की कसौटी पर परखने का प्रयत्न किया है। 'कनुप्रिया' की इसी विशिष्टता को लक्षित करते हुए अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि 'कनुप्रिया' में राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम 'केवल पुरानी बात को नये मुहावरे में ढालने का प्रयत्न नहीं'[35] है। अत: आधुनिक भाव-बोध की दृष्टि से यह सबसे महत्वपूर्ण खण्ड है।

धर्मवीर भारती आधुनिक भाव-बोध के प्रति सजग रचनाकार है वे मानव-जीवन के कुछ मूल्यों, प्रश्नों एवं तात्कालीन जीवन में उभरी समस्याओं से टकराते हैं और नवीन मूल्य संदर्भो के सृजन की ओर अग्रसर होते हैं। यह काम वे 'अंधायुग' और 'कनुप्रिया' दोनों में करते हैं। परन्तु जहाँ 'अंधायुग' में युद्ध विभीषिका से ग्रस्त मानव समाज को आधार बनाते हैं, कनुप्रिया में प्रेम संबंधों के परिप्रेक्ष्य में उन प्रश्नों एवं समस्याओं का मूल्यांकन करते हैं। 'अंधायुग' के विपरीत 'कनुप्रिया' में रागात्मक संबंधों को आधार बनाया

गया है। इसलिए अज्ञेय के अनुसार 'कनुप्रिया' की दृष्टि अधिक मानवीय है।[36] 'कनुप्रिया' में इस दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है कि मानव जीवन की मूल समस्याओं एवं विसंगतियों का समाधान कोरे बौद्धिक विश्लेषण, कोरे ऐतिहासिक चिंतन और विज्ञान या तर्क के आधार पर नहीं हो सकता है, बल्कि मानवता की समस्याओं का निराकरण सहज मानवीय एवं रागात्मक संबंधों के स्तर पर ही किया जा सकता है। 'कनुप्रिया' में भारती ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या मानवीय मूल्यों के सृजन या विमर्श में इतिहास की दुर्दान्त शक्तियों की प्रक्रिया महत्वपूर्ण है या व्यक्ति की आंतरिक तन्मयता का क्षण। भारती ने 'कनुप्रिया' की भूमिका में स्वीकार किया है कि बाहर की घटनाओं अर्थात् इतिहास की प्रक्रिया का उतना महत्व नहीं है बल्कि व्यक्ति के अन्दर 'चरम तन्मयता का क्षण' सारे 'बाह्य इतिहास की प्रक्रिया' से ज्यादा मूल्यवान है।[37] इस स्वीकृति के परिप्रेक्ष्य में ही ''भारती ने इतिहास की प्रक्रिया और व्यक्ति की आंतरिक तन्मयता के मूल्यों की आधुनिक व्याख्या करना चाहा।''[38] उनकी स्थापना है कि इतिहास की दुर्दात शक्तियों के भीषण थपेड़ों के बीच, उन थपेड़ों की मार सहता हुआ व्यक्ति एक सीपी की भांति अपने भीतर 'मुक्ता' अर्थात् जीवन सत्य छिपाए रहता है। 'कनुप्रिया' के माध्यम से कवि ने चरम तन्मयता के क्षणों में प्राप्त किए गए इसी सत्य की सार्थकता की व्याख्या की है।

भारती जी ने 'कनुप्रिया' को एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है जो इतिहास प्रर्वतक कृष्ण के साहचर्य में चरम तन्मयता के क्षणों में जीवन सत्य प्राप्त करती हैं उनका मानना है इन जीवन सत्यों को स्वीकार किए बिना इतिहास की घटनाएँ, दूसरे शब्दों में जीवन की बाह्य घटनाएँ मानवीय मूल्य-विमर्श को सार्थकता प्रदान करने में असमर्थ रही हैं। यहाँ तक कि इतिहास प्रवर्तक कृष्ण भी सर्व समर्थ होने के बावजूद इतिहास को सार्थकता नहीं दे पाते हैं। इसका कारण यह है कि वे राधा के साहचर्य में बीते चरम तन्मयता के क्षणों की अनदेखी करते हैं। कनुप्रिया यह महसूस करती है कि चरम तन्मयता के क्षण में डुबे बिना निर्मित कोई भी इतिहास निरर्थक है। वह पूरे विश्वास

के साथ कृष्ण से पूछती है कि यदि उसकी चरम तन्मयता के क्षण का कोई महत्व नहीं है तो अकल्पनीय अमानुषिक घटनाओं से युक्त इतिहास किस अर्थ में सार्थक है:

''मैं यह स्वीकार कर लूँ
कि मेरे सारे तन्मयता के गहरे क्षण
सिर्फ भावावेश थे/सुकोमल कल्पनाएँ थी
तो सार्थक फिर क्या है कनु?''[39]

आधुनिक भाव-बोध की चेतना से युक्त कनुप्रिया का इतिहास की शक्तियों के समक्ष एक सार्थक प्रश्न है। व्यक्ति की आंतरिकता को ठोकर मारने के कारण ही इतिहास की शक्तियाँ अंधी दिखाई पड़ती है और मूल्य-विमर्श की प्रक्रिया में इतिहास निरर्थक हो जाता है। आधुनिक मशीनीकरण की सभ्यता ने निर्वैयक्तिकरण की एक ऐसी अमानवीय प्रक्रिया को जन्म दिया है जिसे व्यक्ति नहीं चाहते हुए भी भोग रहा है। निर्वैयक्तिकता की यह प्रक्रिया व्यक्ति की आंतरिक चेतना को ठोकर मारती है। यहीं कारण है कि इतिहास की वर्तमान गति मूल्य-विघटन के लिए अभिशप्त है। इतिहास प्रवर्त्तक कृष्ण द्वारा कनुप्रिया के 'सहज तन्मयता के क्षणों' को महत्व नहीं दिए जाने के कारण ही इतिहास वैसाखियों पर चलता हुआ अपाहिज दिखाई देता है। अर्थात् इतिहास की सामूहिकता व्यक्ति-चेतना से हीन होने के कारण निर्जीव हो गई है। इस निर्जीव और अंधेपन से ग्रस्त इतिहास के समक्ष युद्ध संचालक कृष्ण भी अशक्त दिखाई पड़ते हैं। वे मानवीय मूल्यों को सार्थकता प्रदान नहीं कर पाते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की आंतरिक चेतना को झुठलाने के कारण ही इतिहास की शक्तियों का मूल्य-विमर्श की प्रक्रिया में कोई महत्व नहीं रह जाता है। चेतना सम्पन्न व्यक्तियों के माध्यम से ही सार्थक इतिहास अस्तित्व में आता है।

'कनुप्रिया' में भारती जी ने इतिहास के इस विडम्बनात्मक सत्य का उद्‌घाटन किया है कि मूल्य-विमर्श की समस्त प्रक्रिया पुरुषवादी वर्चस्व पर आधारित है। 'कनुप्रिया' की निजी अनुभूति इतिहास की मूल्य-विमर्श की प्रक्रिया के समक्ष एक प्रश्नचिह्न है। वह

इतिहास प्रवर्तक कृष्ण से पूछती है कि समर्पण की चरम परिणति के बावजूद अपनी सृजन-संगिनी को इतिहास की मुख्य धारा से क्यों नहीं जोड़ पाये:

''सुनो मेरे प्यार, प्रगाढ़ के क्षणों में अपनी अंतरंग
सखी को तुमने बाँहों में गूँथा
पर उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गए प्रभु?''[40]

यह प्रश्न कनुप्रिया को पूर्ववर्ती राधा से विलक्षण बनाता है। यह 'कनुप्रिया' की आधुनिक नारी का आधुनिक भारतीय पुरुष से एक प्रश्न है, जिसका उत्तर पुरुषवादी समाज के पास नहीं हैं 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इतिहास के समस्त बाह्य विराट् व्यापार में पुरुष ने अपनी ही अन्दर के नारीत्व की गर्हणीय उपेक्षा की बात की है।[41] यहीं कारण है कि इतिहास प्रवर्तक कृष्ण, कनुप्रिया के प्रश्न का उत्तर दे पाने में असमर्थ हैं।

कनुप्रिया को पीड़ा यह है कि लीलापूर्ण जीवन में चरम समर्पण के वावजूद कृष्ण ने कर्मक्षेत्र में उतरने के बाद उसे सहयोगी नहीं बनाया। वह अत्यन्त व्यथा से पूछती है:

''बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता
तुम्हारे इतिहास का''[42]

यहाँ भारती कनुप्रिया के माध्यम से एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं। क्या कर्ममय जीवन रागात्मक संवेदन से रहित होता है? क्या नारीत्व की गरिमा पुरुष को चरम समर्पण प्रदान करने या भोग की वस्तु बनने तक ही सीमित है? भारती के ये प्रश्न आधुनिकता का दावा करने वाले समाज के समक्ष एक गंभीर चुनौती है। लीला क्षेत्र में चरम समर्पण करने वाली कनुप्रिया की 'भावाकुल तन्मयता' को अनदेखी कर कृष्ण कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो कर्मक्षेत्र में लिए गए समस्त निर्णय और किए गए समस्त कार्य झूठे सिद्ध होते हैं। उनके द्वारा लिए गए तथाकथित विवेकपूर्ण निर्णय इतिहास की अंधी सामूहिकता के प्रवाह के अंग बन जाते हैं। कृष्ण के लीला क्षेत्र और कर्मक्षेत्र में एक अलंघ्य अंतराल पैदा हो जाता है, संतुलन स्थापित नहीं हो पाता है। कृष्ण इस अंतराल को पार करने के लिए

कनुप्रिया के समर्पण को मात्र एक सेतु के रूप में इस्तेमाल करते हैं। अपनी अस्मिता के प्रति सतर्क कनुप्रिया, कृष्ण से पूछती है:

''सुनो कनु सुनो
क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिए
लीला भूमि और युद्ध क्षेत्र के अलंघ्य अंतराल में'[43]

यह प्रश्न उस पुरुषवादी मानसिकता से है जो जीवन के संघर्षों में नारी को मात्र प्रेमोभोग का साधन-मात्र मानता है। यहीं कारण है कि आधुनिक मानव रागात्मक सहज संस्पर्शों से रहित होने के कारण मानसिक रूप से विकलांग और अमानुषिक होने के लिए अभिशप्त है।

कनुप्रिया की चेतना आधुनिक नारी की चेतना है। वह सहज जीवन जीने की आकांक्षी है। उसमें रागात्मक गहराई के साथ-साथ अस्मिता की पहचान की चेतना है। इसीलिए वह कृष्ण के साहचर्य में चरम तन्यमता के क्षणों में अनुभूत किए गए सत्य के प्रति प्रतिबद्ध है। इसका यह सत्य इतिहास के अंध प्रवाह का अंग नहीं है। युद्ध संचालक एवं इतिहास प्रवर्त्तक कृष्ण के महान बन जाने के बावजूद राधा का अपने अनुभूत सत्य पर विश्वास बना रहता है। इस स्वानुभूत सत्य की प्रामाणिकता के बल पर ही वह इतिहास के अन्य असंगत सत्यों को अस्वीकार कर देती है:

''पर इस सार्थकता को मुझे
कैसे समझाओगे कनु?
शब्द, शब्द, शब्द ...
मेरे लिए सब अर्थहीन है।'[44]

इसीलिए 'कनुप्रिया' की राधा का व्यक्तित्व, इतिहास की कुत्सित और मृत घटनाओं एवं मूल्यों का अनुचर नहीं बनता, बल्कि उन्हें झुठलाने का प्रयत्न करता है। राधा, स्वानुभूत जीवन सत्य को, जिसे उसने जीया है, जिससे उसका व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, इतिहास की सामूहिक गति को समर्पित कर व्यक्तित्वहीन नहीं बनना चाहती है। इतिहास

के अंध प्रवाह के बरक्स व्यक्तित्व-बोध की सतर्कता, भारती जी के आधुनिकतावादी चिंतन का परिणाम है।

'कनुप्रिया' में व्यक्तित्व-बोध, अस्मिता-बोध एवं स्वातंत्र्य-बोध के लिए तत्कालीन परिवेश उपयुक्त वातावरण प्रदान करता है। तत्कालीन परिवेश में मूल्यगत संकट सबसे अधिक हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्धोतर विभीषिका ने विश्व व्यापी स्तर पर मूल्यगत विघटन को न केवल बढ़ावा दिया है बल्कि संपूर्ण संस्कृति के समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया। इस विषम स्थिति में सदियों से संचित मूल्य, विश्वास, कर्मनिष्ठा और संघर्ष-चेतना के आगे संशयात्मक प्रश्नचिह्न लग गए। भारती जी ने 'समुद्र स्वप्न खण्ड' में इस विभीषिका का महाभारतकालीन संग्राम की विभीषिका के परिप्रेक्ष्य के मूल्यांकन किया है। इस मूल्यांकन का आधार बौद्धिक विश्लेषण नहीं है। इस मूल्यांकन का आधार है-कनुप्रिया की चरमतन्मयता के क्षण में प्राप्त रागात्मक अनुभूति। तात्पर्य यह है कि भारती जी ने यह मूल्यांकन भाव के स्तर से किया है। इसके लिए उन्होंने भाव और बुद्धि के स्तर को आमने-सामने रखा है। व्यक्ति और मानव समाज के जीवन को जर्जर करने वाली तथा उसके अस्तित्व के समक्ष संकट पैदा करने वाली युद्ध की प्रासंगिकता को एक ओर चरम तन्मयता के क्षण के आधार पर परखते है तो दूसरी ओर पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म एवं न्याय-दण्ड के पक्ष से। 'कनुप्रिया' इन दोनों पक्षों को उठाती है और कृष्ण से जानना चाहती है कि इनमें से सत्य कौन है? युद्ध की सार्थकता के संबंध में यह प्रश्न आधुनिक भाव बोध से संपन्न रचनाकार ही लगा सकता है। युद्ध संचालक कृष्ण भले ही अर्जुन को युद्ध की आवश्यकता को समझाने में सफल रहे हो, परन्तु कनुप्रिया चरम तन्मयता के क्षणों प्राप्त अनुभूति के आधार पर युद्ध के मूल पर ही आघात करती है:

''मैं नहीं जानती युद्ध कौन सा है
और मैं किसके पक्ष में हूँ
और समस्या क्या है
और लडाई किस बात की है'[45]

कृष्ण के पास इसका उत्तर नहीं है, क्योंकि एक तो कृष्ण ने युद्ध की वेदी पर सर्वस्व समर्पण से युक्त राधा के प्रेम को बलि दे दी है। कुरुक्षेत्र के संग्राम में स्वयं कृष्ण की भूमिका संशय के घेरे में है। जिस आम्रकुंज की छाया में राधा ने चरम तन्मयता के क्षणों में कृष्ण से प्रेम किया था, उसकी डालियाँ महाभारत युद्ध में जाने वाले कृष्ण के सैनिकों के मार्ग में पड़ने के कारण काट डाली जाएगी। छायादार अशोक वृक्ष को खण्ड-खण्ड कर दिया जाएगा। इसका एकमात्र कारण वह युद्धोन्माद है जिसके अंधप्रवाह में कृष्ण भी युद्ध संचालक बन बैठे हैं। उनकी संवेदनशीलता इस कदर नष्ट हो जाती है कि वे राधा के प्रणय समर्पण को ठोकर मार जाते हैं। परिणामस्वरूप 'मामेकं शरणं व्रज' कहने वाले राधा के कृष्ण एक खलनायक की तरह नजर आते हैं। वे युद्ध की प्रासंगिकता के संबंध में स्वतंत्र निर्णय लेने में असमर्थ रहते हैं। यहीं नहीं, युद्ध में युधिष्ठिर का पक्ष लेने के पीछे स्वतंत्र चेतना से युक्त विवेकपूर्ण निर्णय नहीं लेते हैं। उनका यह कहना कि ''वे मेरे पैताने बैठे थे'' जुए में पासे की तरह फेंका हुआ निर्णय था:

''जो मेरे पैताने हैं, वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने हैं, वह अधर्म''[46]

कवि का मन्तव्य है कि कृष्ण का यह निर्णय कहीं भी विवेक-अविवेक की कसौटी पर खरा नहीं उतरना, क्योंकि यह निर्णय एक महान व्यक्ति की आत्मचेतस या निजी अनुभूति की गरिमा से शून्य था। पांडव और कौरव के पक्ष-विपक्ष ग्रहण का निर्णय द्विधाग्रस्त निर्णय था, स्वेच्छा से लिया गया निर्णय नहीं था। कृष्ण का निर्णय इतिहास के अंधप्रवाह में विवशतावश लिया गया निर्णय था। युद्धोपरान्त निराशाजनक स्थिति में उनकी यह विवशता खुलकर सामने आती है। वे अत्यंत विवशतापूर्ण दृष्टि से शून्य में देखते हुए कहते हैं:

''यदि कहीं उस दिन मेरे पैताने दुर्योधन होता''[47]

युद्ध भूमि में अर्जुन को युद्ध की सार्थकता बताने के लिए वे जिस कर्म, स्वधर्म, निर्णय और दायित्व का उपदेश देते हैं, उससे अर्जुन भले प्रेरित हुआ हो, परन्तु वे अनुभूति शून्य होने के कारण कनुप्रिया के लिए अर्थहीन ही थे।

''कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व

शब्द, शब्द, शब्द ....

मेरे लिए नितान्त अर्थहीन है''[48]

अर्थात् रागात्मक संवेदना तथा चेतनापूर्ण निर्णय से युक्त नहीं होने के कारण वे उपदेश व्यापक मानवता के लिए अर्थहीन है। इस प्रकार भारती जी इतिहास की दुर्दान्त शक्तियों के समक्ष निजी अनुभूति या स्वअस्तित्व की चेतना रहित व्यक्ति की असमर्थता स्पष्ट कर देते हैं। इतिहास की सामूहिक गति के बरक्स स्वअस्तित्व की चेतना का प्रश्न उठाकर भारती जी ने युगीन परिस्थितियों के दबाव में व्यक्तित्व के विघटन जैसी समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसके कारण व्यक्ति, अस्तित्व से विच्छिन्न होकर अपने को युग प्रवाह में बहने के लिए छोड़ देता है। वास्तव में स्वअस्तित्व की चेतना ही समस्त मूल्यों का उत्स है। अतः स्वअस्तित्व की चेतना के अभाव की समस्या, मूल्य के नष्ट होने की समस्या और कृष्ण की समस्या परस्पर जुड़ी हुई समस्या है। इस मूल्य के अभाव में लिया गया कोई भी निर्णय और किया गया कोई भी कार्य बेमानी सिद्ध होता है। यहाँ तक स्वधर्म, न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य आदि की व्याख्या भी संभव नहीं होती। इस प्रकार भारती ने आधुनिक सभ्यता के पैशाचिक स्वरूप के भीतर आदमी की विवशता एवं पुरूषार्थहीनता का उद्‌घाटन किया है।

भारती जी ने कनुप्रिया के माध्यम से स्वअस्तित्व की चेतना और निजी अनुभूति के प्रति आग्रह को काफी सफलता से स्थापित किया है। परन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि उनका यह आग्रह अतिशयता की स्थिति तक पहुँचा दिखाई देता है। कनुप्रिया निजता के बोध एवं अपनी रागात्मक अनुभूतियों के प्रति इतना आग्रही है कि इतिहास की शक्तियों के समक्ष या वर्तमान के जटिल यथार्थ के समक्ष उसके अन्तर्विरोध

उद्घाटित हो जाते हैं। वह अपने अतीत के स्वप्नमयी तन्मयता वाले क्षणों में जीना चाहती है। इसलिए उसका झुकाव कृष्ण के लीलामय रूप की ओर है, युद्ध संचालक वाले रूप की ओर नहीं। बाह्य जीवन की समस्त घटनाओं को वह स्व के केन्द्र में परखती है। वह कृष्ण के अस्तित्व को भी स्व की दृष्टि से देखती है। यह नितांत वैयक्तिकतावादी दृष्टि है युद्ध की प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता को परखे बिना कनुप्रिया द्वारा उस पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करना उसकी जड़ दृष्टि का प्रमाण है। वह लगातार अतीत के रोमानी स्वप्न की ओर लौटती है क्योंकि वहाँ उसे निजता की पहचान मिलती है। निजता का यह बोध उसे हास्यास्पद बना देता है। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या कनुप्रिया की समस्त संवेदनशीलता चरम तन्मयता के क्षणों तक ही सीमित है? क्या उसकी संवेदनशीलता इतिहास में गूँथ जाने के लिए सक्रिय नहीं होती? उसकी सक्रियता इतिहास को त्याग कर लौटे कृष्ण को मात्र रोमानी संस्पर्श देने का सीमित है। स्पष्ट है कि चरम तन्यमता की अनुभूतियाँ जीवन और समाज के प्रति सृजनात्मक और सार्थक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करती हैं। वास्तविकता यह है कि इतिहास की घटनाओं या जीवन के यथार्थ का एक मार्ग होता है जिसके निर्धारण में अनेक शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इतिहास केवल निरर्थक घटनाओं का समूह मात्र नहीं है और नहीं मनुष्य की आंतरिकता बाह्य ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया से बिल्कुल ही निरपेक्ष रूप से घटित होती है। इतिहास की प्रक्रिया को देखने एवं समझने के लिए मानवीय विवेक-बुद्धि की भूमिका को अनदेखा करने से भारती के अंतर्विरोध ही सामने आते है? उस इतिहास को केवल स्व की चेतना के आधार पर देखना उसके एकांगी पक्ष को देखना है। प्रगतिवादी निर्वैयक्तिकता के बरक्स व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा श्रेयस्कर अवश्य है। क्योंकि व्यक्ति के बना समूह का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा परन्तु व्यक्ति और उसकी चेतना को ही सब कुछ मान लेना ही स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है।

इसके बावजूद भारती जी इतिहास की प्रक्रिया और चरमतन्मयता के क्षणों के बीच सांमजस्य की भावभूमि सृजित करने के प्रति आस्थावान हैं। मनुष्य की रागात्मक एवं

सृजनात्मक क्षमता के प्रति उन्हें पूरा विश्वास है। 'समापन खण्ड' में वे आधुनिक जीवन की भयानक त्रासदी में भी एक लयात्मक जीवन के प्रति आस्था प्रकट करते हैं। कवि को यह विश्वास है कि रक्त-रंजित इतिहास के बीच मानवीय प्रेम वह आधार है जिससे शांति की प्राप्ति हो सकेगी और मानवीय मूल्यों की रक्षा हो सकेगी। इस विश्वास की भीत्ति पर ही कनुप्रिया जीवित रहती है। कनुप्रिया के साहचर्य के बिना गढ़े गए इतिहास की निरर्थकता को समझ कर कृष्ण उसे त्याग देते हैं। कनुप्रिया भी अपने प्रेम और विश्वास के बल पर जीवन के संपूर्ण बंधनों को तोड़कर अनन्त पगडण्डी पर आ खड़ी होती है, जहाँ उसे विषादग्रस्त कृष्ण के लौट आने का विश्वास है।

''मैं पगडण्डी के कठिनतम मोड़ पर
तुम्हारी प्रतीक्षा में
अडिग खड़ी हूँ कनु मैं''[49]

यहीं कृष्ण, कनुप्रिया का साहचर्य लेकर विषादग्रस्त जीवन को प्रेम रस से सींचने और एक नया इतिहास ग्रंथित करने के लिए तत्पर होते हैं।

(घ) सपना अभी भी: सूर्य तक उड़ने की तमन्ना

'ठंडा लोहा', 'अंधायुग', 'सात गीत वर्ष' तथा 'कनुप्रिया' की रचना केवल दस वर्षों की अवधि में हुई है। परन्तु भारती का लेखन-काल काफी लम्बा रहा है। इस लम्बी अवधि में जबकि युगीन संवेदनाएँ बदलती रही हैं तब यह प्रश्न उठता स्वाभाविक है कि क्या रचनाकार का आधुनिक बोध, युगीन स्थितियों से तादात्म्य स्थापित कर पाया है या युगीन झंझावातों में कहीं भटक सा गया है। भारती जी के जीवन काल में अंतिम प्रकाशित कृति 'सपना अभी भी' (1955 में) उनके सुदीर्घ लेखन-सक्रियता का प्रमाण है। इस काव्य-संकलन में 1959 से 1993 के बीच लिखी 39 कविताओं को समाविष्ट किया गया है। ये कविताएँ प्रमाण हैं कि भारती जी की सृजन-यात्रा में इतिहास की शक्तियों के बीच निरन्तर बदलते-बनते मनुष्य के चित्र उकेरे गए हैं। इस संग्रह के संक्षिप्त निवेदन में भारती जी लिखते हैं-''इस संकलन में सन् 59 से लेकर सन् 93 तक की कविताएँ हैं-चौंबीस लम्बे वर्ष यानी दो वनवासों की अवधि से कहीं ज्यादा-इन दो-दो वनवासों की समवेत अवधि के बाद भी घर लौट पाया हूँ या नहीं-पता नहीं।''[50] भारती जी भले संशय में हो, परन्तु उनकी कविताएँ इस बात का प्रमाण है तमाम युगीन झंझावातों के बीच भारती का रचनाकार मानव-कल्याण, मानवता एवं मानव-जीवन के प्रति आस्था को लेकर पूर्णत: प्रतिबद्ध है। वह कहीं भी समझौता नहीं करता हैं। इस संग्रह से यह भी प्रमाणित होता है एक सुदीर्घ सृजन-यात्रा में भी भारती जी किसी वाद या विचारधारा के गुलाम नहीं बने। उनकी रचनाएँ किसी विशेष विचारधारात्मक परिधि के भीतर नहीं आती बल्कि वादों एवं मतवादों से अलिप्त रहकर युगीन संवेदना को निर्भीक एवं निर्विकल्प भाव से अभिव्यक्त करती हैं।

स्वतंत्र भारत के इतिहास में सन् 1962 में चीनी आक्रमण तथा सन् 1974-75 में आपातकाल की घोषणा एक असाधारण घटना थी। इन दोनों घटनाओं में भारत के

राजनीतिक परिवेश में विद्यमान कुटिलता, स्वार्थपरता एवं विसंगतियों को उजागर कर दिया। चीनी आक्रमण ने 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के बंधन तथा पंचशील समझौते को खोखला सिद्ध कर दिया। भारती जी के अनुसार, ''हमारी दुखद पराजय ने अब तक पाले सारे सपनों के मोहजाल को छिन्न-भिन्न कर दिया।''[51] इस दुखद स्थिति में देश की जनता में व्याप्त निराशा एवं हीन-भावना को दूर करने के बजाय सत्ता-लोलुपता के चौसर बिछाये जाने लगे। 'पुराना किला' उसी भयावह स्थिति की तस्वीर उपस्थित करती है:

''मौत किले के आँगन में आ चुकी है
और शहंशाह के नक्शानवीश अभी तजवीजें पेश कर रहे हैं।''[52]

भारती जी के अनुसार भारतीय राजनीति की यह बेडौल असलियत अत्यंत तकलीफदेह है। लेकिन एक रचनाकार होने के नाते अपनी आँखें फेर नहीं सकते थे - ''काश कि मैं भी अपनी निगाहें फेर सकता। मगर मैं क्या करूँ कि तूने मुझे निगाहें दी कि मैं देखूँ।''[53] अपने रचनात्मक दायित्व के कारण ही भारती जी सन् 62 की पराजय के पीछे की राजनीतिक विडम्बना को उजागर करते हैं।

तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक परिवेश में दिवालिएपन के कारण ही देश की राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार लाने के नाम पर लोकतंत्र का गला घोंटने का प्रयास किया गया। तानाशाही का एक खौफनाक आंतक पूरे देश पर छा गया था।'मुनादी'उसी आपातकालीन तानाशाही आंतक की एक-एक पर्त को उघाड़ती है। जनता के दुख-दर्द को अनदेखा करने वाली, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करने वाली तथा व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना पर आघात करने वाली तथाकथित लोकतांत्रिक सरकार के विरूद्ध 'मुनादी' एक प्रश्नचिह्न है। पूरी कविता आपातकाल की राजनीतिक एवं प्रशासनिक विद्रूपता एवं अनैतिकता को एक साहस भरी नैतिक चुनौती है। आपातकाल का चक्रव्यूह रचनेवाली तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा

गाँधी के चारण सांसदों ने इस बात का भारी यत्न किया था कि कवि और लेखक आपातकाल के समर्थन एवं सरकार की उपलब्धियों के पक्ष में साहित्य-सृजन करें। परन्तु लोकतांत्रिक अधिकारों एवं मानवाधिकारों के प्रबल समर्थक भारती जी ने आपातकाल का समर्थन नहीं किया। जो आलोचक भारती जी को 'सत्ता-प्रतिष्ठान का सुविधा-भोगी मखमली कवि' कहते रहे हैं - उनके बौद्धिक संभ्रम को यह कविता को न केवल झकझोरती है बल्कि सत्ता के चारणों को भी तिलमिला देती है। जनसाधारण पर किए गए आघातों के विरोध में खड़ी होने वाली इस कविता की लोकप्रियता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि सत्तारूढ़ पार्टी के सांसद भी इस कविता को एक-दूसरे को पढ़ने के लिए दे रहे थे। 'मुनादी' जन कल्याण के नाम पर सत्ता की कुर्सी पर चिपके हुए लोगों की सामाजिक निष्क्रियता, अकर्मण्यता और निर्लज्जता को अत्यंत सहजता से उघाड़ती है। शहर का कोतवाल आगाह करता है: ''आखिर क्या दुश्मनी है तुम्हारी उन लोगों से/जो भलेमानुषों की तरह अपनी कुरसी पर चुपचाप/बैठे-बैठे मुल्क की भलाई के लिए रात-रात जागते हैं/और गाँव की नाली की मरम्मत के लिए/मास्को, न्यूयार्क, टोकियो, लंदन की खाक/छानते फकीरों की तरह भटकते रहते हैं।''[54]

ऐसी दरियादिली एवं नेकी के बाजवूद अपनी किवाड़ों की कुंडी अन्दर से बन्द नहीं करने, खिड़कियों के परदे नहीं गिराने और बूढ़े आदमी की आवाज से आवाज मिलाती हुई सड़कों पर सच बोलने के लिए निकल पड़ने का दु:साहस करने वाली रियाया को कोतवाल धमकी देता है-''तोड़ दिए जाऐंगे पैर/और फोड़ दी जाएगी आँखें/अगर तुमने अपने पाँव चलकर/महलसरा की चहार दीवारी फलाँगकर अन्दर झाँकने की कोशिश की।''[55] सच बोलने की स्वतंत्रता को दी जा रही इस धमकी को भारती जी ने 'प्रार्थना' कविता में चिड़ियाँ की चहक पर प्रहार के रूप में

देखा है। 'अंधायुग' में युद्धोपरांत अवतरित अंधेयुग की परिणतियाँ हमें इस प्रकार अगाह करती है:-

''जिनके नकली चेहरे होंगे
केवल उन्हें महत्व मिलेगा ....
राजशक्तियाँ लोलुप होंगी
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिपकर दिन काटेगी।''[56]

जब ये पंक्तियाँ लिखी गई थी तब यह प्रश्न उठता था कि एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में क्या सचमुच ऐसा होगा? परन्तु इमर्जेसी लागू होने के बाद यह निश्चित हो गया कि 'पीड़ित जनता' सचमुच गुफाओं में ही छिपकर दिन काटेगी।

इमर्जेसी को जहाँ आचार्य विनोबा भावे अनुशासन-पर्व के रूप में स्वीकार करने की सलाह दे रहे थे, वहीं सत्ता के दलाल एवं चारण मुल्क के विकास के लिए व्यवस्था कानून एवं नैतिकता को पुनर्स्थापित करने वाले माध्यम के रूप में घोषित कर रहे थे, जबकि सारी व्यवस्थागत, प्रशासनिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अराजकता और दिवालिएपन के कारण ये स्वयं हैं। अपनी काली करतूतों, निर्लज्जता एवं असमर्थता को छिपाने के लिए लोकतंत्र एवं मानवाधिकारों का गला घोट रहे थे। वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन का प्रतिवाद करते हुए भारती जी कहते हैं कि एक मामूली इंसान के पास ''सिर्फ एक मुकम्मल चीज थी-ईमान''[57] परन्तु सत्ता के स्वार्थ लोलुपों के लिए ईमान बेमतलब की चीज है इसीलिए इमर्जेसी लागू कर तथाकथित सर्वोच्चता सिद्ध करने वाली सत्ता को 'प्रभु' संबोधित करते हुए भारती जी प्रश्न करते हैं-''और ईमान की कोई गिनती है भी तुम्हारी पद्धति में?''[58] शायद है, लेकिन उनकी नजर में कबाड़ की चीजें हैं-'आपके घर में जो भी बेकार का समान हो/सपने हो, सच्चाई हो, आत्मा हो, ईमान हो/बेहिचक ले आइए/हम उसे

तोलकर वाजिब मोल देंगे/आपके लिए समृद्धि का द्वार खोल देंगे।''[59] अर्थात् इस अनुशासन-पर्व के अवसर पर इन चीजों का जनता के पास होने से इनका कोई मूल्य नहीं है। जनता के सपने, सच्चाई, आत्मा और ईमान को खरीदकर उन्हें समृद्ध बनानेवाली इस आपातकालीन व्यवस्था को अनुशासन-पर्व के रूप तथा मुल्क के विकास के रूप में देखने की बात कितनी शर्मनाक है। 'पर्व' कविता में भारती प्रश्न करते हैं कि अनुशासन पर्व में-

''तो क्या शब्दकोश से मिटा दिया गया
एक गैर जरूरी शब्द - स्वतंत्रता।''[60]

एक ऐसी स्वतंत्रता, जो एक इंसान का स्वरूप लक्षण है। अर्थात् इंसान होने के नाते उसका नैसर्गिक अधिकार है और जिसे सुरक्षित रखने के लिए जनता ने अनगिनत कुर्बानियाँ दी और ''जिसे पुराणों के अपराजेय ईमान की तरह पाया है/जिसे उगते सूरज के जयगान की तरह गाया है/हर हारती सचाई को बचाने के लिए जो ढ़ाल की तरह उठी है/बड़े से बड़े झूठ के खिलाफ जो महाकाल की तरह उठी है।''[61] ऐसी फौलादी ताकत, जो सत्ता की ताकत से भी बड़ी है तथा सत्ता को भी ताकत प्रदान करती है, को निरर्थक एवं जनता को बरगलाने वाली ताकत मानकर उसका नामोनिशान मिटा देने का प्रयत्न किया गया। भारती जी सत्ता के तथाकथित पहरूओं एवं विकास-पुरुषों से प्रश्न करते हैं:

''वह क्या ज्वार के साथ रेत के पगचिन्ह की तरह बह जाएगी
क्या सिर्फ झूठ, सिर्फ, झूठ, सिर्फ झूठ की आवाज बाकी रह जाएगी।''[62]

भारती का यह प्रश्न हर युग, हर समाज, हर देश की राजनीतिक कुटिलताओं की खबर लेता है। परन्तु भारती जी का रचनाकार मानवता की जययात्रा के प्रति आस्थावान है। वह किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में प्रतिक्रियावादी शक्तियों के समक्ष पराजय-बोध से ग्रस्त नहीं होता। भारती जी स्वीकार करते हैं कि जीवन संघर्षों में

असहाय होना, असफल होना, अकेले होना, पराजित होना, जीवन की अंतिम परिणति नहीं है। उनका आधुनिक बोध संघर्षरत रहने का संकल्प प्रदान करता है। इसलिए तमाम चुनौतियों-संघर्षों के बावजूद संकल्पवान मन में जीवन जीने का, उसे सार्थक बनाने का, उसके लिए युद्ध करने का सपना अभी शेष है - ''क्योंकि सपना है अभी भी/इसीलिए तलवार टूटी, अश्व घायल/कोहरे डूबी दिशाएँ/कौन दुश्मन, कौन अपने लोग, सब कुछ धुंध धूमिल/ किन्तु कायम युद्ध का संकल्प है।''[63] इसी संकल्प का परिणाम है कि जीवन के दुर्दम्यनीय संघर्ष भरे क्षणों में थकन, पीड़ा, उदासी, तड़प की तपन और स्मृतियों की दहाड़ होने के बावजूद व्यर्थता-बोध नहीं है। कवि का पूरा सपना इसी संकल्प पर केन्द्रित है कि जीवन को पूरी जिजीविषा एवं आस्था-भाव से जीना है - पराजय-बोध से नहीं। कवि को विश्वास है कि जीवन का सच्चा स्वाद इन्हीं से बनता है। इसीलिए हर बार पंख बाँधकर सूर्य तक उड़ने की तमन्ना है। इसीलिए वे कहते हैं कि इस 'बेपनाह लड़ाई' में हर मोड़ पर पैरों को तोड़ दिए जाने के बावजूद-

''कौन सा हिमालय है जिस पर मैं मरण-राही अर्जुन की तरह नहीं गला
पर उस खूँखार बर्फ में खुद समूचा गल जाने की शर्त/पाल कर भी
बचा लाया हूँ ऊष्मा की एक पर्त''[64]

इस प्रकार 'अंधायुग' की मूल्यांधता के बीच मानव-जीवन तथा मानवता के प्रति आस्था रखनेवाला रचनाकार लम्बे रचनाकाल में युगीन चुनौतियों-संघर्षों से जूझते हुए भी अपने जीवन-संकल्प को छोड़ नहीं पाया है।

'अंधायुग' के सर्व विनाशकारी महाभारत में तटस्थ होने की जिस त्रासद परिणति को संजय एवं विदुर के माध्यम से भारती जी अभिव्यक्त करते हैं, उसकी अन्य स्थितियों को रूक्मि की सेना, बलराम एवं सम्पाती की त्रासदी द्वारा पूरा करते हैं। 'तटस्थता: तीन आत्मकथ्य' में वे सिद्ध करते हैं कि जीवन में तटस्थता भी एक

भयानक यातना हैं। रूक्मि की सेना के महान योद्धा दोनों पक्षों को अस्वीकार होने के कारण छावनी में पड़े-पड़े ''दर्शन हाँकते थे/कौन कहाँ सही है, कौन कहाँ गलत है/बड़ी निष्पक्षता से बैठकर आँकते थे।''[65] यह वातानुकूलित कक्षों में बैठे बुद्धिजीवियों के मानसिक दिवालिएपन की ओर संकेत है। कृष्ण के क्रोधी भाई बलराम भी युद्ध के दौरान कंधे पर हल लेकर दूर-दूर घूमते रहे। बलराम स्वयं स्वीकार करते है कि ''न मैं पक्ष में हूँ, न मैं विरोधी हूँ/युग से असंगत हूँ।''[66] फिर भी युद्ध पर बहस-विचार-निर्णय से नहीं चूकते हैं-''बीच-बीच में मैंने युद्ध पर निर्णय दिए/भीम है गलत और सही है दुर्योधन''[67] अर्थात् बलराम उस नेता का प्रतीक है जो जीवन-युद्ध में अलिप्त रहकर गाँव-गाँव, खेत-खेत की पदयात्रा करके समाज का सेवक कहलाने लगा परन्तु जनता का दुख-दर्द कभी नहीं झेलने के कारण युग से असंगत बन गया। बलराम की तटस्थता आज के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में मानवीय संवेदना, मानवीय मूल्यों तथा समाज में रचनात्मक भूमिका निभाने से परामुख राजनीतिज्ञों एवं बुद्धिजीवियों की अकर्मण्यता को दर्शाती है जो सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में सकारात्मक बदलाव लाने के बजाय आत्ममुग्ध एवं आत्मसंतुष्ट बने रहते हैं-'जिसे युग बदलना हो/वह रहे बदलता/मैं तो संतुष्ट हूँ।''[68] परिणाम यह होता है कि समूची राजनीतिक एवं सामाजिक स्थितियाँ उनके नियंत्रण से बाहर हो जाती हैं और वे संवेदनहीन एवं विक्षिप्त हो जाने के लिए अभिशप्त हैं:

''नहीं किसी पर कुछ मेरा वश चलता
इसीलिए क्रोधी हूँ''[69]

ऐसे लोग अपनी असहायता के कारण विकास एवं संघर्ष के किसी भी प्रयास को हतोत्साहित करते हैं। वे जीवन संघर्षों से जूझनेवाले तथा मानव की जययात्रा के प्रति संकल्पवान लोगों के उत्साह को हेय दृष्टि से देखते हैं। उनकी इस प्रतिक्रियावादी एवं प्रगतिविरोधी मानसिकता को भारती जी 'सम्पाती' के माध्यम से

भी व्यक्त करते हैं जो लोगों के उत्साह को हिकारत से देखता है। सम्पाती एवं बलराम की मानसिकता उन लोगों पर व्यंग्य है, जो खुद जीवन-संघर्षों से दूर रहते हैं परन्तु चुनौती भरे जीवन को अत्यंत ईमानदारी से जीनेवालों एवं जीवन को सार्थक बनाने वालों के विषय में दार्शनिक भरी मुद्रा में निर्णय दिया करते हैं। इतना ही नहीं, सम्पाती अपने को प्रामाणिक विद्रोही मानता है क्योंकि सूर्य को पहली बार चुनौती देने के प्रयास में अपने पंखों को झुलसा चुका है और उन्हें सनद मानता है:

''क्योंकि वे सनद है
कि प्रामाणिक विद्रोही मैं ही था, मैं ही हूँ''[70]

उसके झुलसे पंखों के कारण उसे एकाकी जीवन जीना पड़ रहा है। एकाकीपन के कारण उसमें यह धारणा घर कर गई है कि चुनौती स्वीकार कर विद्रोह करने का कोई भी प्रयास व्यर्थ है। वह सीता के लिए जटायु के संघर्षों को भी व्यर्थ मानता है क्योंकि ''निरादृत तो दोनों ही करेंगे उसे/रावण उसे हर कर और राम उसे जीतकर''[71] अर्थात् किसी की दृष्टि में मानवता की अस्मिता एवं मानव-मूल्य के प्रति सम्मान नहीं है। सम्पाती का जीवन-दर्शन जीवन से पलायन कर चुके तथा विद्रोह को बेमानी समझने वाले लोगों पर व्यंग्य है। लेकिन साथ ही सत्ता के लिए संघर्षरत राजनीतिज्ञों एवं युद्धरत राष्ट्रों की ओर संकेत करता है जो घोषित रूप से जनकल्याण या लोकतांत्रिक व्यस्था एवं मानवाधिकारों के लिए संघर्षरत है परन्तु वास्तव में इनमें से किसी भी चीज के प्रति उनमें सम्मान भाव नहीं हैं। इसीलिए उनके लिए लड़ने वाले लोगों से सम्पाती कहता है-

''कौन हैं ये समुद्र पार करने के दावेदार
कह दो इनसे कि अब यह सब बेकार है
साहस जो करना था कब का कर चुका मैं''[72]

ऐसे परिवेश में, जिसमें मानव की मानवता का कोई सम्मान नहीं है, सम्पाती का कथन प्रासंगिक है, भले ही एकाकीपन की यातना या 'फ्रस्टेशन' के कारण है। लेकिन भारती जैसे रचनाकार के लिए सम्पाती के कथन युक्तिसंगत नहीं है। मनुष्य की संघर्ष क्षमता और उसकी जिजीविषा का कोई अन्त नहीं है। अंततः संघर्ष में परास्त होने का अर्थ यह नहीं है कि चुनौतियों को स्वीकार करना ही व्यर्थ है। मानव की मानवता एवं अस्मिता के लिए संघर्ष एक सतत प्रक्रिया है।

अब हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि एक लम्बी रचनात्मक अवधि में भारती जी मानव-अस्तित्व, मानव-गौरव तथा मानव-अधिकारों के प्रश्न से विचलित नहीं होते हैं। उनके आधुनिक भाव-बोध के केन्द्र में मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा के लिए न केवल स्वप्न है बल्कि उसके लिए संघर्ष करने का संकल्प भी कायम है।

(ङ) अंधायुग: मूल्य संकट

सन् 1955 में प्रकाशित इस काव्य-नाटक में धर्मवीर भारती ने जिस प्रकार आधुनिक परिवेश में मूल्यों के संकट को व्यंजित किया है, उससे यह अत्यंत आश्चर्य होता है कि चार साल पहले तक रोमानी भाव-बोध वाला रचनाकार आधुनिक जीवन-परिवेश का एक सशक्त चित्र और उसमें मूल्यों के विघटन और निर्माण की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहा है। एक पौराणिक मिथक, महाभारतकालीन कथानक, को द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर कालीन संदर्भ में रखकर तत्कालीन बुनियादी सवालों से जूझने एवं संवेदना के जटिलतर होते संबंधों को देखने का प्रयास किया गया है।

महाभारत के कथानक पर आधारित काव्य-नाटक 'अंधायुग' की मूल्य-समस्या दो महायुद्धों से उत्पन्न मानवीय मूल्यों के विघटन की वह वैश्विक समस्या है जिसके कारण मानवता, पाशविकता में बदल रही है और हम अंधे युग में जीने के लिए अभिशप्त हैं। 'अंधायुग' में महाभारत युद्ध की अंतिम संध्या के बाद के युद्धोतर परिणामों को कथानक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पौराणिक कथा होने के कारण महाभारत के पात्र युगों से हमारे सांस्कृतिक पटल पर छाये हुए हैं। इनके युद्धोत्तर परिणामों को भारती जी की चेतना बीसवीं सदी के विश्वयुद्धोत्तर परिणामों के समानधर्मा पाती है। इसलिए महाभारत का यह पौराणिक-मिथकीय संदर्भ, वर्तमान समय में राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर, सांस्कृतिक संकटों एवं मानवीय अस्तित्व के संकटों को समेटता है। अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर विश्व युद्धों में हुए व्यापक नरसंहार एवं राष्ट्रीय धरातल पर विश्व-मानवता का संदेश देने वाले गाँधीवाद की तिलांजलि ने मानव अस्तित्व के सामने जो संकट उपस्थित किया, उसने धर्मवीर भारती को एक ऐसा समानधर्मा कथानक चुनने को प्रेरित किया, जिससे मानवीय विघटन एवं सांस्कृतिक संकट का आख्यान प्रस्तुत किया जा सके। सुप्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक नेमिचन्द्र जैन ने इस नाटक को विश्वयुद्ध और भारत-विभाजन दोनों

के संदर्भ में देखा है-''अंधायुग'' महाभारत संग्राम के बाद की स्थिति के अन्वेषण के माध्यम से दूसरे महायुद्ध के बाद की, बल्कि युद्ध मात्र से उत्पन्न होने वाली मूल्यहीनता, अमानवीयता, विकृति और सामूहिक तथा वैयक्तिक विघटन का उद्घाटन करता है। आनुषंगिक रूप से वह देश के विभाजन में निहित आंतरिक गृहकलह की परिणतियों की ओर भी इंगित करता है।''[73]

'अंधायुग' का रचना-संसार, निराशा, कुंठा, वेदना, पश्चाताप, ग्लानि, मूल्यहीनता एवं अंधापन से निर्मित संसार है जो युद्धोपरांत उपस्थित हुआ था-'युद्धोपरांत/यह अंधायुग अवतरित हुआ।' भारती जी के अनुसार इस युद्ध में लड़नेवाले सभी अंधे थे, पथभ्रष्ट थे, आत्महारा थे और अपनी अन्तर के गुफाओं के वासी थे। युद्ध एक ऐसी स्थिति है जहाँ लड़नेवाले से किसी सत्य, नैतिकता एवं मर्यादा-पालन की आशा नहीं की जा सकती है। हमारे पौराणिक मिथक या महाभारतकार व्यास भले ही यह घोषणा करें कि कौरवों का पक्ष अन्याय का और पाण्डवों का पक्ष न्याय का था, इसलिए सत्य एवं न्याय की रक्षा के लिए पाण्डवों द्वारा कुछ मूल्य-मर्यादाओं को तोड़ना जरूरी हो जाता है। परन्तु भारती जैसा आधुनिक संवेदना वाला रचनाकार सत्य और धर्म की विजय के नाम पर मूल्यों एवं मर्यादाओं के उलंघन की अनदेखी नहीं कर सकता है। व्यास एवं भारती की दृष्टि में यहीं फर्क है। वास्तव में, यह युगीन संवेदना का फर्क है। व्यास भले ही पाण्डवों के पक्ष को सत्य, न्याय एवं धर्म का पक्ष देखते हों, परन्तु भारती द्वारा यह संभव नहीं था कि द्वितीय विश्व युद्ध में फासिस्ट कौरवों के समक्ष मित्र राष्ट्रों के पक्ष को न्यायोचित ठहराये। ऐसा करके मित्र राष्ट्रों की साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी एवं अन्यायपूर्ण व्यापारिक नीतियों के पक्ष में वे अपने को खड़ा नहीं कर सकते थे। जो आलोचक ''दोनो पक्षों ने तोड़ी मर्यादा'' की तीखी आलोचना करते हैं वे वास्तव में महाभारत के मिथक और द्वितीय विश्वयुद्ध के परिवेश के मूलभूत अन्तर को समझ

नहीं पाते हैं। भारती जी महाभारत के इस युद्ध के माध्यम से आधुनिक विश्वयुद्धों के परिणामस्वरूप मानवीय ट्रेजडी की कथा रचते हैं। वे भक्ति-भाव से महाभारत की कथा की पुनर्रचना नहीं करते हैं। वास्तव में धर्मवीर भारती आधुनिक भाव-बोध की कसौटी पर ही महाभारत-युद्ध को देखते हैं। कोई भी रचनाकार अपने युगीन परिवेश के परिप्रेक्ष्य में ही किसी ऐतिहासिक-पौराणिक तथ्यों या मिथकों को देखता है। जब वे कहते हैं कि कौरवों एवं पांडवों, दोनों पक्षों में विवेक हार गया, युग का अंधापन जीत गया, तो उनकी नजर में बीसवीं सदी में साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी हितों की रक्षा के लिए टकराते राष्ट्रों का अंधापन है। युद्धरत किसी भी राष्ट्र का पक्ष न्यायोचित नहीं था और जो राष्ट्र लोकतांत्रिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता के नाम पर मित्र राष्ट्रों के पक्ष में खड़े हुए थे, वे भी भ्रम में थे। 'अंधायुग' में भारती जी ने यह दिखाया है कि युयुत्सु ने महाभारत युद्ध में सत्य और न्याय की रक्षा के लिए कौरव-पक्ष छोड़कर पांडव-पक्ष ग्रहण करने का विवेकपूर्ण निर्णय लिया था। उसने माना कि सत्य बड़ा है कौरव वंश से। परन्तु यह देखकर आहत हो जाता है कि पांडव भी सत्य के पक्षधर नहीं है। जिसे प्रभु जाना था, उसने भी युद्ध में जीत के लिए मर्यादा तोड़ी है। कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में घोषणा की थी कि जिधर मैं हूँ, उधर धर्म है, जिधर धर्म है, उधर जय है। युयुत्सु ने यहीं किया, पर युयुत्सु को क्या मिला? पांडव-पक्ष ग्रहण करने से न केवल उसके अन्तर में वितृष्णा पैदा हो जाती है, बल्कि अपनी माँ द्वारा भी उसे उपेक्षा एवं घृणा मिलती है। युयुत्सु द्वारा सत्य का पक्षधर होने के भ्रम की भर्त्सना करते हुए गांधारी कहती है - ''बेटा/भुजाएँ ये तुम्हारी/पराक्रम भरी/थकी तो नहीं/अपने बंधुजनों का/वध करते-करते''[74] अपने को विसंगति स्थिति में पाकर युयुत्सु स्वयं को छला हुआ महसूस करता है, उसे लगता है कि ''अंतिम परिणति में/दोनों जर्जर करते है/पक्ष चाहे सत्य हो/अथवा असत्य का।''[75]

यहाँ भारती जी की चिंता के केन्द्र में घातक हथियारों का जखीरा खड़ा करने वाले, उन हथियारों का व्यापार कर राष्ट्रों को आपस में लड़ाने का उपक्रम करने वाले, अपने स्वार्थों के लिए विश्व को युद्ध में झोंकने वाले, किसी भी कमजोर राष्ट्र, राज्य, जाति, धर्म एवं नस्ल की सम्प्रभुता एवं स्वतंत्रता का हनन करने वाले तथा लोकतंत्र, मानवाधिकार एवं नि:शस्त्रीकरण की दिखावटी हिमायत करने वाले अगुवा राष्ट्र हैं जो समस्त मूल्यों, नियमों एवं नीतियों को अपने स्वार्थ की कसौटी पर परखते हैं।

ऐसे विनाशकारी युद्ध में, चाहे महाभारत का हो या द्वितीय विश्वयुद्ध हो, जिसकी प्रतिबद्धता सत्य, न्याय, मानवता तथा लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रति है, वह अपने को छला हुआ महसूस करता है। चाहे वह युयुत्सु हो या अपने लोकतांत्रिक अधिकारों तथा सम्प्रभुता की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध राष्ट्र हो। युयुत्सु यह कहता है कि मैं उस पहिए की तरह हूँ जो पूरे युद्ध के दौरान रथ की गलत धुरी में लगा था और अब अपनी धुरी से उतर गया है। युयुत्सु की अनुभूति युद्ध में मानव-विवेक की पराजय की अनुभूति है। वह घृणा एवं अपमान के कड़वे घूँट पीकर आत्महत्या करने के लिए विवश होता है। उसका यह आत्मघात केवल एक व्यक्ति का आत्मघात नहीं था, बल्कि कृपाचार्य के शब्दों में - ''यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित/इस पूरी संस्कृति में/दर्शन में, धर्म में, कलाओं में, शासन-व्यवस्था में/आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का।''[76] अर्थात् युयुत्सु का आत्मघात संपूर्ण मानवीय संस्कृति, धर्म एवं मूल्यों का आत्मघात है। द्वितीय विश्व युद्ध में जो राष्ट्र लोकतंत्र एवं विश्व मानवता के नाम पर शामिल होते हैं वे भी युयुत्सु की तरह आहत होते हैं। उन्हें महसूस होता है कि युद्ध का समस्त आयोजन साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक स्वार्थों के लिए किया गया था। लेकिन जबतक वे संभलते तबतक वे सदियों से संजोयी अपनी

संस्कृति, कला, दर्शन, आदि से श्री हीन होकर पूर्णतः खोखले हो चुके थे। उनका यह सांस्कृतिक खोखलापन आत्मघात का ही प्रतीक है।

धर्मवीर भारती युद्ध के स्वतंत्र एवं स्वयंचालित स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। युद्ध की प्रक्रिया की एक बार शुरूआत हो जाने के बाद सत्य, न्याय, धर्म, नीति, कर्तव्य आदि का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है। युद्धरत पक्षों का एकमात्र उद्देश्य होता है किसी भी कीमत पर शत्रु का विनाश और युद्ध में विजय प्राप्त करना। मानव-अस्तित्व एवं मानव-मूल्यों का हनन अपने चरम पर पहुँच जाता है। मानवता के प्रति यह अंधापन कभी ब्रह्मास्त्र के द्वारा गर्भ नष्ट करता है तो कभी अणुबम गिराकर शहर की संपूर्ण आबादी का समूल नाश कर देता है।

धर्मराज एवं कृष्ण जैसे चरित्र भी युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अनीति का सहारा लेने से चूकते नहीं है। द्रोण जैसे महारथी पर नियंत्रण पाने के लिए सत्यवादी युधिष्ठिर ने अर्धसत्य का सहारा लिया, जिसके परिणामस्वरूप अश्वत्थामा में प्रतिशोध की भावना बलवती हो जाती है। उसकी समस्त कोमलता एवं मानवता, कठोरता एवं पशुता में बदल गई। भारती जी लिखते हैं-''अश्वत्थामा समूचे महाभारत के सामने, समूची गीता के सामने, भारत की समूची जीवन-दर्शन-परम्परा के सामने एक मुजस्सिम सवाल है-'यह क्यों'?''[77] वह प्रतिशोध एवं हत्या की पैशाचिक मानसिकता से ग्रस्त हो जाता है। वह चित्कार कर उठता है-''वध मेरे लिए नहीं नीति है, वह है अब मनोग्रंथि।''[78] ऐसी हिंसक मनोग्रंथि से ग्रस्त हो जाने के बाद मानवता की कोई सार्थकता नहीं रह जाती है। अश्वत्थामा अविवेकपूर्ण ढंग से घोषणा करता है-'पक्ष में नहीं है जो मेरे शत्रु हैं'।[79] उसकी बर्बरता की चरम परिणति तब होती है जब मानव जाति का समूल नाश करने वाले ब्रह्मास्त्र को उत्तरा के गर्भ पर फेंकता है। इस प्रकार न तो युधिष्ठिर के अर्ध-सत्य के पीछे व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना का निर्णय था और न ही अश्वत्थामा का आचरण ही मर्यादित था। दोनों का

निर्णय युद्ध की मानसिकता से परिचालित था। सभी ने अपने-आप को 'अन्य वस्तु' (जिसके होने की चेतना न हो) की तरह युद्ध की नियति पर छोड़ दिया था। युद्ध की ऐसी मन:स्थिति में लिया गया कोई भी निर्णय अंधी सामूहिकता का निर्णय होता है। ऐसे निर्णय लोकतांत्रिक मूल्यों एवं मानवाधिकारों के नाम पर युद्ध की अंधी दौड़ में शामिल राष्ट्रों के समक्ष एक गंभीर प्रश्नचिह्न है।

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इस महायुद्ध में जिनके पास विवेक है, वे भी परिस्थितिवश अपने विवेक का इस्तेमाल नहीं कर पाते हैं। उनकी स्वातंत्र्य-चेतना या तो भोथरी पड़ जाती है या वे इसका इस्तेमाल अमर्यादित आचरण के लिए ही करते हैं। गांधारी, युधिष्ठिर, संजय और कृष्ण ऐसे ही पात्र है। गांधारी में विवेक तो है परन्तु ममता के कारण अपने विवेक का उपयोग नहीं कर पाती। प्रतिहिंसा के कारण उसका विवेक इतना कुंद पड़ जाता है कि वह घायल दुर्योधन के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के बजाय न केवल अश्वत्थामा की वध-नीति का समर्थन करती है, बल्कि कृष्ण को शाप भी देती है। उसका विवेक मर्यादित आचरण से शून्य पड़ जाता है। यही स्थिति युधिष्ठिर की है। धर्मराज के अमर्यादित आचरण के परिणाम तो अत्यंत ही त्रासद है जिसका एहसास उन्हें निरर्थक विजय की प्राप्ति के बाद होता है।

संजय की ट्रेजडी और भी मर्मान्तक है। उसके पास दिव्य-दृष्टि है परन्तु वह तटस्थ द्रष्टा मात्र है। युद्ध की विनाशकारी स्थितियों के समक्ष उसकी चेतना नि:शक्त हो जाती है। उसकी चेतना कचोटती है-''मुझ सा निरर्थक होगा कौन''।[80] परिणामत: उसकी दिव्य-दृष्टि सम्पन्नता उसके लिए व्यर्थ हो जाती है। युद्ध के प्रति निराकार निषेध का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता है। यह विश्लेषण खुद संजय का है जो निर्णय के उत्तरदायी क्षणों में भटक जाता है।

दूसरी ओर कृष्ण है जिनका व्यक्तित्व भी प्रश्नों के घेरे में है। युद्ध में उनकी भूमिका विवादास्पद है। उनका आचरण भी युद्ध को विनाशकारी परिणामों की ओर ले जाता है। गांधारी उन्हें वंचक कहती है। बलराम 'कूटबुद्धि' कहते हैं। वे अपनी प्रभुता का दुरूपयोग करते हैं। यदि वे प्रभु हैं और यदि वे चाहते तो अप्रतिम योद्धाओं का छलपूर्ण वध नहीं हो पाता। परन्तु आधुनिक युग के रचनाकार भारती जी द्वारा यह संभव नहीं था कि वे कृष्ण को विष्णु के अवतार तथा धर्म के संस्थापक के रूप में 'प्रभु' माने। इसीलिए उन्होंने कृष्ण को केवल आस्था का केन्द्र नहीं माना है। उन्होंने विदुर से कहलवाया है कि

'आस्था तुम लेते हो/अनास्था लोगा कौन?'[81]

कृष्ण द्वारा समस्त अच्छे-बुरे कार्यों को अपने भीतर समेट लेने के पीछे भारती जी यहीं कारण मानते हैं। कृष्ण स्वीकार करते हैं-'अठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में कोई नहीं, केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ो बार'[82]

इस प्रकार धर्मवीर भारती ने कृष्ण के व्यक्तित्व में द्वैत पैदा किया है। हत्या, षडयंत्र और युद्ध के अंधेपन के बीच कृष्ण के विराट रूप को रखकर उसे समझने का प्रयास किया गया है। भारती जी कृष्ण के प्रति अपनी आस्था को छोटी सी पगडण्डी मानते है-'जरा अलग यह छोटी सी/मेरी आस्था की पगडण्डी।'[83] ऐसा कहकर भारती जी अपनी सृजनात्मक क्षमता के बल पर कृष्ण के आदर्श रूप (विराट रूप) तथा वास्तविक रूप (युद्ध में भूमिका) के बीच समन्वय स्थापित करते हैं। यही कारण है कि युद्ध में विवादास्पद भूमिका तथा सबकी ईर्ष्या एवं आक्रोश के पात्र होते हुए भी कृष्ण जिन जीवन-मूल्यों को प्रस्तुत करते हैं, वे अनुकरणीय एवं काम्य हैं। भारती जब कृष्ण को 'प्रभु' कहते हैं तो उनके लिए 'प्रभु' का संबंध अनुकरणीय मानव-आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों की समग्रता से है, जिससे नूतन मानवता का सर्जन संभव है। भारती जी ने 'पश्यन्ती' में लिखा है कि

'''प्रभु' मानवीय मूल्यों की समग्रता है''[84] 'अंधायुग' में भी वे कृष्ण को इसी रूप देखते हैं, विष्णु के अवतार के रूप में नहीं। यहीं कारण है कि अपने अमर्यादित आचरणों के लिए गांधारी से शापग्रस्त होकर भी पुत्र रूप में शाप को स्वीकार कर लेते हैं। यहीं नहीं, अर्जुन को अनासक्त भाव से युद्ध करने का उपदेश भले ही विनाशकारी स्थितियों को जन्म देता है परन्तु इसी उपदेश में मानव की पूर्व निर्धारित नियत्ति को बदल देने की क्षमता भी निहित हैं।

युद्ध की विनाशकारी परिणतियों के संदर्भ में भारती जी मूल्य-विषयक आधार की समस्या से जूझने का प्रयास करते हैं - क्या मनुष्य का निर्णय या आचरण निर्णायक क्षणों में मूल्यों के आलोक में निर्धारित होते हैं या स्वत: चलित यंत्रवत मानवीय वृत्तियों से या परिस्थितियों से? युद्ध में अमर्यादित आचरण इस बात का प्रमाण है कि निर्णायक क्षणों में मानवीय मूल्य निरर्थक पड़ जाते हैं। मनुष्य के भीतर बैठा अंधा बर्बर पशु स्वत: स्फूर्त रूप में विवेक, नैतिकता एवं मानवता को लाँघ जाता है। गांधारी कहती है-''निर्णय के क्षण में विवेक एवं मर्यादा/व्यर्थ सिद्ध होते आए हैं सदा।''[85] लेकिन भारती जी इस स्वत:स्फूर्त बर्बरता या अंधी प्रवृत्तियों को मानवता का आधार नहीं मान सकते। वे मनुष्य की रचनात्मक क्षमता पर भरोसा जताते हैं और मनुष्य के मर्यादित आचरण को मानवता का आधार घोषित करते हैं। वे विदुर से कहलवाते हैं ''केवल स्वयं किया हुआ मर्यादित आचरण कवच है जो व्यक्ति को बचाता है''[86] और यदि आचरण मर्यादित हो तो मनुष्य की रचनात्मकता अंधी नहीं होगी। यहीं मनुष्य सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए अनासक्त भाव से इतिहास को चुनौती देने में सक्षम हो सकता है। भारती जी ने वृद्ध याचक के मुँह से कहलवाया है-''जब कोई भी मनुष्य/अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को/उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है/नियत्ति नहीं पूर्व निर्धारित/उसको हर क्षण

मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।''[87] भारती के मूल्य-चिन्तन का यह सकारात्मक पक्ष है।

धर्मवीर भारती की व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना के प्रति प्रतिबद्धता और इसके आधार विवेकपूर्ण निर्णय की हिमायत उन्हें अस्तित्ववादी चिंतकों के समीप खड़ा करती है। परन्तु व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आधार पर आधुनिकता की चेतना के केन्द्र में शामिल किए गए अस्तित्ववादी चिंतकों से भी भारती जी सर्वथा अलग दिखाई देते हैं। अलग दिखाई देने का आधार है जीवन में आस्था रखने की उनकी दृष्टि। यह आस्थावादी दृष्टि अस्तित्ववादी आधुनिक चिंतन के समक्ष एक बड़ा प्रश्नचिह्न है। 'अंधायुग' के कृष्ण युद्ध के विध्वंसक परिणामों, टूटी हुई मर्यादा, स्खलित मूल्य एवं खंडित गरिमा के अवशेष पर पुनः जीवित होने, नूतन सर्जन करने तथा मानव सृष्टि के अस्तित्व में आने की बात करते हैं। भविष्य के निर्माण की इसी कल्पना से वे अस्तित्ववादी चिंतन के वर्तमान क्षण की कटु निराशा, अनास्था एवं वेदना से ऊपर उठ जाते हैं। यह आस्थापरक दृष्टि भारती के आधुनिक भाव-बोध को पूर्णता प्रदान करती है। 'अंधायुग' का अंतिम कथा-गायन इसी विश्वास की ओर संकेत करता है -

''पर एक तत्व है बीजरूप स्थित मन में
साहस में, स्वतंत्रता में, नूतन सर्जन में।''[88]

यदि युद्ध का आयोजन मनुष्य की विकृति है तो उसका शमन करने की क्षमता भी मनुष्य में निहित है। यह संभावना ही मनुष्य की अपराजेय शक्ति में आस्था को पुनर्जीवित करती है। मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता अपरिमित है जिनके प्रति आस्था रखकर गहन अंधेरे को भेदा जा सकता है। संपूर्ण आधुनिक साहित्यिक परिवेश में इस सृजन-क्षमता को ही शक्ति का मुख्य स्रोत मानकर मानव की जयगाथा का आख्यान किया गया है। नये साहित्य की यह मानवतावादी प्रकृति है।

आधुनिक भाव-बोध के कटघरे में भारती जी पारम्परिक मूल्यों का भी परीक्षण करते हैं। वे गीता के 'स्वधर्म' का मूल्यांकन करते हैं। 'स्वधर्म' का अर्थ है-अपने द्वारा निर्धारित दायित्वपूर्ण कर्म। स्वकर्म का यह सिद्धांत एक ओर भारती के विवेकपूर्ण निर्णय का समर्थन करता है तो दूसरी ओर उनके व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना को भी स्थापित करता है। भारती जी की स्वीकृति है कि यह स्वधर्म हर व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक सार्थकता प्रदान करता है। इसी के द्वारा उसके स्वतंत्र अस्तित्व को नया सामाजिक अर्थ प्राप्त होता है।[89]

कुछ आलोचकों ने भारती जी की आस्थावादी दृष्टि को स्वस्थ दृष्टि नहीं माना है। डा. इन्द्रनाथ मदान के अनुसार ''अंधायुग की यह आस्था, आधुनिकता को खंडित करती जान पड़ती है और यह रचनाकार की कमजोरी है।''[90] यहाँ मदान जी स्वयं संशय की स्थिति में हैं। नामवर सिंह ने भी भारती के व्यक्ति-स्वातंत्र्य और आस्थावादी दृष्टि को अवसरवादी और बाहर से उधार लिया हुआ चिंतन कहा है और माना है कि भूत और भविष्य को अस्वीकार कर केवल वर्तमान के क्षण में जीवित रहने वाले के लिए वर्तमान भी भूत जैसा लगता है।[91]

मुक्तिबोध के अनुसार भारती ने नैतिक गिरावट एवं मूल्यों के स्खलन के कारणों को गहराई से तहकिकात नहीं किया है। उनके अनुसार ''भारती सभ्यता की आलोचना तो करते हैं किन्तु समाजशास्त्री जिज्ञासा के अभाव का शिकार होकर।''[92] इसलिए जिस मर्यादापूर्ण आचरण एवं दायित्व को भारती सभ्यता के अवलम्ब के रूप में प्रकट करते हैं उसके सामाजिक रूपान्तर के लिए ठोस वैज्ञानिक आधार का अभाव है। अत: ''श्री भारती का आशात्मक- भविष्यवाद एक बहलावा है।''[93]

लेकिन उपर्युक्त आरोप तभी तर्कसंगत होते जब आधुनिक भाव-बोध का अर्थ जीवन की विकृतियों को दिखाना होता। अगर साहित्यकार का दायित्व सर्जनात्मक और मानवीय मूल्यों के प्रति है तो मानव-मुक्ति के लिए या मानव के भविष्य के

लिए आस्था का प्रश्न 'अंधायुग' को सामयिक परिस्थितियों में सार्थकता प्रदान करता है। अंधों के माध्यम से 'अंधायुग' ज्योति की कथा बन जाता है। भारती ने मूल्यों के स्खलन एवं नैतिक गिरावट को फैशन के धरातल से नहीं देखा है बल्कि इनके गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार है। जिन आलोचकों को आस्था एवं विवेकपूर्ण निर्णय फैशन मात्र या आयातित लगता है, उनके सामने यह प्रश्नचिह्न खड़ा होता है कि क्या वे यथार्थ के नाम पर जीवन की विनाशकारी एवं भयानक स्थितियों के चित्रण को साहित्य का उद्देश्य मानते हैं? क्या इन स्थितियों से बाहर निकलने के लिए नूतन सर्जन की राह दिखाना साहित्य का उद्देश्य नहीं हैं? क्या नवीन मानवीय संस्कृति, जिसमें मनुष्य की गरिमा और अस्तित्व सुरक्षित हो, के निर्माण में साहित्य की कोई भूमिका नहीं होती है? अगर मानवता के प्रति साहित्यकार की भूमिका रचनात्मक होती है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारती जी ने 'अंधायुग' में एक ओर मानवीय मूल्यों के नवनिर्माण के प्रति आस्था प्रकट की है तो दूसरी ओर आधुनिकता के फैशनों से अपनी रचनाशीलता को बचाया भी है। उन्होंने आधुनिक भाव-बिन्दुओं, समाज में घटित घटनाओं, मानव की नियति एवं अपनी अनुभूतियों का पौराणिक कथानक के साथ सुन्दर समन्वय 'अंधायुग' में किया है। इसमें कुत्सित एवं स्खलित मूल्यों एवं आदर्शों के उद्‌घाटन के साथ ही मानव समाज एवं संस्कृति के सुन्दर रूप की स्थापना का वैश्विक संदेश है।

संदर्भ स्रोत

1. नयी समीक्षा: नये संदर्भ-ले. डा. नगेन्द्र, पृ.सं.-88
2. मानव मूल्य और साहित्य-ले. डा. धर्मवीर भारती, पृ. सं.-19-20
3. सात गीत वर्ष-ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं.-10
4. ठंडा लोहा ('गुनाह का गीत' शीर्षक कविता)-ले. धर्मवीर भारती, पृ.सं.-22
5. ठंडा लोहा ('झील के किनारे' शीर्षक कविता)-ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं.-78
6. ठंडा लोहा, पृ. सं.-1
7. वहीं, भूमिका, परिच्छेद-2
8. भारती का काव्य - ले. डा. रघुवंश, पृ. सं.-9
9. ठंडा लोहा, पृ. सं.-68
10. भारती का काव्य, ले. डा. रघुवंश, पृ. सं.-10
11. ठंडा लोहा, पृ. सं.-87
12. वहीं, पृ. सं.-56
13. वहीं, पृ. सं.-87
14. वहीं, पृ. सं.-87
15. वहीं, पृ. सं.-87
16. वहीं, पृ. सं.-87
17. वहीं, पृ. सं.-87
18. वहीं, पृ. सं.-87
19. वहीं, पृ. सं. 46
20. सात गीत वर्ष-ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 10
21. भारती का काव्य-ले. डा. रघुवंश पृ. सं. 12
22. सात गीत वर्ष ('जिज्ञासा' शीर्षक कविता) पृ. सं. 34
23. सात गीत वर्ष ('गुलाम बनाने वाले' शीर्षक कविता) पृ. सं. 72
24. वहीं, 'एक वाक्य' शीर्षक कविता, पृ. सं. 73
25. वहीं, 'वाणभट्ट' शीर्षक कविता, पृ. सं. 74
26. वहीं, 'वृहन्नला' शीर्षक कविता, पृ. सं. 78
27. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद-ले. शिव प्रसाद सिंह, पृ. सं.-96

28. सातगीत वर्ष, 'प्रमथ्यु गाथा' शीर्षक कविता, पृ. सं. 23
29. वहीं, पृ. सं. 20
30. वहीं, पृ. सं. 24
31. वहीं, पृ. सं. 65
32. वहीं, 'टूटा पहिया' शीर्षक कविता, पृ. सं. 79
33. वहीं, 'घाटी का बादल' शीर्षक कविता, पृ. सं. 124
34. धर्मवीर भारती, सं. प्रभाकर श्रेत्रिय का संपादकीय, पृ. सं. 15
35. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना, सं. पुष्पा भारती, राग संबंधों की वैचारिक पृष्ठभूमि' शीर्षक निबंध पृ. सं. 369
36. वहीं 'राग संबंधों की वैचारिक पृष्ठभूमि' शीर्षक निबंध पृ. सं. 370
37. कनुप्रिया, ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 6
38. भारती का काव्य, ले. डा. रघुवंश, पृ सं 41
39. कनुप्रिया, पृ. सं 68
40. वहीं, पृ. सं. 84
41. वाणभट्ट की आत्मकथा - ले. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. सं. 119-120
42. कनुप्रिया, ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 84
43. वहीं, पृ. सं. 62
44. वहीं, पृ. सं. 72
45. वहीं, पृ. सं. 73
46. वहीं, पृ. सं. 77
47. वहीं, पृ. सं. 77
48. वहीं, पृ. सं. 73
49. वहीं, पृ. सं. 84
50. 'सपना अभी भी' में निवेदन-ले. धर्मवीर भारती
51. 'पुराना किला' कविता, 'सपना अभी भी'-ले. धर्मवीर भारती पृ.सं. 25
52. वहीं, पृ. सं. 26
53. वहीं, पृ.सं. 31
54. 'मुनादी' कविता, वहीं, पृ.सं. 73

55. वहीं, पृ.सं. 73

56. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-3, पृ.सं. 359-360

57. 'प्रभु के लिए वर्षो बाद फिर एक कविता', 'सपना अभी भी', पृ.सं. 78

58. वहीं पृ.सं. 78

59. 'पर्व', सपना अभी भी, पृ.सं. 80

60. वहीं, पृ.सं. 79

61. वहीं, पृ.सं. 81

62. वहीं, पृ.सं. 81

63. 'क्योंकि सपना अभी भी', कविता, वहीं, पृ.सं. 98

64. 'प्रभु के लिए वर्षो बाद फिर एक कविता' वहीं पृ.सं. 38

65. 'तटस्थता: तीन आत्मकथ्य' कविता, वहीं, पृ.सं. 21

66. वहीं, पृ.सं. 23

67. वहीं, पृ.सं. 24

68. वहीं, पृ.सं. 24

69. वहीं, पृ.सं. 24

70. वहीं, पृ.सं. 22

71. वहीं, पृ.सं. 22

72. वहीं, पृ.सं. 23

73. कसौटी, अंक-15, सन् 2003, पृ. सं.-288

74. धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-3, 398

75. वहीं, पृ. सं. 398

76. वहीं, पृ. सं. 439

77. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना, सं.-पुष्पा भारती, पृ. सं. 703

78. धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-3, पृ. सं. 384

79. वहीं, पृ. सं. 383

80. वहीं, पृ. सं. 442

81. वहीं, पृ. सं. 370

82. वहीं, पृ. सं. 432

83. वहीं, पृ. सं. 447
84. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-4, पृ. सं. 476
85. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-3, पृ. सं. 369
86. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-3, पृ. सं. 430
87. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-3, पृ. सं. 372
88. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-3, पृ. सं. 455
89. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 266
90. आधुनिक और हिन्दी साहित्य-ले. इन्द्रनाथ मदान, पृ. सं. 20
91. इतिहास और आलोचना- ले. नामवर सिंह पृ. सं. 68
92. धर्मवीर भारती की साहित्य-साधना- सं. पुष्पा भारती, पृ. सं. 449
93. वहीं, पृ. सं. 450

चतुर्थ अध्याय

आधुनिक भाव-बोध के संदर्भ में भारती का गद्य-साहित्य

आधुनिक भाव-बोध के संदर्भ में भारती का गद्य-साहित्य

(क) उपन्यास

आजादी से पूर्व हिन्दी उपन्यास की मुख्यत: दो धाराएँ दृष्टिगत होती हैं। पहली धारा के उपन्यासों में विषयवस्तु और बोध के स्तर पर सामाजिक समस्याओं या विषयों को लिया गया है। इस धारा के प्रतिनिधि उपन्यासकार प्रेमचन्द, यशपाल, अश्क और भगवतीचरण वर्मा हैं। दूसरी धारा के अंतर्गत सामाजिक परिवेश में जीने वाले व्यक्ति की समस्याओं को महत्व दिया गया है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय इसी धारा के उपन्यासकार थे। दोनों ही धाराएँ आधुनिकता की चेतना से युक्त हैं। दोनों ही धाराएँ मनुष्य के दुख-दर्द का साक्षात्कार करती हैं और उनसे मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करती हुई मानवता के विकास की असीम संभावनाएँ खोलती हैं। समाज की जड़ता, धार्मिक अंधविश्वास का खण्डन और सामाजिक अंतर्विरोध को दर्शाने के साथ-साथ एक व्यापक उपनिवेशवाद विरोधी चेतना के कारण उपन्यासों की दृष्टि आधुनिक है। किन्तु आजादी के बाद के उपन्यासों के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हुआ है। इस बदलाव का मूल कारण परिवेश में बदलाव के साथ-साथ उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि भी है। आजादी के बाद नारी स्वाधीनता, समाज में नारी-पुरुष संबंध, जाति व्यवस्था से उत्पन्न समस्याएँ तथा आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न मानवीय स्थितियाँ अपनी अभिव्यक्ति एवं समाधान के लिए रचनाकारों के बीच महत्वपूर्ण विषय-वस्तु हो गई। धर्मवीर भारती के उपन्यासों के संबंध में भी यहीं सच है। उन्होंने दो उपन्यास लिखे हैं - 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'। इन दोनों ही उपन्यासों में प्रेम एक माध्यम है जिसके द्वारा भारती जी मानव-जीवन की गहराइयों में उतरकर मूल्यों और मान्यताओं के अधूरेपन पर प्रश्नचिह्न खड़ा करते हैं, साथ ही नये मूल्यों की खोज करते है। सही परिवेश के संदर्भ में जीवन को समझना और समझाना, उसके उचित मूल्यों की स्थापना करना और उसके विकासमान चरित्र को सचाई का ठोस धरातल प्रदान करना ही उपन्यासकार का लक्ष्य है।

'गुनाहों का देवता' 1949 में प्रकाशित भारती जी पहला उपन्यास है जिसमें मध्यवर्गीय समाज में किशोर प्रेम और उससे उत्पन्न संकट ही मूल समस्या है। इसमें ''प्रेम की इन्द्रधनुषी तस्वीरों के साथ यथार्थ की सामाजिक भूमियाँ और उसके पीछे आधुनिक मूल्य-संक्रांति के अटूट चित्रों की शृंखला है। ..... युवा मन की आशाओं, आकांक्षाओं और कल्पनाओं के साथ उसकी भावुक नैतिकता को कथाकार चरमबिन्दु पर पहुँचाता है, किन्तु उसके पीछे टूटती नैतिकता, ध्वस्त होती परम्परा और खण्ड-खण्ड होती कल्पनाशीलता का एक और पारदर्शी चरमबिन्दु उभरता है और उपन्यास के बोध को बदल देता है।''[1] यह काम उपन्यासकार के लिए आसान नहीं था। भारती जी ने 'गुनाहों का देवता' की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि ''इस उपन्यास को लिखना मेरे लिए वैसा ही रहा जैसा पीड़ा के क्षणों में पूरी आस्था से प्रार्थना करना।'' प्रेम और विवाह के संबंध में स्वीकृत परम्परावादी सामाजिक व्यवस्था और उस व्यवस्था के घेरे में आत्मपीड़ा, आत्मदाह की कुंठित मानसिकता एवं आस्था-अनास्था के द्वन्द्व को स्पष्ट कर देना आधुनिक भाव-बोध वाले रचनाकार से ही संभव है। इस उपन्यास में प्रेम और विवाह संबंधी परम्परागत एवं आधुनिक और भारतीय एवं पाश्चात्य, समस्त धारणाओं को समेटा गया है और उनकी विसंगतियों पर करारी चोट की गई है। अति भावुक प्रेम प्रसंगों और सुधा के वैवाहिक प्रसंगों के सापेक्ष सामाजिक मान्यताओं के समक्ष उपन्यासकार ने प्रश्नचिह्न खड़ा किया है। सुधा के पिता डा. शुक्ला की विवाह संबंधी जातीय मान्यताएँ सुधा और चन्दर के प्रेम संबंधों के प्रतिकूल पड़ती है। यहीं प्रतिकूल मान्यताएँ सुधा और चन्दर के प्रेम-संबंधों को ट्रेजडी की ओर ले जाती हैं और विवाह संबंधी जातिगत एवं सामाजिक मान्यताओं को कटघरे में खड़ा करती हैं। लेकिन समस्या यह है कि रचनाकार का रोमानी भाव-बोध प्रेम और विवाह के प्रसंग में इस कदर हावी होता गया है कि सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न सायास प्रायोजित लगने लगता है। ऐसा लगता है कि सामाजिक रूढ़ियाँ एवं मान्यताएँ सुधा और चन्दर के प्रेम में बाधा बनने के बजाय खुद सुधा और चन्दर ही बाधा बनते हैं। इनकी अतिशय भावुकता, कल्पनाशीलता और नैतिकता ही इनके प्रेम संबंधों में मुख्य

शक्तिशाली होने के साथ ही वह अंतर्मुखी, व्यक्तिवादी और अहंकारग्रस्त हैं। इसी कारण उसे विश्वास हो जाता है कि ''आदमी तभी तक बड़ा रहता है जब तक निषेध करता चलता है।''[5] पहले उसने समाज का निषेध किया, फिर व्यक्ति का निषेध किया और अंततः कर्म का निषेध कर अपनी अंतर्मुखी भावनाओं में डूब गया। जहाँ कहीं उसे अवरोध या टकराव मिलता है, वह भाग खड़ा होता है। कहीं भी सामाजिक अवरोधों को चुनौती देते हुए सुधा को टूटने से बचाने के लिए प्रयासरत होकर अपने प्रेम को ऊँचाई और मानवीय गौरव प्रदान करता दिखाई नहीं पड़ता है। विनती और सुधा की भी यहीं स्थिति है। दोनों ही अपनी अंतर्मुखता में ही कुंठित होकर टूट रही हैं, जीवन के यथार्थ मानवीय संबंधों के जीने से उत्पन्न संघर्ष के कारण नहीं।

परन्तु उपन्यास के अंत में उपन्यासकार का रोमानी भाव-बोध कमजोर पड़ता है। चन्दर पम्मी के वासनात्मक प्रेम से विमुख होता है। नैतिकता और दायित्व-बोध से सम्पन्न होकर उसका व्यक्तित्व नया रूप धारण करता है। विनती से विवाह कर सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह प्रकट करता है। इस प्रकार इस नायक की कथा-यात्रा, कुण्ठा, तनाव एवं टूटन की राहों से गुजरते हुए प्रेम, विश्वास, सौंदर्य एवं दायित्व-चेतना से युक्त होकर एक अपेक्षित सम पर पहुँचती है। 'उफनती नदी उसी तरह बहने लगती है, जैसे कुछ हुआ न हो'- उपन्यास के इस अंतिम वाक्य में मानवता की जीवन-यात्रा के प्रति गंभीर आशावादिता है। इसीलिए राम स्वरूप चतुर्वेदी ने टिप्पणी की है कि ''यह तो निश्चित है कि जिस कलाकार के हाथों 'गुनाहों का देवता' का निर्माण हुआ है, उसके अन्दर पत्थर में प्राण फूँक देने वाली क्षमता अवश्य है।''[6]

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' सन् 1952 में प्रकाशित भारती जी का दूसरा उपन्यास है। मात्र तीन वर्षों के अन्तराल के बाद इस उपन्यास का भाव-बोध पूर्णतया बदला हुआ है। यहाँ उपन्यासकार का वह रोमानी-बोध गायब है, जो 'गुनाहों का देवता' में आदि से अन्त तक छाया हुआ है। स्वयं उपन्यासकार ने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के अंत में नायक से कहलवाता है कि ''ये कहानियाँ वास्तव में प्रेम नहीं, वरन् उस जिंदगी का चित्रण है

जिसे आज का निम्न मध्यवर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता, इसलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अंधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है।''[7] रचनाकार इसी सामाजिक यथार्थ का साक्षात्कार करता है। परन्तु मात्र तीन वर्षो के अंतराल में रोमानी भावुकता से सामाजिक यथार्थ की ओर झुकाव के कारणों को स्वयं उपन्यासकार ने उपन्यास की भूमिका में स्पष्ट किया है-''मार्क्सवाद के अध्ययन से मुझे बड़ी शांति, बल और आशा मिली है और जनता के दुख-दर्द के प्रति मेरी सामाजिकता बढ़ती गई है। मैं जो कुछ लिखता हूँ उसमें सामाजिक उद्देश्य अवश्य रहता है।'' यह सामाजिक उद्देश्यता ही लेखक की दृष्टि को आधुनिक भाव-बोध से युक्त करती है। इस सामाजिक सोद्देश्यता को ही प्रेमचन्द ने साहित्यकार का मुख्य दायित्व माना है। भारती जी नायक माणिक मुल्ला के माध्यम से प्रेमकथाओं की त्रासदियाँ सुनाते समय श्रोताओं का ध्यान निम्न मध्यवर्गीय समाज की विसंगति और विद्रूपता की ओर आकृष्ट करते हैं। उनके अनुसार जब 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' लिखा गया था, तब ''गहरी निराशा का समय था, आजादी आ गई थी, परन्तु आजादी आने के साथ वे सपने चरितार्थ होते नहीं दीख रहे थे।''[8] आजादी के बाद भी राजनीतिक नेतृत्व में घुस आए भ्रष्ट, अनैतिक एवं संवेदनाहीन तत्वों के कारण सदियों से लाचार मनुष्य को गरीबी, कमरतोड़ महँगाई, बेरोजगारी, मुनाफाखोरी, घुसखोरी और मौकापरस्ती से मुक्ति की संभावना नजर नहीं आ रही थी। अपने स्वप्नों के बिखरते जाने के कारण तत्कालीन मध्यवर्ग पहले से कहीं ज्यादा असंतुष्ट, कुंठित, अवसादग्रस्त और निराश होता चला गया था। ऐसे युगीन आर्थिक संघर्ष और नैतिक विशृंखलता से निर्मित निराशाजनक वातावरण में निम्न मध्यवर्गीय समाज की छटपटाहट और कुंठा की व्यंजना इस उपन्यास में हुई है। भारती जी का आधुनिक भाव-बोध उन सामाजिक रीति-रिवाजों, रूढ़ियों और मान्यताओं को भी प्रश्नों के कटघरे में खड़ा करता है जो निम्न मध्यवर्गीय समाज की कुंठा, और अवसाद को बढ़ाने में सहायक ही हुए हैं।

इस उपन्यास में पाँच प्रेम कहानियाँ है जो सात दोपहरियों में कही गई है। परन्तु अज्ञेय इसकी भूमिका में लिखते है कि ''सूरज का सातवाँ घोड़ा'' एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी है।''[9] जिस प्रकार समाज की विविध अन्त:शक्तियाँ परस्पर संबद्ध, परस्पर आश्रित और परस्पर एकमेक होती है, उसी प्रकार इस उपन्यास की सभी कहानियाँ परस्पर संबद्ध है और इसी परस्पर संबद्धता में तत्कालीन सामाजिक परिवेश के किसी-न-किसी कटु यथार्थ को उजागर करती है। भारती जी प्रेम कहानियों को सामाजिक आधार प्रदान करते हैं और उनकी सामाजिक सोद्देश्यता को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार ''प्रेम कोई रहस्यमय, आध्यात्मिक या सर्वथा नैतिक भावना नहीं है, बल्कि एक सर्वथा मानवीय सामाजिक भावना है, जो समाज-व्यवस्था से अनुशासित होती है और जिसकी नींव आर्थिक संगठन और वर्ग संबंध पर स्थापित होती है।''[10] इन प्रेम प्रसंगों पर समाज की नैतिक-आर्थिक व्यवस्था का जो प्रभाव पड़ा है, उसके चित्रण के कारण ही भारती ने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' को सामाजिक समस्याओं का उपन्यास कहा है।[11] राम स्वरूप चतुर्वेदी ने इस उपन्यास की समस्याओं के मूल में आर्थिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए इसे प्रगतिवादी उपन्यास कहा है।[12]

इस उपन्यास की मूल समस्या समाज की झूठी नैतिकता और धार्मिक विपन्नता है जो व्यक्ति और समाज की जीवन-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देती है और इनके गर्भ से दूसरी अनेक समस्याएँ पैदा होती है। जमुना की समस्या जाति और गोत्र की झूठी मर्यादा से प्रारंभ होकर अनमेल विवाह की प्रथा में फँस जाती है। आर्थिक तंगहाली वाले परिवार की जमुना की शादी पर्याप्त दहेज के अभाव में किसी युवक व्यक्ति से न होकर आर्थिक रूप से सम्पन्न अधेड़ उम्र के जमींदार से होती है। इस अनमेल विवाह से जमुना का अर्थाभाव दूर हो जाता है परन्तु यौन तृप्ति के लिए वह नैतिक पतन का मार्ग अपनाती है। उसकी इन दो जरूरतों के समक्ष विवाह, परिवार और प्रेम के मूल्य दफन हो जाते हैं। जमुना की तरह ही तन्ना के माध्यम से लेखक ने निम्न मध्यवर्गीय युवक की जिंदगी की विडम्बना को उठाया है। तन्ना परिश्रम और ईमानदारी के बावजूद जीवन भर आर्थिक संकट से घिरा

रामधन की ओर उसका आकर्षित होना, समाज में विद्यमान यौन-विकृति की तुलना में उसके चारित्रिक पतन को ही उजागर करता है। 'गोदान' में होरी की बेटी रूपा का भी अनमेल विवाह होता है, परन्तु वह नैतिक विकृति का मार्ग नहीं अपनाती है। रूपा एक विसंगति का शिकार परिस्थितिवश होती है, परन्तु दूसरी विसंगति को अपने पास नहीं आने देती है। जबकि जमुना के व्यवहार में विसंगतियों के प्रति समझौतापरस्ती है। इसी प्रकार लिली में परिस्थितियों से पलायन करने का ही भाव है। इसका निष्कर्ष यह नहीं है कि भारती जी आधुनिक भाव-बोध से चूक गए हैं। वास्तव में भारती जी की दृष्टि रूढ़ियों और व्यवस्थागत विकृतियों से त्रस्त एवं यांत्रिक रूप से अनवरत विपन्न होते जाते निम्न मध्यवर्ग पर केन्द्रित है। उस वर्ग में जीवन संघर्ष का ऐसा कोई सकारात्मक पक्ष नहीं है जिसे विशेष महत्व दिया जाय। भारती जी के अनुसार वर्तमान निम्न मध्यवर्ग का समाज उस झील की तरह हो गया है जिसके ऊपर आधा इंच बर्फ जमी हुई है परन्तु नीचे अथाह पानी भरा हुआ है, ''जहाँ भीतर मौत है, अंधेरा है, कीचड़ है, गंदगी है। अब या तो दूसरा रास्ता बनाओ, नहीं तो डूब जाओ।''[13] भारती जी ने 'दूसरा रास्ता' तलाशने वाले पात्रों की सर्जना नहीं की है, बल्कि 'डूब जाने' वाले पात्रों का ही चित्रण किया है।

परन्तु आर्थिक दबावों और सामाजिक मर्यादाओं के साये में प्रेम संबंधों के निरर्थक पड़ते जाने से भारती जी निराश नहीं है। उन्हें प्रेम-संबंधों की सार्थकता पर पूर्ण विश्वास है। सत्ती की माणिक मुल्ला के प्रति वफादारी प्रेम की संज्ञा को सार्थक करता है। सत्ती, लिली की तरह न तो आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से सम्पन्न है और न ही जमुना की तरह नैतिक रूप से हीन हैं। परिश्रम, ईमानदारी, चरित्र और वफादारी में वह तन्ना की बराबरी करती दिखाई पड़ती है। उसका प्रेम, जीवन और समाज के सामान्य व्यवहारों के प्रति उपेक्षा या उदासीनता प्रकट करने के बजाय उनके बेहतर निर्वाह की ओर अग्रसर होता है। उसका प्रेम मानवीय संबंधों को सहजता से जीने के लिए प्रेरित करता है। यहीं कारण है कि सत्ती के सानिध्य में माणिक के व्यवहार में सकारात्मक एवं उन्नयनकारी परिवर्तन दिखाई देता है। उसका व्यक्तित्व माणिक को नैतिक विकृतियों के अंधकूप में नहीं गिराता

है जैसा कि जमुना, तन्ना को गिराने का प्रयत्न करती है। उसकी नैतिक दृढ़ता यौन-शोषण के तमाम प्रयत्नों से मुकाबला करने की उसे क्षमता प्रदान करती है। परन्तु माणिक की मध्यवर्गीय कायरता और स्वार्थपरकता के कारण सत्ती का प्रेम भी सार्थक परिणति को प्राप्त नहीं करता है। माणिक भी अन्य निम्न मध्यवर्गीय चरित्रों-तन्ना, जमुना, लिली आदि की भाँति अपने संस्कारगत लिबास से चिपटा रहता है। सत्ती की अस्मिता से खेलने वालों के प्रति उसमें आक्रोश पैदा नहीं होता। उसके भरोसे अपने घर से भाग आई सत्ती को अपनाने की भी उसमें हिम्मत नहीं है। सत्ती के संरक्षक चमन ठाकुर को उसके भाग आने की सूचना देकर उसके साथ दगा करता है। इस प्रकार सत्ती के सशक्त और सजीव व्यक्तित्व के समक्ष माणिक का क्षुद्र, निस्सत्व, कायर एवं खुदगर्ज रूप ही उजागर होता है। सहज मानवीय संबंधों को सच्चाई, ईमानदारी और वफादारी से जीने के लिए तत्पर सत्ती अशिक्षित होने के कारण न केवल मध्यवर्गीय वास्तविक चरित्र को समझ नहीं पाती बल्कि कानून के सामने आत्मसमर्पण कर देती है। सत्ती का प्रेम और उसका चरित्र मध्यवर्गीय संस्कारों के समक्ष एक प्रश्नचिह्न है जो अपनी कोढ़ग्रस्त मानसिकता से बाहर आने का प्रयत्न नहीं करता है।

लेकिन गहरी निराशा एवं मध्यवर्गीय मूल्यों के ध्वंस के बावजूद भारती जी द्वारा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उतारने की परिकल्पना मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था और विश्वास का परिणाम है-''सूर्य के रथ के छह घोड़े दुर्बल, रक्तहीन, विकलांग है। पर सातवाँ घोड़ा हमारे भविष्य का घोड़ा है। तन्ना, जमुना, सत्ती के नन्हें निष्पाप बच्चों का घोड़ा जिनकी जिंदगी, हमारी जिंदगी से ज्यादा अमन-चैन की होगी।''[14] स्पष्ट है कि भारती जी मनुष्य की मौजूदा अमानवीय अवस्था में परिवर्तन संभव मानते हैं। परन्तु विडम्बना यह है कि यह सातवाँ घोड़ा कथा के बीच से अवतरित नहीं होने के कारण काल्पनिक ही अधिक लगता है। भारती जी भविष्य के इस घोड़े का सामाजिक आधार स्पष्ट करने की जरूरत नहीं समझते। वे मनुष्य के अंत: में ही इसके आधार की खोज करते हैं- ''पर कोई-न-कोई ऐसी चीज है जिसने हमें हमेशा अंधेरा चीरकर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुन: स्थापित करने की

ताकत और प्रेरणा दी है।''[15] इस प्रकार वे मनुष्य में ही निहित उत्तरोत्तर विकास की प्रवृत्ति तथा मुक्ति की कोशिश को वह आधार मानते हैं जिसमें मानवता के मूल्यों को पुनः स्थापित करने की ताकत है। यहीं वह आधार है, जिसके माध्यम से 'सातवाँ घोड़ा' अवतरित होगा। मनुष्य के अंतः में निहित मुक्ति की कोशिश को अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता और न ही मनुष्य की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को झुठलाया जा सकता है। परिवर्तन एक दार्शनिक ही नहीं, बल्कि इतिहास-सम्मत सत्य है और मानववृत्ति इससे अछूती नहीं है। भारती जी के अनुसार मनुष्य के अन्तर में ये वृत्तियाँ सामाजिक विसंगतियों के विरूद्ध प्रतिक्रियास्वरूप नहीं होती बल्कि सृष्टि के सुन्दर और रमणीय रूपों को प्राप्त करने की इच्छा से जुड़ी हुई है। वे स्पष्टतः लिखते है- ''सामाजिक विसंगतियों के रेगिस्तान में मौजूद मनुष्य की रागात्मकता को उद्‌बुद्ध करने वाला एकाध शाद्वल ही उसे जीवन की शस्य श्यामला भूमि में बदलने की स्फूर्ति देता है।''[16] इस प्रकार परिवर्तन के मूल बीज को मनुष्य के अंतः में निहित मानकर भारती जी सर्वप्रथम व्यक्तिगत स्तर पर थोथे आदर्शों तथा झूठे तर्कहीन मर्यादाओं से मुक्ति को आवश्यक मानते हैं। व्यक्तिगत स्तर पर संकीर्ण मानसिकता से मुक्त होकर ही सामूहिक स्तर के खोखले आदर्शों और मान्यताओं से मुक्त हुआ जा सकता है।

इस प्रकार 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की प्रेम कहानियाँ रूमानी भाव-बोध से सर्वथा अलग आधुनिक भाव-बोध से युक्त है। इसी कारण ये कहानियाँ सामाजिक यथार्थ को उजागर करती हैं। तर्कहीन संस्कारों एवं अवैज्ञानिक मर्यादाओं के खोल में लिपटा मध्यवर्गीय समाज जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। आर्थिक दबाव इस स्थिति को और दारूण एवं असहनीय बनाता है। तत्कालीन समाज में विकल्पहीनता की स्थिति भी मध्यवर्ग की विडम्बना के लिए एक सीमा तक जिम्मेदार है। इसके बावजूद 'सूरज के सातवें घोड़े' के माध्यम से निम्न मध्यवर्गीय समाज के जिर्णोद्धार द्वारा उज्ज्वल भविष्य की संभावना व्यक्त की गई है। मानवता से अटूट प्रेम, जीवन के प्रति आस्था, बाह्य वास्तविकताओं के अनुकूल सोचने-समझने की सामर्थ्य और उज्ज्वल भविष्य के प्रति विश्वास ही इस कृति को आज भी सार्थकता प्रदान करते हैं।

(ख) कहानी

हिन्दी कहानी को आधुनिकता की चेतना से युक्त कर नवीन धरातल प्रदान करने का श्रेय प्रेमचन्द और उनके समकालीन कहानीकारों को जाता है। इस काल की कहानियों में जीवन और समाज के संबंधों को यथार्थ के धरातल पर अभिव्यक्ति मिली है। इनमें एक ओर आदर्शवादी स्वर की प्रधानता है तो दूसरी ओर अपने परिवेश से उत्पन्न यथार्थवादी संबंधों का स्वीकार है, चाहे वे कितने ही अमानवीय एवं भयावह है। इन कहानियों का एक निश्चित ढाँचा होता था। शिल्पगत परिवर्तन जैसी चीज इन कहानियों में अत्यंत ही कम है।

जिसे नयी कहानी कहा जाता है, का इतिहास सन् 1955 से शुरू होता है। यहीं से कहानीकारों की दृष्टि में बदलाव आता है। नयी कहानी, केवल जीवन खण्डों या घनीभूत क्षणों का सम्प्रेषण ही नहीं बल्कि उनमें निहित अर्थों या मूल्यों की कहानी है। बदलते हुए सामाजिक परिवेश और ज्ञान-विज्ञान के नए आयामों ने जब मूल्यों की एक संक्रांति खड़ी कर दी, तो नयी कहानी ने इस संक्राति को अभिव्यक्त करने का उत्तरादायित्व पूरा किया और प्रेमचन्द्र, प्रसाद, जैनेन्द्र और यशपाल की कहानी परम्परा, नवीन भाव-बोध, नये जीवन-संदर्भ और नये शिल्प-बोध की ओर अभिमुख हुई। नयी कहानी में देश का विभाजन और इससे उत्पन्न त्रासदी, मोहभंग, यांत्रिकता, विसंगतियाँ, परिवारों का विघटन, राजनीतिक भ्रष्टाचार और व्यापक असंतोष के बीच साँस ले रहे मनुष्य और उसकी नियति को स्थान मिला। ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों से प्रस्फुटित होने के कारण नयी कहानी में ऐसे मूल्यों की तलाश का प्रयत्न निहित है जो गत्यात्मक परिवेश में मानवीय संबंधों को पुनर्परिभाषित करने के साथ ही मानवीय अस्तित्व और अस्मिता को स्थापित करते हैं। इस प्रकार नयी कहानी में कथ्य महत्वपूर्ण हो गया। कहानी का बना बनाया ढ़ाँचा महत्वहीन हो गया। कहानी में, कहानीकार की दृष्टि, इस प्रकार प्रामाणिक अनुभूति एवं कथ्य ही प्रमुख हो गया। इस तथ्य को लक्ष्य करते हुए डा. देवी शंकर अवस्थी 'कहानी में भाषिक प्रयोगों को महत्व न देकर कहानीकारों की दृष्टि को महत्व देते हैं, जो

बाह्य यथार्थ से छवियों को चुनती है।"[17] भारती जी की कहानियों में भी बाह्य सामाजिक परिवेश से छवियों को चुनने का प्रयास निहित है। प्रश्न यह है कि भारती जी की जीवन-दृष्टि कहाँ तक आधुनिक भाव-बोध से युक्त है? सामाजिक यथार्थ के अंकन में वे कहाँ तक सफल हो पाए है?

धर्मवीर भारती की कहानियों के मुख्यतः दो संग्रह है - 'चाँद और टूटे हुए लोग' (1955) और 'बंद गली का आखिरी मकान' (1969) इन दो संग्रहों से पहले उनका एक कहानी-संग्रह 'मुर्दो का गाँव' सन् 1946 में प्रकाशित हुआ था। किन्तु इस संग्रह की सारी कहानियाँ 'चाँद और टूटे हुए लोग' में समाविष्ट कर ली गई। यह संकलन तीन खण्डों में विभाजित है- 'चाँद और टूटे हुए लोग', 'भूखा ईश्वर' और 'कलंकित उपासना'। 'मुर्दो का गाँव' संग्रह की कहानियाँ द्वितीय खण्ड 'भूखा ईश्वर' में संकलित है। 'बंद गली का आखिरी मकान' में केवल चार कहानियाँ संकलित हैं। इसके अतिरिक्त सन् 2000 में भारती का एक कहानी-संग्रह 'साँस की कलम से' प्रकाशित हुआ, जिसमें उपर्युक्त दोनों संग्रहों में संकलित कहानियों सहित कुल 36 कहानियों का संकलन किया गया हैं। 'चाँद और टूटे हुए लोग' की अधिकांश कहानियाँ प्रेम विषयक होने के कारण भावुकता-प्रधान और रोमांटिक है। किन्तु भावुकता-प्रधान और रोमांटिक होने मात्र से कोई कहानी आधुनिक भाव-बोध से कट नहीं जाती। देवीशंकर अवस्थी ने भावुकता को कहानी के पुरानेपन या नएपन का मापदण्ड मानने से इंकार किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि यथार्थ के आग्रह के कारण भावुकता को छोड़ देना वास्तव में कहानी को कमजोर कर देना है। कोई भी कहानी अपनी भावुकता में भी व्यापक अनुभूतियों को झलक दे सकती है बशर्ते कि वह मानवीय सरोकारों से टकराती हो।[18] इसी प्रकार रोमांटिकता आधुनिकता की विरोधी नहीं है। आधुनिक भाव-बोध मानव विकास-यात्रा की जटिल, संश्लिष्ट एवं गत्यात्मक प्रक्रिया का बोध है। यदि रोमांटिकता इस बोध की प्रक्रिया में बाधक नहीं बनती है तो वह आधुनिक भाव-बोध की विरोधी नहीं हो सकती है।

परन्तु भारती जी की प्रेम विषयक कहानियाँ यथार्थ-बोध से पूर्णतः कटी हुई हैं। 'तारा और किरण', 'कलाः एक मृत्यु चिह्न', 'स्वप्न श्री और श्री रेखा', 'पूजा' तथा 'चाँद और टूटे हुए लोग' कहानियों में प्रेम-वर्णन, संस्कृत काव्यों के नायक-नायिका प्रेमालाप जैसा लगता है। यदि ये कहानियाँ युग-बोध से गहरे स्तर जुड़ी होती तो मानवीय एवं सामाजिक सरोकारों से अवश्य टकराती। ऐसा नहीं है कि भारती जी में युगबोध का अभाव था। ये अपनी द्विधाग्रस्त स्थिति को स्वीकार करते है कि ''मैं प्रेम के रोमानी अंश को नहीं मानता। फिर भी उसे अस्वीकार नहीं कर पाता।''[19]

इसके विपरीत इस संग्रह की कुछ ऐसी कहानियाँ है जो भावुकता के बावजूद मानवीय एवं सामाजिक संवेदना का साक्षात्कार करती हैं। उनमें जीवन और समाज के अनेक पर्त इस प्रकार अभिव्यक्त हुए हैं कि भारती जी की 'रोमांटिक' छवि एकाएक खण्डित हो जाती है। प्रेम और काम विषयक कहानियों के विपरीत इन कहानियों में टूटते मानव संबंधों एवं दम तोड़ती मानवीय संवेदना का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। अपनी पूर्ण कलात्मकता में यथार्थ-बोध इतना तीव्र एवं गहरा है कि इन कहानियों में एक साथ आक्रोश, वेदना, छटपटाहट और यंग्य व्यक्त हुआ है। 'मुर्दो का गाँव', 'धुँआ', 'मरीज नम्बर सात', 'हिन्दू और मुसलमान', 'हरिनाकुस और उसका बेटा', 'कुलटा', 'भूखा ईश्वर' और 'कफन चोर' ऐसी कहानियाँ हैं, जो असहनीय रूप से दिल दहला देने वाली दारूण परिस्थितियों को उपस्थित कर देती हैं। ये कहानियाँ यद्यपि नयी कहानी आंदोलन की शुरूआत से काफी पहले लिखी गई हैं, परन्तु संवेदना की सघनता की दृष्टि से नयी कहानी आंदोलन की पृष्ठभूमि साबित होती हैं।

भारती जी अपने समकालीन देशभक्त युवाओं की तरह सन् 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में शामिल हुए थे। देश की दुर्दशा ने उसके अन्तर्मन को झकझोर डाला था। इसी बीच सन् 1943 में बंगाल के अकाल में पहले से लाचार और गरीब लाखों लोग काल कवलित हो गए। इस दारुण एवं नारकीय यथार्थ ने भारती जी को आंदोलित कर दिया। यह असहनीय विभीषिका ही भारती जी इन कहानियों का मुख्य विषय है। लेकिन

अकाल और विभीषिका का चित्रण करना ही भारती का उद्देश्य नहीं है, बल्कि एक ऐसी विभीषिका, जो प्राकृतिक होने की तुलना में मानवकृत अधिक है, का दृश्य उपस्थित करते है जिसने मानवता के समस्त आदर्शवादी मुखौटे की उतारकर उसे पूर्ण विद्रूपता के साथ खोल दिया है। 'मुर्दो का गाँव', 'धुँआ', 'मरीज न0 सात', 'भूखा ईश्वर' और 'कफन चोर' आदि अन्न के अभाव में मरनेवाले लोगों की कहानियाँ नहीं है, बल्कि मानवीय संवदेना की मृत्यु की घोषणा है। बंगाल के इस 'मुर्दो का गाँव', में बेजान लाशें और कंकालों को घिसटती हुई लाशें, शासन, धर्म, समाज की व्यवस्थाओं पर एक प्रश्नचिह्न है।

अकाल में क्षुधा-पूर्ति नहीं होना एक भयानक विसंगति है, क्योंकि क्षुधा-पूर्ति जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। अन्न का यह अभाव प्राकृतिक से अधिक मानवकृत है क्योंकि जहाँ एक ओर सरकार पर्याप्त अन्न उपलब्ध कराने के प्रति उदासीन है वहीं दूसरी ओर शोषक सेठों ने अन्न का कृत्रिम अभाव पैदा कर अधिकाधिक लाभ कमाने का सुअवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहते हैं। वे भूखे लोगों के पैसों के बदले खोटे सिक्के देकर कहते हैं कि इसी अधर्म के कारण अकाल पड़ा है। अर्थात् धन की भूख इंसान को किस प्रकार मानवीय संवेदना से रहित और अमानवीय बना देती है, 'भूखा ईश्वर' इसका प्रमाण है। भूख की पीड़ा से दम तोड़ लेने वालों के प्रति भी इन धनचूषक सेठों की शिकायत रहती है कि ''जहाँ देखो कमबख्त मक्खियों की तरह मर जाते हैं। आने-जाने का रास्ता तो कम-से-कम छोड़ दें।''[20] भूखों से, मरने के पहले, रास्ता छोड़ देने की आशा रखने वाले सेठों के मानव होने पर प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है। ये सेठ ऐसे जीव हैं जो वास्तव में 'आदमी का गोश्त' खाकर ही मोटे हो जाते हैं। भारती जी ने सेठों की हृदयहीनता और अमानवीयता की सियारों के रूपक के माध्यम से भर्त्सना की है। भूख से मरे लोगों को खाकर सियार मोटे हो जाते है। इसीलिए मोटे सेठ को देखकर 'आदमी का गोश्त' में सियार सोचता है ये सेठ इतने मोटे कैसे होते हैं। मैं समझता हूँ शायद वे जिंदगी भर आदमी का गोश्त खाते होंगे।''[21] इंसान और इंसानियत का जीवन-रस चूसने वाली इस

महाजनी और पूँजीवादी मानसिकता की क्षुद्रता पर व्यंग्य करने के लिए इससे अच्छा रूपक नहीं दिया जा सकता है।

भूखों के जहाँ-तहाँ मर जाने से सेठ ही नहीं, इन सेठों की रक्षक सरकार भी परेशान है क्योंकि भूखों ने ''बिना सरकार की असुविधा का ध्यान रखे ज्यादा-से-ज्यादा संख्या में श्मशान-यात्रा का निश्चय कर लिया था।''[22] परिणामतः सेना को रसद पहुँचाने वालों रास्तों पर मरी एवं अधमरी लाशें पड़ी हुई हैं। यदि सेना को रसद पहुँचाने की जरूरत नहीं होती तो सरकार इन मुर्दों को हटाने का तनिक भी प्रयास नहीं करती। ऐसे ही रसद पहुँचाने वाली एक गाड़ी के नीचे एक भूखे बच्चे के आ जाने पर एक गोरे शासक ने कहा-''बच्चे को दबने से पहले चीखना चाहिए था। दबने के बाद चीखना बच्चे की नादानी है।''[23] वास्तव में 'बच्चे की नादानी' उपनिवेशवादी सरकार एवं सेना के अधिकारियों की मरी हुई संवेदना पर तीखा व्यंग्य है। इस संवेदनशून्यता का शिकार सरकार का प्रत्येक अमला है। भूख एवं बीमारी से ग्रस्त लोगों को सरकारी डॉक्टर अस्पताल में दाखिल नहीं करते। वे भूखों को शीघ्रता से इंजेक्शन देकर अस्पताल से निकाल देते हैं क्योंकि ''यहाँ मरेंगें तो सरकार की बदनामी होगी।'' अर्थात् डाक्टरों एवं नर्सो की 'शीघ्रता' भूखों एवं बीमारों के इलाज के लिए नहीं है। इस प्रकार भारती जी ऐसे माहौल का निर्माण करते हैं जिसमें सरकारी अधिकारी एवं कर्मचारी स्वयं के कृत्यों के कारण ही उपहास के पात्र बन जाते हैं लेकिन हमारा मन-मस्तिष्क एक तीखे आक्रोश से भर उठता है।

भारती जी की आधुनिक दृष्टि धर्म के उस चरित्र का पर्दाफाश करती है जो मनुष्य एवं मानवीय संवेदना के महत्व को नकारती है और व्यक्ति की पहचान उसकी धार्मिक आस्था के आधार पर करती है। 'हिन्दू और मुसलमान' कहानी में नर्स डाँटकर एक भूखे मरीज से उसका धर्म पूछती है, परन्तु मरीज जवाब नहीं देता है ''क्योंकि वह मर चुका था मुर्दों के मजहब की पहचान नहीं होती, क्योंकि वे ईश्वर के पास चले जाते हैं।''[24] नर्स और डॉक्टर के ऐसे संवेदनाशून्य आचरण का कारण है-''सरकार यह नहीं पूछती कि आदमी भूखा था या प्यासा। सरकार यह पूछती है कि

आदमी हिन्दू था या मुसलमान?''[25] यह वह कटु यथार्थ है जिसके कारण भारतीय प्रान्तों में रहने वाले हिन्दू और मुसलमान रहन-सहन, पहनावा, खानपान और भाषा के स्तर पर एक होने के बावजूद एक दूसरे का गला काटने के लिए टूट पड़ते हैं। क्या अस्पताल में दी जाने वाली दवायें हिन्दू और मुसलमान पर अलग-अलग असर दिखाती हैं? भूख और गरीबी से त्रस्त हिन्दू-मुसलमान को छाँटते अस्पताल के रजिस्टर के प्रति नहीं, बल्कि उस विभेदकारी प्रवृत्ति के समक्ष भारती जी का यह प्रश्न निराशा नहीं, बल्कि आक्रोश पैदा करता है। एक ओर नर्सों एवं डॉक्टरों की लापरवाही, दूसरी ओर नर्स की जगह मरते मरीज के हलक में पानी डालती एक बुढ़िया, जिसे भी अस्पताल से निकाल दिया गया है, को रखकर भारती जी मानवीय संवेदना का भी साक्षात्कार करते हैं। उस बुढ़िया को कहीं भी सहारा नहीं मिलता है क्योंकि भूख से मरने वाले के लिए तो स्वर्ग का भी दरवाजा बन्द मिलता है। ऐसे लोगों की ईश्वर भी सहायता नहीं करता, क्योंकि ईश्वर भी सेठों के यहाँ डिनर लेता है। इसलिए, भारती जी के अनुसार, ''उसके हाथों में हथकड़ियाँ है और उस पर सेठ के नौकरों का पहरा है।''[26] वर्तमान समय में सेठों ने ही नहीं, राजनेताओं, उद्योगपतियों और नौकरशाहों ने भी भगवान को अपने-अपने यहाँ क़ैद कर रखा है और प्रत्येक अनुचित, अनैतिक एवं भ्रष्ट आचरणों के उचित होने की पुष्टि कराते रहते हैं। यह एक विसंगति है कि जिस ईश्वर को असीम, सर्वशक्तिमान और दयालु परिकल्पित कर उसके प्रति हम आस्था व्यक्त करते हैं, उसी ईश्वर को अपने तुच्छ स्वार्थों को साधने हेतु कुछ लोगों ने अपाहिज और शक्तिहीन बना रखा है।

क्षुधा-पूर्ति का अभाव आज की एक-चौथाई भारतीय जनसंख्या का कड़वा सच है। भूख और उससे उत्पन्न पीड़ा ने मनुष्य को बहुत अपमानित किया है। 'हिन्दू और मुसलमान' की भूखी बुढ़िया द्वारा भीख माँगे जाने पर दरबान कहता है-''अगर तू जवान होती तो इज्जत बेचने पर शायद 8-10 पैसे भी मिल जाते।''[27] तो उसकी बेबसी एवं पीड़ा की सारी सीमाएँ टूट जाती है और उसकी ''झुर्रीदार पलकों में दो बेहया आँसू झलक गए।'' अर्थात् बुढ़िया की पीड़ा और बेबसी सारी सीमाएँ तोड़कर 'बेहया आँसू' के रूप में

झलक गए। मानवता का इससे बड़ा अपमान क्या हो सकता है? ये 'बेहया आँसू' समस्त तथाकथित मानवतावादी आदर्शों, प्रतिष्ठानों एवं संस्थाओं की सार्थकता के समक्ष सवाल खड़े करते हैं। 'धुँआ' कहानी की औरतें हवस की भूख मिटाने के लिए नहीं, बल्कि पेट की भूख मिटाने के लिए अस्मतफरोशी का अपमानित और नारकीय जीवन जीती हैं। भूख की पीड़ा से त्रस्त यहीं औरतें सराय में आग लगने पर बेहाल होकर जब सड़क पर भागती हैं तो लोगों के व्यंग्य-वाण और अश्लील फब्तियाँ उन अस्मतफरोश औरतों का नहीं, बल्कि संपूर्ण मानवता का अपमान है। यह अपमान व्यक्ति की संवेदना और जज्बातों को इस कदर तोड़ देता है कि वह जानवरनुमा जिंदगी के लिए अभिशप्त हो जाता है। 'भूखा ईश्वर' में एक बाप की संवेदना इस कदर मर गई है कि वह अपने मरते हुए बच्चे को रोटी न देकर स्वयं खा जाता है तथा कुते की मुँह से पत्तल खींचकर अपनी भूख मिटाता है। उसका यह जानवरपन किसी भी सत्ता व्यवस्था के समक्ष प्रश्नचिह्न है। इस प्रकार भूख, पीड़ा, अपमान और मानवीय संवेदनशीलता का पतन, भारती जी कहानियों में समानान्तर रूप में आते हैं। इस कारण भारती जी की कहानियाँ देश-काल की परिधि को लाँघकर, वर्तमान समय में जबकि विश्व का एक बड़ा हिस्सा भूख से पीड़ित है, कल्याणकारी आदर्श राज्यों से उनके 'कल्याणकारी' होने का अर्थ पूछती हैं।

भारती जी की विशेषता यह है कि वे प्रेमचन्द की तरह अपनी सृजनात्मक चेतना में मानवीय संवेदना के तन्तुओं की पहचान कर लेते हैं, 'मुर्दो का गाँव', 'हिन्दू और मुसलमान', 'कुलटा' तथा 'हरिनाकुस और उसका बेटा' में तमाम विसंगतियों के बीच मानवीय संवेदना की सजीवता को भी उद्घाटित करते हैं। 'मुर्दो का गाँव' में भारती जी की संवेदनशील दृष्टि जुलाहिन की वापसी के माध्यम से मानवीय संवेदना को स्पर्श करने का प्रयास करती है। घर से निकाल दिए जाने के बावजूद जुलाहिन, जुलाहे के मरने के पहले उसके खाने के लिए जड़ें लेकर आती है। यह संवेदनात्मक बंधन ही है जिसके कारण भूख की पीड़ा से त्रस्त जुलाहे को खिलाने और मरने से पहले उसका सानिध्य पाने की जिजीविषा को भूख की पीड़ा परास्त नहीं कर पाती है। अखिल और उसके मित्र ने दोनों

आदर्शों से भटक गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य चूक गया है या उसके लिए प्रेम जीवन-दायी शक्ति नहीं रहा। 'अमृत की मृत्यु' कहानी में भारती जी लिखते हैं-''क्या दुख और मृत्यु, यहीं जीवन की सीमाएँ है? तुमने जीवन की बड़ी संकुचित व्याख्या बना रखी है आचार्य। मनुष्य को इतना दुर्बल, इतना छोटा मत बनाओ। भव्य! इससे मानव की मानवता का अपमान होता है।''[33] मानव की मानवता का अपमान भारती जी के लिए असह्य था और यही उनके आधुनिक भाव-बोध का मूल केन्द्र बिन्दु है।

भारती जी के दूसरे संग्रह 'बंद गली का आखिरी मकान' की कहानियाँ, सन 1955 से 1969 के बीच में लिखी गई हैं। ये कहानियाँ, संवेदना और शिल्प दोनों स्तरों पर, कहानी के परम्परागत स्वरूप को पूरी सार्थकता से तोड़ती हैं। सामाजिक परिवेश के कटु यथार्थ को स्वानुभूति के स्तर पर लाकर अभिव्यक्त करने के कारण इन कहानियों में मानवीय-यातना के प्रति गहरी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है। भारती जी ने कस्बाती परिवेश के निम्न मध्य वर्ग के बहुरंगी जीवन, समस्याओं और परिस्थितियों का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण किया है। मानव नियति के इस यथार्थ साक्षात्कार को देखकर ही निर्मल वर्मा टिप्पणी करते हैं-'उत्तर पूर्वी भारत के कस्बाती जीवन का ताना-बाना जितने महीन रेशों से भारती ने अपने कथा-विन्यास में बुना है, उतना शायद ही किसी समकालीन हिन्दी लेखक ने। यदि स्वातंत्र्योत्तर भारत के ग्राम जीवन के अद्‌भुत चितेरे रेणु है तो शहरी गलियों के धूप-छाँही संसार के 'मिनियेचर चित्रकार' भारती हैं।''[34] धूल, कीचड़ एवं गन्दगी से सनी ये तंग गलियाँ वास्तव में उस तंग एवं दमघोंटू जीवन का प्रतीक मात्र है जो निम्न मध्यवर्गीय जीवन की सचाई बन चुका है। चाहे सहनशीलता और जीवट भरा जीवन जीती तथा पति द्वारा छोड़ दी गई बदशक्ल कुबड़ी गुलकी हो या लम्बी बीमारी से पस्त एवं मौत के साये में अवसाद ग्रस्त सावित्री हो, या प्रतिकूल परिस्थितियों से ऊपर उठने की छटपटाहट लिए बेबस दीनू हो या बेगानेपन, अजनबीपन एवं अपनों की उपेक्षा के शिकार बूढ़े मुंशी जी हो, सभी किसी-न-किसी रूप में कस्बाती परिवेश की स्वार्थपरकता, दम तोड़ती संवेदनशीलता एवं निरीह पड़ती मानवता का उद्‌घाटन करते हैं। भारतीय समाज में

का, दो युगों का एवं दो जीवन मूल्यों का अन्तर्विरोध है। इस टकराव में दोनों पीढ़ियों से जुड़े लोगों के सपने बिखर जाते हैं। पुराने और नए मूल्यों एवं जीवन पद्धतियों की टकराहट में आहत युवा दीनू छटपटाहट महसूस करता है। भारती जी का मूल प्रश्न यह है कि तमाम सद्प्रयत्नों के बावजूद युवा दीनू का क्या यहीं दोष है कि वह अप्रासंगिक हो चुके जीवन-मूल्यों से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता? क्या उसका दोष यहीं है कि दुर्दिन के दिनों में उसकी सहायता करने वाले डा. चाचा और चाची के साथ सदैव रहना चाहता है? माँ द्वारा किरायेदार डा. चाचा को घर से निकाल दिए जाने के कारण दीनू इस कदर आहत होता है कि माँ को ईश्वर तुल्य मानना छोड़ दिया। उसने माँ के कहने पर उन रिश्तेदारों का अपने घर में रहना स्वीकार नहीं किया जो दस-दस रुपये की आर्थिक सहायता सूद वसूल करके किया करते थे-''तुम्हारे ये कमीने रिश्तेदार यहाँ जमा हुए तो मैं इस घर में कदम नहीं रखूँगा।''[39] उसकी लाचारी एवं पीड़ा तब चरम सीमा पर पहुँच जाती है जब मकान की मरम्मत में वह बर्बाद होने लगता है। सुप्रसिद्ध कवि पाश की एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण पंक्ति है-''सबसे खतरनाक होता है आदमी के सपनों का मर जाना।''[40] दीनू भी अपने सपनों, अपनी भावनाओं एवं इच्छाओं पर निर्मम चोट से इतना आहत होता है कि वह माँ से विद्रोह कर देता है। लेकिन इसके बावजूद उसकी आंतरिक उद्विग्नता शांत नहीं होती। वह महसूस करता है कि मकान माँ की कमजोरी है। इस प्रकार जीवन-मूल्यों के इस टकराव में भारती जी न तो नये मूल्यों का पक्षपोषण करते हैं और नहीं पुराने मूल्यों के प्रति अतिशय भावुकता प्रदर्शित करते हैं। कुछ आलोचकों को दीनू का यह अकारण पराजय-बोध खटकता है। इसके पीछे भारती जी का आर्य समाजी संस्कार उत्तरदायी लगता है। वास्तव में दीनू का पराजय-बोध इस बात का संकेत है कि पश्चाताप एवं करूण स्वीकृति नयी पीढ़ी में है, पर तनाव और टकराव का कोई स्थायी समाधान नहीं।

दीनू यदि अपनी माँ से टकराता है तो बूढ़े मुंशी जी को अपनी बहन से उपेक्षा मिलती है। मुंशी जी जिस बहन बिटौनी के पालन-पोषण एवं विवाह करने के लिए स्वयं

अविवाहित रहते हैं, वहीं उन्हें नीच करार देती है जिसके कारण पहले से ही सीमित सामाजिक संबंधों वाले मुंशी जी का व्यक्तित्व गतिहीन हो गया। बिटौनी की इस कृतघ्न करतूत से लोगों की सहानुभूति मुंशी जी के साथ अवश्य हुई, परन्तु उनका अकेलापन यथावत रहा क्योंकि लोगों तक पहुँचने का जो संबंध होना चाहिए, वह तो पहले ही समाप्त हो चुका था। लोगों की सहानुभूति तो मात्र प्रतिक्रियास्वरूप थी, जिससे भावनात्मक संस्पर्श की आशा नहीं की जा सकती है। इसी कारण यह सहानुभूति भी अत्यन्त क्षणिक सिद्ध होती है। अकेलेपन एवं निरर्थकता बोध को तोड़ने के लिए मुंशी जी शेष जीवन परित्यकता ब्राह्मणी बिरजा के सहारे काटने का साहस कर जाति-बिरादरी के रिवाजों और धार्मिक रूढ़ियों को चुनौती देते हैं। इन यांत्रिक रीति-रिवाजों का गुलाम समाज मुंशी जी के साथ खड़ा होने के बजाय उन्हें उल्टे लाँछित करता है। उनकी सारी मानवीय संवेदना उस समय नष्ट हो जाती है। ऐसे समस्त सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों एवं मानवीय संबंधों की प्रासंगिकता उस समय संशय के घेरे में आ जाती है, जब इनके कारण एक वृद्ध व्यक्ति अकेलेपन एवं असहायता का जीवन जीते हुए टूटने लगता है।

समाज के विरोध के बावजूद अत्यन्त स्वस्थ मन से मुंशी जी बिरजा को स्वकीया के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं कि ''यह देहरी तो अब बिरजा की है, राघो की है।''[41] यह संबंध इतना स्वस्थ एवं गहरा था कि मुंशी जी ने इस बात का तनिक भी विचार नहीं किया कि बिरजा के पुत्र-राघो और हरिया उनके अपने पुत्र नहीं है। इसलिए समस्त जाति-बिरादरी को ठोकर मारते हुए वे राघो से मृत्युपरान्त पिण्डदान पाने की इच्छा रखते हैं। बिरजा की माँ हरदेई भी 'ब्राह्मणी अभिमान' को कुचलते हुए स्पष्ट रूप से कह देती है-''जाति-बिरादरी हमारे ठेंगे पर। हरदेई के लिए बेटा कहो तो मुंशी जी, दामाद कहो तो मुंशी जी।''[42] लेकिन एक बार फिर जातिगत सीमाएँ ठोकर मारती हैं। बड़े बेटे राघोराम के विवाह-प्रसंग में अपने लिए प्रयुक्त किए गए 'नकली बाप' शब्द सुनकर मुंशी जी का संपूर्ण अस्तित्व हिल उठा। बिरजा भी 'खून के तकाजे' पर विचार करने लगती है। परिणाम यह होता है कि जातीय अपमान का कड़वा घूँट पीकर भी बिरजा के साथ शेष जिन्दगी गुजारने का मुंशी जी का सपना टूट जाता है। जातिगत अभिमान एवं

सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों के समक्ष निर्जीव पड़ते जटिल मानवीय संबंधों की विसंगति और गहरी हो जाती है। साथ रह जाती है बंद गली के आखिरी एवं सूने घर में अकेलेपन की पीड़ा और निरर्थकता बोध। भारती जी ने एक स्थान पर लिखा है कि ''मानवीय गौरव का अर्थ यह है कि मनुष्य को स्वतंत्र, सचेत, दायित्वयुक्त माना जाय जो अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है।'[43] लेकिन सामाजिक विसंगति ऐसी है कि मुंशी जी के स्वतंत्र, सचेत एवं दायित्वयुक्त निर्णय के बदले गौरव या सम्मान नहीं, बल्कि लाँछना एवं अपमान का कड़वा घूँट मिलता है। मुंशी जी की 'सामाजिक स्थिति' उनके सद्भावनाओं का गला घोंट देती है। यहाँ भारती जी कहानी के माध्यम से यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या सामाजिक-धार्मिक, रीति-रिवाजों के समक्ष व्यक्ति की भावनाओं का कोई मूल्य नहीं है। जिन रीतिरिवाजों को मनुष्य ने बनाया है, उन्हें मनुष्य की भावनाओं को कुचलने का अधिकार किसने दिया? क्या मनुष्य की पहचान का आधार केवल उसकी 'सामाजिक स्थिति' है या उसकी विशिष्टताओं का भी कोई मूल्य है?

भारती जी की कविताओं की तरह कहानियों के संदर्भ में यह आरोप लगाया जाता रहा है कि रोमानी भाव-बोध के कारण कहानियाँ आधुनिक संवेदना का सफल निर्वहन नहीं कर सकती। प्रसिद्ध कहानी-समीक्षक मधुरेश के अनुसार-''भारती की भावुक और रोमानी दृष्टि इन कहानियों की सीमाएँ बन जाती हैं।'[44] इसका परिणाम यह होता है कि ''वह उनकी कहानियों की वास्तविकता और विश्वसनीयता को बड़ी सांघातिक चोट पहुँचाती है।'[45] चाहे गुलकी की विदाई का प्रसंग हो या मुंशी जी द्वारा बिरजा के रूप में माँ की कल्पना हो या दीनू का अकारण भावुक समर्पण हो, भारती जी की भावुक और रोमानी दृष्टि का परिणाम है जो कहानियों के भाव-बोध को कृत्रिम बना देती है। गुलकी की विदाई के समय जिन लोगों ने सहानुभूति प्रकट की, वह हृदय-परिवर्तन का परिणाम नहीं था। अत: इस दृश्य को चित्रित करने के लिए व्यंग्य के तेज धार की जरूरत थी, अन्यथा यह दृश्य हास्यास्पद होने के लिए अभिशप्त है। यदि यह हृदय-परिवर्तन होता तो इसका भाव-बोध प्रेमचन्द युगीन कहानियों के समकक्ष होता। मुंशी जी की मृत्यु-योजना भी संयोग की स्थितियों का सहारा लेने के कारण आरोपित लगती है और पीड़ा-बोध की वास्तविकता नष्ट हो जाती है। इन आरोपों की आंशिक सचाई से इंकार नहीं किया जा

सकता है। लेकिन भारती जी का दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनके अनुसार सामाजिक परिवेश की तमाम विसंगतियों के बीच जीते मनुष्य की संवेदनहीनता के बावजूद कहीं-न-कहीं उनमें राग तत्व अवश्य मौजूद होता है। उनके अनुसार, ''आदमी हर जगह आदमी होता है। हृदय हर जगह हृदय होता है।'[46] इसलिए व्यक्तित्व की कठोरता एवं संवेदनशून्यता के बावजूद रोमानी भावुकता का एक अंश बना रहता है। भारती जी के शब्दों में ''यह एक शाश्वत भूख है। एक ऐसी भूख है, जो न कभी बुझ पायी है, न कभी बुझ पाएगी। वह एक ऐसा फूल है जो लहरों के थपेड़े खाकर भी लहरों के सिर पर मुकुट की तरह चढ़ा रहता है।'[47] इस प्रकार प्रेमचन्द की तरह भारती जी मानते हैं कि क्रूर से क्रूर इंसान में भी इंसानियत का एक अंश अवश्य निहित होता है। अत: भारती जी की कहानियों में रोमानी भावुकता के आधुनिक भाव-बोध में बाधा बनने के बावजूद यह पहचान निहित है कि सामाजिक विषमताओं एवं दबावों के बावजूद मानवीय संवेदनशीलता में आस्था रखते हुए मानवीय गौरव को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। यह अलग बात है कि भारती जी का ऐसा प्रयास कृत्रिम स्थितियों का शिकार हो गया है।

इसके बावजूद भारती जी की कहानियाँ विपरीत परिस्थितियों में दम तोड़ते निम्न मध्यवर्ग के लहूलुहान भावनाओं को हृदय भेदी पारदर्शिता के साथ उघाड़ती है। निर्मल वर्मा अत्यन्त सटीक टिप्पणी करते हुए लिखते हैं-''भारती जी अक्सर अपनी कहानियों से हमें पात्रों की पीड़ा से उस पार ले जाते हैं जहाँ सब भावनाएँ, अनुभूतियाँ, आकांक्षाएँ निरर्थक हो जाती हैं। सिर्फ देखना बचा रहता है।'[48] अर्थात्, भारती जी की सूक्ष्म दृष्टि मानव व्यक्तित्व के सभी पक्षों-धूर्तता, कमीनगी, त्याग, निष्ठा, साहस, स्वार्थपरकता एवं पाप के अंधेरे कोटर तक सहजता से पहुँच जाती है। इसके साथ ही उनकी आधुनिक भाव-बोध संपन्न दृष्टि आधुनिकता के नाम पर भौतिकता, यांत्रिकता, और फैशन की कृत्रिमता की चक्की में पिसती मानवीयता एवं विकृत मानव-संबंधों का भी पर्दाफाश करती है।

(ग) निबंध और आलोचना

भारती जी की समस्त रचनाशीलता का प्रस्थान बिन्दु मानवीय गौरव एवं मानवीय अस्मिता की प्रतिष्ठा रही है। इसीलिए वे रचनाकार के दायित्व को सामान्य व्यक्ति के दायित्व से अधिक जटिल मानते हैं क्योंकि ''साहित्यकार की पक्षधरता एवं संघर्ष विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव-अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्तशिराओं में चलने वाली भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे-छोटे क्षण में जीवन-प्रक्रिया को उद्‌बुद्ध करना है। उसकी भावनाओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तु में स्फुरित होने वाले मानवीय मूल्य की विशदता को पहचानना है।''[49] मानव मूल्य-मर्यादा स्थापित करने की यह स्वीकृति ही भारती जी की समीक्षा के केन्द्र में है। ''मानव मूल्य और साहित्य'' में वे वर्तमान वैश्विक परिवेश में विघटित मानवीय मूल्यों को पुनर्परिभाषित करते हुए उनकी पुनर्प्रतिष्ठा का प्रश्न उठाया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है - ''..... मानवीय गौरव कभी प्रजातंत्रवाद और कभी जनवाद और कभी अध्यात्मवाद और कभी स्वातंत्र्य, कभी दायित्व और कभी अलौकिकता के नाम पर प्रतिक्षण आहत और पददलित किया जा रहा है।''[50] उन्होंने नीत्शे, मार्क्स और फ्रायड के विचारों एवं सिद्धांतों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए सिद्ध किया कि इन विचारों ने मनुष्य को निरर्थक बनाने में अहम भूमिका निभायी है। आधुनिक विज्ञान ने किसी अलौकिक सत्ता के प्रति विश्वास को अपदस्थ कर यह स्थापित किया कि मनुष्य ही अपने विवेक और मनोबल के कारण सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। भारती जी के अनुसार यह मानवीय विवेक ही अन्तरात्मा के सहायक तत्वों में सबसे प्रमुख और सबसे विश्वसनीय है। इस मानवीय विवेक के बरक्स ऐसी कोई भी श्रद्धा और आस्था, जो हमें नरबलि के लिए विवश करे या समाज की विषमता को विधि का विधान मानकर स्वीकार कर ले, केवल अमानवीय वृत्तियों को जन्म देती है और मानवीय गौरव को विकलांग बनाती है। भारती जी के अनुसार, ''इस मानवीय गौरव और उसको प्रतिष्ठित करने वाले सद्-असद् विवेक पर सबसे तीखा आघात नीत्शे का था''[51] जिससे न्याय-अन्याय या उचित-अनुचित का मापदण्ड वर्तमान मनुष्य के बजाय डार्विन के

विकासवादी सिद्धांत के आधार पर भविष्य में उत्पन्न महामानव (सुपर मैन) को माना और वर्तमान मनुष्य को मरणासन्न जाति का जीव सिद्ध कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ संवेदन शून्य एवं अहंकार ग्रस्त लोगों ने रक्त की शुद्धता और जातिगत श्रेष्ठता का सहारा लेकर न्याय-अन्याय एवं उचित-अनुचित का ख्याल किए बिना सामान्य जनों के अस्तित्व को ही कुचलना शुरू कर दिया। समाज में विद्यमान विषमता को मार्क्स ने भी पहचाना और इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति के आधार पर मानवीय गौरव को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, परन्तु इस प्रक्रिया में मनुष्य को इतिहास का नियन्ता न मानकर उसकी संकल्प-शक्ति पर ही आघात किया गया।[52] इस प्रकार मार्क्सवाद ने भी अप्रत्यक्ष रूप से मानव विवेक को व्यर्थ करने का काम किया। भारती जी के अनुसार फ्रायड ने भी मनुष्य के समस्त आचरणों को उसकी अज्ञात दमित वृत्तियों एवं अचेतन आकांक्षाओं का परिणाम मान कर उसे संकल्पहीन सिद्ध कर दिया।[53] अर्थात्, मनुष्य सद-असद् का संकल्प करता ही नहीं है। वह अचेतन वृत्तियों द्वारा परिचालित मशीन-मात्र है। इस प्रकार नीत्शे, मार्क्स और फ्रायड अपनी चिन्तन की सीमाओं के कारण मानवीय विवेक एवं अन्तरात्मा को किसी-न-किसी रूप में अनावश्यक ठहराकर मानवीय गौरव को धूमिल करने का कार्य करते हैं। इसलिए भारती जी की आधुनिक भाव-बोध संपन्न दृष्टि मानवीय गौरव को आच्छादित करने वाली इन अतिवादी अवधारणाओं से टकराती है।

मानवीय गरिमा, संकल्प-शक्ति एवं स्वातंत्र्य-चेतना की अनाश्यक ठहराने वाले कम्युनिस्ट मेनीफेस्टों के साथ भारतीय पुरातन सामंतवादी धर्मदर्शन को रखकर भारती जी दोनों की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार ''एक ओर पुरातन सामंतवादी पुरोहित है जो कहता है- हमें सब मालूम है, पिछले जन्म में जो किया है, वह भोग रहे हो। यह प्रारब्ध है। पूर्व निर्धारित, पहले से तय है। सवाल मत पूछो, चुपचाप दण्ड भोगते चलो। दूसरी ओर नूतन कॉमरेड कमिस्सार मेनीफेस्टो लिए खड़ा है। द्वन्द्वात्मक गति से समाज चल रहा है। तुम्हारी नियति कुछ नहीं। कुचले गए हो, कुचले जाते रहो, सहते रहो। सवाल मत पूछो। सवाल पूछना प्रतिक्रियावाद है।''[54] यहाँ भारती जी धर्म एवं राजनीति की उस मानसिकता

की पहचान करते हैं जिसके कारण मनुष्य की अस्मिता एवं स्वातंत्र्य चेतना का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है। परन्तु भारती जी प्रश्न करते हैं कि अगर समाज की, इतिहास की और व्यक्ति की नियति पहले से निर्धारित है तो फिर नीति, अनीति, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है? अगर ये सभी प्रश्न निरर्थक है तो धर्म, दर्शन एवं व्यवस्था की सार्थकता ही क्या रह जाती है? यदि मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति से परे वही कर रहा है जो उसका प्रारब्ध या द्वन्द्वात्मक समाज करवा रहा है तो फिर दण्ड किस बात का? यंत्रणा कैसी?

भारती जी ने यूरोपीय रोमैण्टिसिज्म, हिन्दी छायावाद और प्रगतिवाद को भी मानवीय मूल्यों के विघटन के लिए दोषी पाया। उनके अनुसार-''स्वच्छन्दतावाद ने पहली बार भावना के सामने विवेक का पूर्ण तिरस्कार कर अविवेक के लिए जो द्वार खोल दिया, उस चिन्तन धारा ने ऐसे तत्व प्रविष्ट करा दिए जो बार-बार मनुष्य के विवेक और उसकी संकल्प-शक्ति को निरर्थक, मूल्यहीन सिद्ध करते गए और मानवीय गौरव के मूल पर ही कुठाराघात करते रहे।''[55] इसी स्वच्छन्दतावाद से छायावादी भी प्रेरणा ले रहे थे। भारती जी के अनुसार छायावादी भी झूठी आदर्शप्रियता के प्रयास में मानवीय यथार्थ से पलायन करते रहे। छायावाद के संबंध में भारती के दृष्टिकोण को पूर्णरूपेण उचित नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि आदर्शीकरण के बावजूद छायावादी कवियों ने मनुष्य की संकल्प शक्ति और जिजीविषा में पूर्ण विश्वास व्यक्त किया। लेकिन छायावादी आंदोलन में 'अर्थभूमियों के संकोच' एवं आंदोलन के अचानक समाप्त हो जाने से भारती जी के मन्तव्य की ही पुष्टि होती है। इसी प्रकार प्रगतिवादियों ने राजनीतिक दूराग्रह के कारण मानव मूल्यों के विघटन की समस्या को समझने से इंकार कर दिया।

भारती जी ने आधुनिक युग के जटिल परिवेश में विवेक से कुंठित एवं अन्तरात्मा के नि:शक्त एवं अक्षम होने के कारण मनुष्य को 'भग्न मनुष्य' की संज्ञा दी है। मनुष्य का जीवन ''अन्तरात्मा द्वारा सुनियोजित, नैतिक मूल्यों द्वारा मर्यादित, निजी गौरव द्वारा सशक्त और सार्थक न रहकर उत्तेजित आवेशपूर्ण क्षणों की एक असंबद्ध और असंगत,

विश्रृंखल, क्रमभग्नता बनकर रह जाता है।''[56] परिणामतः मनुष्य न तो अपने विवेक के अनुसार आचरण कर पाता है और न ही विकल्प की स्वतंत्रता का उपयोग कर पाता है।

इसीलिए भारती जी ने वर्तमान परिवेश के संकट को न केवल गहनता की दृष्टि से बल्कि प्रकृति की जटिलता की दृष्टि से विशिष्ट माना है। क्योंकि एक दिशा में विघटन अनेक दिशाओं को प्रभावित करता है। भारती जी स्पष्ट करते हैं कि ''वर्तमान संकट केवल आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक संकट नहीं, वरन् मानव जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट है।''[57] तात्पर्य यह है कि ''वर्तमान युग में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिसमें अपनी नियति के इतिहास के निर्माण के सूत्र मनुष्य के हाथों से छूटे हुए लगते हैं''[58] इसीलिए भारती जी मानते हैं कि "वर्तमान परिवेश का संकट-बोध, आधुनिकता-बोध से अभिन्न तथा परम्परावलम्बित रूप से जुड़ा हुआ है।"[59] वे यह भी मानते हैं कि यह संकट विश्वव्यापी है, जो समस्त संसार में विभिन्न धरातलों पर प्रकट हो रहा है। पश्चिम और पूर्व का विभाजन भ्रान्त विभाजन है। इस आधुनिक संकट के स्रोत त्रिविध है। भारती जी के अनुसार विज्ञान ने मध्ययुगीन अविवेक पूर्ण धारणाओं और अंधविश्वासों एवं प्रकृति के कठोर नियंत्रण से मनुष्य को मुक्त कर, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सहारे सांस्कृतिक विकास करने का अवसर प्रदान किया। परन्तु इस प्रक्रिया में विज्ञानने मनुष्य की संवेदन-शक्ति को भी छीन लिया। परिणामतः मनुष्य का अन्तर एक विचित्र शून्यता में परिणत हो गया। कुँवर नारायण के शब्दों में ''पहियों और पंखों वाली इस बेसिर पैर की सभ्यता में'' यह पता लगाना मुश्किल है कि यहाँ आदमी मशीन को चला रहा है या मशीन आदमी को।[60] परिणामतः मनुष्य अपने जीवन लक्ष्य से दिग्भ्रमित होकर अन्दर से खोखला होता गया।

भारती जी ने अनुसार आधुनिक संकट का द्वितीय स्रोत 'जनसंख्या की बहुलता है।'[61] संसार के इतिहास में कभी किसी युग में भीड़ का इतना गहरा प्रभाव नहीं रहा। व्यक्ति इस भीड़ में खोकर एक विवेकहीन एवं आत्महीन व्यक्तित्व रह जाता है जिसका कोई निजी जीवन या भाव-बोध नहीं होता। भारती रचनाकार होने के नाते यह स्वीकार

करते हैं कि इस भीड़ से रचनाकार अधिक प्रभावित हुआ है। भीड़ में वह अपने को नितान्त अकेला पाता है। इसलिए या तो वह अपने सुरक्षा-कवच में वापस लौट रहा है, या भीड़ में विलिन होता जाता है।

आधुनिक संकट का एक अन्य स्रोत वाणिज्यिक पूँजीवाद के रास्ते से आया है। भारती जी के अनुसार संकट का यह स्रोत अभिव्यंजना का संकट उत्पन्न करता है।[62] साहित्य आज स्वयं न केवल उत्पादन और पूँजी बन गया है बल्कि साहित्य में राज्य के आश्रय या हस्तक्षेप का प्रभाव बढ़ता गया है। राज्य ने लेखक की स्वतंत्रता को बंधक रखने का प्रयास भी शुरू कर दिया। इसीलिए भारती जी संकट के ऐसे परिवेश में साहित्यकार के दायित्व को निर्णायक एवं चुनौतीपूर्ण मानते हैं। आज मनुष्य को उसकी आंतरिक सम्पन्नता एवं समग्रता में देख सकने की क्षमता के साथ-साथ नवीन मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं नियति के स्वामी के रूप में मनुष्य की प्रतिष्ठा ही साहित्यकार का दायित्व बन जाता है। भारती जी के अनुसार साहित्य एवं साहित्यकार जिस भाव स्तर पर मानवीयता को ग्रहण करने का प्रयास करता है वह मनुष्य की उस आंतरिकता को पुनः प्रतिष्ठित करने में सर्वाधिक सहायक होता है।[63] और यह आंतरिकता ही संस्कृति की आंतरिक रूग्णता को दूर कर मानव नियति के साक्षात्कार में सहायक होती है।

मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा या उच्च मानवीय मूल्यों पर बल देने के अतिरिक्त भारती जी के समीक्षा कर्म का एक अन्य महत्वपूर्ण विषय है-प्रगतिवादी विचारों के अतिवादी आग्रहों से साहित्य का बचाव। भारती जी का जब लेखकीय जीवन शुरू हुआ, उस समय प्रगतिवादी आंदोलन साहित्य जगत को आच्छादित किए हुआ था और साहित्य की परिधि को राजनीतिक संकीर्णता तक ही समेट देने का प्रयास किया गया था। साहित्य को एक व्यापक एवं उदार धरातल देने के समर्थक भारती जी सजग हस्तक्षेप करते हुए प्रगतिवादी अतिवादों का निषेध करते हैं। उनके अनुसार हिन्दी में प्रगतिशीलता का नारा देने वाले रचनाकारों ने वास्तव में मार्क्सवाद को समझने के बजाय उसका अंधानुकरण किया है। यह सत्य है कि मार्क्स के चिन्तन ने साहित्य को समझने तथा मानवीय मूल्यों की

भारती जी के अनुसार, 'हृदय हर जगह हृदय होता हैं कोई भी युग, विचारधारा, कोई भी गुटबन्दी, कोई भी प्रचार, प्रोपेगैण्डा आदमी के हृदय में निहित सत्य की हत्या नहीं कर सकता।'[67] अर्थात्, प्रेम, भावना एवं जीवन के शाश्वत सौंदर्य को दबाया नहीं जा सकता। कट्टर मार्क्सवादी रचनाकार मायकावस्की ने मार्क्सवादी सिद्धांतों के तले अपने व्यक्तित्व को भले ही फौलाद बना डाला था, परन्तु हृदय की अन्तवृत्तियों एवं रागात्मक अनुभूतियों ने उसके अन्तर को इस कदर हिला दिया कि वह आत्महत्या कर बैठा। रूसी निर्माताओं एवं रचनाकारों ने रूढ़िवादी प्रगतिशीलता की सीमाओं को महसूस करते हुए प्रोलेटेरियट लेखकों के संघों को भंग कर दिया और मानव-संस्कृति के विकास के लिए साहित्यिक धारा के निर्बाध प्रवाह का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

डा. धर्मवीर भारती के अनुसार प्रगतिवादी साहित्य की जिस कृत्रिमता एवं यांत्रिकता से रूसी साहित्य मुक्त हो गया, हिन्दी में उसी संकीर्ण पतनोन्मुख प्रगतिवाद को स्वीकार कर लिया गया। हिन्दी साहित्य में निराला, प्रसाद, पंत, प्रेमचन्द और रवीन्द्र के माध्यम से पनप रही सौ गुनी शक्तिशाली प्रगतिवाद को नजरन्दाज कर अपनी गौरवशाली परम्परा से विमुख, संकीर्ण, राजनीतिक दलबंदी, अश्लीलता, यौन विकृतियों और राष्ट्रीय भावुकता से युक्त रूसी प्रगतिवाद का अंधानुकरण किया गया। परिणामतः इस आयातित पतनोन्मुख दृष्टि से हिन्दी साहित्य और उसकी परम्परा बुर्जुआ करार दी गई।

भारती जी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परम्पराओं के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने प्रगतिवादी लेखकों के इस आरोप की भर्त्सना की कि प्रसाद का साहित्य पलायनवादी है। प्रगतिवादियों की दृष्टि पर भारती जी व्यंग्य करते हैं - ''अगर रूस 'इवान भयंकर' की आत्मा की आह्वान करता है तो यह 'लोक युद्ध' हुआ और यदि भारत चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु का आह्वान करता है तो यह पलायनवाद हुआ। आँखों पर चढ़ा हुआ मानसिक गुलामी का चश्मा कभी-कभी ऐसे ही करिश्में दिखाता है।'[68] रूस की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का पुनरूद्धार दिखाने वाले रूसी ऐतिहासिक उपन्यासों का दृष्टान्त देकर भारती जी हिन्दी के प्रगतिवादियों से प्रश्न करते हैं कि क्या रूस के

साहित्यिक भी पलायनवादी रहे हैं? इस प्रकार भारती जी प्रगतिवादियों की भर्त्सना उन्हीं के तर्कों के आधार पर करते हैं।

कट्टर प्रगतिवादी विचारकों ने साहित्य में बाह्य परिस्थितियों की तुलना में व्यक्ति को महत्व नहीं दिया। व्यक्ति की आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के प्रबल समर्थक भारती जी प्रगतिवादियों की इस असंगति को नकारते हुए कहा कि ''साहित्य का आधार व्यक्ति ही है। जीवन और मौत, दुख और सुख, अंधेरा और उजाला, अतीत और वर्तमान सभी की अभिव्यक्ति साहित्य में व्यक्ति के माध्यम से होती आयी है और होती रहेगी।''[69] यदि व्यक्ति की अनुभूतियों को महत्व नहीं दिया जाय तो साहित्य अपनी शक्ति खो देगा। व्यक्ति की भूमिका को प्रगतिवादी भले ही नकराते हों, सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक राल्फ फॉक्स के अनुसार, वास्तव में मार्क्सवाद व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता।[70] क्योंकि व्यक्ति से ही समाज है।"वह समाज का बदलता है और बदलने के दौरान खुद भी बदल जाता है।''[71] लेकिन भारती जी का मूल प्रश्न यह है कि क्या अपने अन्तर्जगत को बदले बिना वह बाह्य जगत को बदल सकता है? स्पष्टत: हिन्दी के प्रगतिवादियों के पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। वास्तव में किसी महल की दीवार उठाते समय कारीगर एक-एक ईंट चुनता है। उस समय प्रत्येक ईंट के व्यक्तित्व का महत्व होता है। इस प्रकार भारती जी व्यक्ति के महत्व को दृढ़ता से स्थापित करते हैं।

भारती जी प्रगतिवादियों द्वारा लोगों को गुमराह करने वाले इस आरोप का भी खंडन करते है कि रूस ने धर्म को बहिष्कृत कर दिया है। भारती जी के अनुसार धर्म के बहिष्कार का अर्थ है जीवन की ऊँची चीजें-''मानव जीवन की उच्चता में विश्वास, आंतरिक सौंदर्य, नैतिक मर्यादा, पवित्रता, इन सभी चीजों का बहिष्कार कर दिया गया होगा।''[72] भारती जी का प्रश्न है कि क्या रूसी समाज में ऐसा संभव था? वास्तव में रूस ने धर्म के उस प्रगति विरोधी मजहब का विरोध किया, जो प्रेम, उदारता एवं अध्यात्म के बजाय आदमी के जीवन में जहर घोल देता है। यह रूस की तात्कालिक आवश्यकता थी क्योंकि मजहब ने ही जनता से कहा था कि जार का विरोध ईश्वर का विरोध है। भारत में

लिए दमनकारियों के हाथों, हथियारों की बिक्री करते हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि पश्चिमी देशों क्या, संपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दिवालिएपन के कारण ही आज विश्वव्यापी आंतकवाद मानव-अस्तित्व के लिए संकट बन गया है। इस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति के मानवतावादी सिद्धांत एवं नैतिक आदर्श दिशाहीन हो गए हैं। इसीलिए भारती जी 'संकट और नया रास्ता' में स्पष्ट करते हैं कि पश्चिमी देशों के पास मनुष्यता को देने के लिए अब कोई दृष्टि शेष नहीं रही। इन राष्ट्रों ने अब मनुष्यता के नाम पर मूल्यगत अराजकता को ही जन्म दिया है।

इसलिए भारती जी इस बात पर बल देते हैं कि व्यापक मानवता के कल्याण के लिए हमें अपनी प्रवृत्तियों में बदलाव लाना आवश्यक है। वे ''आइखमैन को सजा लेकिन'' तथा ''शव हटाने के बाद'' में प्रश्न करते हैं कि क्या स्टालिन का शव हटाने वाले या आइखमैन को सजा देने वाले उस अमानुषिक प्रवृत्ति, झूठे जातीय अहम् और असहिष्णुता का भी विरोध करते हैं जिसकी नींव पर स्टालिन का षडयंत्रपूर्ण निरंकुश शासन स्थापित था या आइखमैन ने जघन्यतम नरसंहार किया था? वास्तव में स्टालिन और आइखमैन का अमानुषिक कृत्य उस व्यापक दुराग्रह का उपज था जो स्वतंत्र चिंतन तथा व्यक्ति-मर्यादा का विरोध करता है तथा रक्त-शुद्धता के अमानुषिक सिद्धांत में विश्वास करता है। भारती जी 'शब्दों बदले प्रकाश में' शब्द को प्रकाश में बदलने वाली मशीन का स्वागत करते हुए प्रश्न करते हैं क्या घृणा में आकण्ठ डूबे सत्तालोलुप वर्ग के उन शब्दों एवं स्वरों से वह मशीन अधिक आग उगलेगी, जो अंगोला, वियतनाम, तिब्बत और ईरान की धरती और आकाश को आग के गोलों से पाट देते हैं और तबाह होती है व्यापक मानवता। इसीलिए मानव नियति के प्रति चेतावनी देते हुए सत्ता-शासकों के शब्दों एवं स्वरों में ऐसे बदलाव की जरूरत पर बल देते हैं जो लोगों को प्रेम, हमदर्दी एवं आपसी विश्वास की भावना प्रदान करें। 'एक दूसरी रूसी स्त्री' में वे स्पष्ट कहते हैं कि ''बड़ी से बड़ी संस्कृति भौतिक और वैज्ञानिक उन्नति मात्र पर आधारित होकर नहीं विकास कर सकी। वह

विकास तभी कर सकी जब मानवीयता के प्रति उसका सही दृष्टिकोण विकसित हो सका।''[74]

भारती जी के आधुनिक भाव-बोध की टकराहट भारतीय जनतंत्र के अस्वाभाविक विकास से भी होती है क्योंकि प्रजांतत्र की सैद्धांतिक स्वीकृति के बावजूद उसका विकास तानाशाही पद्धतियों से हो रहा है जिसके कारण जनतंत्र के अनुरूप जनता का अन्दरूनी मानसिक विकास नहीं हो सका है। इसके स्थान पर व्यक्ति-पूजा ही महत्वपूर्ण हो गयी है। भारती जी प्रजातंत्र के मूल आदर्शों से निष्ठा रखते हुए लिखते हैं - ''कोई भी वर्ग, कोई भी सम्प्रदाय, कोई भी दल, कोई भी व्यवस्था, कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो - साधारण जन से, अपने देश से बड़ा कोई नहीं।''[75] इस प्रकार वे जनशक्ति के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। वास्तव में विशिष्ट व्यक्ति, सिद्धांत या व्यवस्था को गरिमा और सार्थकता प्रदान करने वाला यह साधारण जन ही है। कुछ आलोचकों ने इसे भारती जी के वैचारिक अंतर्विरोध के रूप में देखा है क्योंकि एक ओर वे व्यक्ति के स्वातंत्र्य एवं गरिमा की वकालत करते हैं तो दूसरी ओर जन-शक्ति के महत्व को प्रतिष्ठित करते हैं। इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि भारती जी के वैचारिक रूप इतने अपरिपक्व नहीं है कि व्यक्ति के सामने जनशक्ति को नजरन्दाज कर दें। उनकी दृष्टि व्यक्तिवादी नहीं, मानवतावादी है, जिसमें व्यक्ति की गरिमा के साथ-साथ जनशक्ति को समान महत्व प्राप्त होता है।

इस प्रकार भारती जी का मानवीय गौरव की स्थापना एवं मानवता के कल्याण के प्रति स्पष्ट दृष्टिकोण है। उनके अनुसार मानवीय गौरव की स्थापना न तो सुपरमैन, न विच्छिन्न मनुष्य, न दमित मनुष्य और न इतिहास की द्वन्द्वात्मकता से हो सकती है। मानवीय गौरव किसी व्यक्ति, समूह, या सम्प्रदाय की सुखानुभूति की समस्या नहीं है, बल्कि एक 'व्यापक सामाजिक तत्व' है। अत: इसकी स्थापना तभी हो सकती है जब "समाज के प्रत्येक छोटे से छोटे व्यक्ति के गौरव को वहीं महत्व दिया जाए, जो बड़े से बड़े व्यक्ति को मिलता है।''[76] इस प्रकार भारती जी मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा के लिए

सामाजिक समानता के सिद्धांत को प्राथमिक शर्त मानते हैं। इसके साथ ही भारती जी का आग्रह है कि-''हम मानव-मात्र की नियति से अपने को आबद्ध समझें''[77] न कि किसी अलौकिक सत्ता से या किसी व्यक्ति विशेष से। मानव नियति को पूर्व निर्धारित मानने वाले सिद्धांत ''मनुष्य से विकल्प की स्वतंत्रता तथा संकल्प की गरिमा छीन लेते हैं।''[78] अतः मानव प्रवृत्तियों में बदलाव लाना आवश्यक है।

भारती जी मानवीय मूल्यों के विघटन तथा मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा को ही अपनी साहित्यिक समीक्षा के केन्द्र में रखते हैं। इसी आधार पर वे उन्नीसवीं सदी तथा बींसवी सदी के उपन्यासों की मीमांसा करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में जहाँ अदम्य जिजीविषा वाले और शक्तिशाली नायक हैं, जो हिंसा और घृणा के ऊपर मानवता और प्रेम की विजय की घोषणा करते हैं, वहीं बीसवीं सदी के उपन्यासों के नायक, क्लीव, पंगु एवं विकृतमना दिखाई देते हैं क्योंकि बीसवीं सदी में पूँजीवादी चक्र की निर्ममता इतनी तीखी हो गई थी कि मानव विवेक एवं उसकी 'अन्तरात्मा' आहत एवं निर्जीव होने लगी थी। इसीलिए लाचारी एवं गुस्सा के बावजूद इन उपन्यासों के नायक विद्रोह कर पाने में असमर्थ थे।

एक सजग रचनाकार होने के नाते भारती जी साहित्यकारों के उत्तरादायित्व से पूर्ण परिचित हैं। उनके अनुसार मानव-संस्कृति के मूल्यात्मक विकास के दायित्व को पूर्ण करने के लिए 'साहित्यकार के पास एक ही माध्यम है - शब्द।' मानवीय मूल्यों के संकट ने शब्द की अर्थवत्ता और भाषा की अर्थवत्ता को भी बदल दिया है। भारती जी अनुसार, ''वह यथार्थ से विच्छिन्न होकर अपने स्वतंत्र नियम और सिद्धांत विकसित करने लगी - अर्थ रहित प्रतीक, टूटे चित्र, स्वप्नों की सी अराजकता, संगीत की सी निरर्थकता।''[79] अतः साहित्य-सृजन पूर्णतया जटिल हो गया है। स्वयं को सर्जक संजय की भूमिका में रखते हुए कहते हैं-''आज का संजय बहुत उलझन में है, उसका काम दोहरा, तिहरा और चौहरा हो गया है।''[80] यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओं की स्पष्ट स्वीकृति है जहाँ वे सभ्यता के विकास के साथ कवि-कर्म को कठिन होते जाना मानते हैं। संजय इस

दुविधाग्रस्त स्थिति में है कि ''कैसे दे पाऊँगा मैं संपूर्ण सत्य, उन्हें विकृति अनुभूति से।''[81] क्योंकि जीवन की जटिल अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में परम्परागत शब्द असमर्थ सिद्ध हो चुके हैं। अत: ऐसी दूषित भाषा की समस्या से निपटने के लिए ''हर शब्द को अपने निर्मम विवेक की कसौटी पर कसकर'' या ''अपनी गहनतर अनुभूतियों से हर शब्द को मानवीय मूल्य से पुन: अभिव्यक्त कर कलम पर उतारने का प्रयास करना चाहिए।''[82] इस प्रकार भाषा के प्रति क्रांतिकारी दायित्व के पीछे भारती मानवीय मूल्यों को ही केन्द्र में रखते हैं।

भारती जी इस मान्यता के समर्थक हैं कि साहित्य और आलोचना एक दूसरे को माँजते- सँवारते हुए दिशा-निर्देश करते हैं। परन्तु, भारती जी के अनुसार हिन्दी आलोचना अपनी क्रियाशीलता के बावजूद गतिशील जटिल परिस्थितियों के संदर्भ में अपने दायित्व के निर्वहन में असफल हुई है। इस गतिरोध के कारणों की तहकिकात करते हुए लिखते हैं-''कोई भी साहित्यिक कृति या धारा अपने में निरपेक्ष, निस्संग, असम्पृक्त कृति या धारा नहीं होती। उसके पीछे एक लम्बी काव्य-परम्परा होती है। वह काव्य-परम्परा किसी विशेष जाति या समाज से बहुमुखी सांस्कृतिक कृतित्व का एक अंग मात्र होती है। उसके पीछे उस जाति के इतिहास की संचित परम्परा होती है।''[83] इस समस्त प्रक्रिया को समेटे बिना कोई भी समीक्षा एकांगी होने के लिए अभिशप्त है। इस व्यापक प्रक्रिया के सापेक्ष हिन्दी की वर्तमान समीक्षा का कैनवास अत्यंत सीमित है। हिन्दी समीक्षा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय से ही भाव पक्ष एवं कला पक्ष के द्वैत के आधार पर किसी कृति के मूल्यांकन की आग्रही रही है। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने किसी कृति के भाव पक्ष एवं कला पक्ष के अंतर्गत भी अत्यन्त समग्रता से विचार किया है, इसलिए उनकी समीक्षा सशक्त है और एकांगी नहीं दिखाई देती है। परन्तु बाद के आलोचक भाव पक्ष एवं कलापक्ष को लेकर अत्यंत विशिष्ट होते गए हैं और आलोचना विकृत एवं विकलांग होती गई है। इसलिए भारती एवं देवीशंकर अवस्थी ने भाव एवं कला पक्ष के द्वैत को समाप्त कर समग्र एवं समन्वित आलोचना किए जाने का प्रस्ताव किया। भारती जी संतुलित, संयमित एवं

वैज्ञानिक समीक्षा के लिए तीन विशिष्ट आयामों पर जोर देते हैं[84] - कलाकृति पहले रूप में एक संचित शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौंदर्य बोध और परम्परागत काव्य-श्रृंखला की विशिष्ट कड़ी होती है। दूसरे रूप में वह एक विशिष्ट समाज व्यवस्था की सांस्कृतिक निधि होती है और उसका एक विशिष्ट मूल्य होता है। तीसरे रूप में, वह एक व्यक्ति की एक विशिष्ट क्षण की अनुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है और कुछ विशिष्ट तत्वों से समन्वित होकर वह कलाकृति का महत्व प्राप्त करती है। भारती जी के अनुसार तीनों आयामों पर पृथक रूप में नहीं, बल्कि समग्रता से विचार किया जाना चाहिए।

आधुनिक युग में मानव-जीवन के समस्त आयामों एवं समग्र परिवेश की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारती जी उपन्यास को सशक्त साहित्य-रूप मानते हैं। उनके अनुसार उपन्यास की इस सशक्तता का मूल सूत्र है-''मनुष्य की आत्मान्वेषीवृत्ति, जिसकी आरंभ रेखा थी जिजीविषा और परिणति थी आत्मोपलब्धि।''[85] वास्तव में समग्र जटिल परिवेश, वातावरण, परम्परा और परिस्थिति की पृष्ठभूमि में आत्मान्वेषण एवं आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया से गुजरता हुआ मानव व्यक्तित्व अपरिमित संभावनाओं को छिपाए रखता है। आत्मान्वेषण एवं आत्मोपलब्धि जैसे शब्दों से वस्तुनिष्ठता के बजाय भावगतता का भ्रम अवश्य होता है। परिणामस्वरूप वस्तुगत सत्य की अवहेलना की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। परन्तु भारती जी आत्मान्वेषण की प्रक्रिया को पूर्णतः जटिल सामाजिक परिवेश से संयुक्त करके देखते हैं। वे मानते हैं कि उपन्यासकार की सफलता इसी बात में निहित है कि वह मानव की वैयक्तिकता को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया को बाह्य सामाजिक संबंधों के साथ चित्रित कर सके। भारती जी की मान्यताओं का निष्कर्ष यह है कि वे संपूर्ण मनुष्य को उपन्यास में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

इसलिए हिन्दी उपन्यास को विश्व उपन्यास के स्तर पर लाने के लिए वे सलाह देते हैं - ''मनुष्य को जब तक हम उसकी अंतर्निहित सामर्थ्य, उसके जटिल परिवेश, उसकी जीवन-प्रक्रिया के विविध आयामों के साथ हिन्दी उपन्यास में प्रतिष्ठित नहीं करते,

देते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे समीक्षा में साहित्येत्तर मानदण्ड की स्वीकृति देते हैं। क्योंकि यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा साहित्य के प्रयोजन के रूप में 'लोकमंगल' को सामने रखे जाने पर विचार किया जाय तो भारती जी के निहितार्थों को समझा जा सकता है। भारती जी ने भी साहित्य-प्रयोजन के रूप में मानव-जीवन के सौंदर्य एवं उत्कृष्टता पर बल दिया है। मानवीय मूल्यों पर बल दिए जाने का अभिप्राय यह भी नहीं है कि भारती जी व्यक्तिवादी है। इसके विपरीत वे मानवतावादी है, वैयक्तिकता की तुलना में सामूहिकता के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं इसीलिए व्यापक मानवता का कल्याण उनके चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है।

इसके बावजूद आधुनिक बोध के संबंध में भारती जी संतुलित दृष्टिकोण नहीं रख पाए है। आधुनिक बोध को संकट-बोध से अभिन्न मानते हुए इस स्तर पर पश्चिम और पूर्व के विभाजन को भ्रांत मानने की धारणा में अनेक विसंगतियाँ है। वास्तव में आधुनिकता बोध अपने उदय के लिए संकट पर आश्रित नहीं है। यह एक गतिशील एवं सृजनशील जीवन-दृष्टि है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। आधुनिकता मूल्य-धनात्मक प्रक्रिया है जो संकट-बोध से आगे मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया तक पहुँचती है। संकट-बोध को विज्ञान एवं यांत्रिक प्रगति का परिणाम मान लेना विकास की प्रक्रिया को झुठलाना है। वास्तव में संकट-बोध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा प्रेरित यंत्रीकरण का परिणाम है। पश्चिम और पूर्व के संकट की प्रकृति में भी अन्तर है। पश्चिम के संकट में महायुद्धों एवं भौतिक समृद्धि का हाथ है जिसके कारण जीवन के प्रति गहरी निराशा, अनिश्चयता एवं निरर्थकता के उदय के साथ ही नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन हुआ है। जबकि पूर्व का संकट भौतिक अभावों से उपजा संकट है। मध्यवर्गीय महत्वाकांछाओं की तुलना में भौतिक समृद्धि के अवसरों की न्यूनता के कारण भी निराशा एवं मोहभंग का जन्म हुआ है। जिस मानव समाज की सत्ता भौतिक अभावों से अभिशप्त है, उसकी आन्तरिकता उससे निरपेक्ष कैसे रह सकती है? स्वयं भारती जी ने 'एशियाई आधुनिकता और हूलाहूप' में आधुनिकता के संदर्भ में एशिया, पूर्व या अपने देश की प्रकृति पर बल देते हैं। जब वे कहते हैं - ''आधुनिकता वर्तमान संदर्भों में पूर्णता की खोज है।'[१०] तो क्या

पश्चिम और पूर्व, 'वर्तमान संदर्भ' के स्तर पर अलग-अलग नहीं है? अत: पश्चिम और पूर्व के संकट-बोध में समानता उचित प्रतीत नहीं होती। भारती जी की यह मान्यता कि साहित्यकार भीड़ में अकेलापन महसूस करता है, को असंतोषजनक मानते हुए धनंजय वर्मा लिखते हैं कि ''उसमें कहीं-न-कहीं आधुनिक युग के विराट पाठक वर्ग के साथ साहित्यकार के संबंध और उसके प्रति दायित्व से बचने की प्रवृति भी है। एक ओर तो आप मानव नियति की चिन्ता से व्यग्र है और दूसरी ओर मानव के मूर्त रूप और यथार्थ स्वरूप को तिरस्कृत करना चाहते हैं।'[9] साहित्यकार को अपने अस्तित्व के प्रति सचेत रहते हुए भीड़ के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना चाहिए तभी वह अकेलेपन की ऊब से बच सकता है।

भारती जी के चिन्तन की तटस्थता तब भी बाधित होती है जब वे मानव की जय यात्रा के प्रति प्रतिबद्ध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहसी एवं स्वातंत्र्य चेत्ता व्यक्तित्व पर विचार करते हुए उनके स्वातंत्र्योत्तर मौन पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। उनके अनुसार 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में ''किसी से भी नहीं डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं'' का सूत्र देने वाला महान सर्जक मूल्यात्मक विघटन के समय मौन क्यों हो गया? जब मनुष्य की आंतरिकता खतरे में पड़ गई तो उनकी आवाज वर्तुल क्यों हो गई। भारती जी के ये प्रश्न या तो विचलित सोच के परिणाम लगते हैं या पूर्वग्रह से प्रेरित। क्योंकि इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर आचार्य द्विवेदी की आवाज को वर्तुल ठहराया जा सके। आचार्य द्विवेदी ने सच्चे अर्थों में सामान्य जन की मुक्ति के लिए प्रयत्न किया, लोक या समाज को पराजय-बोध महसूस करने नहीं दिया।

इन विसंगतियों के बावजूद मानवीय गौरव को प्रतिष्ठित करने की प्रयत्न से भारती जी चूकते नहीं है। व्यक्ति के स्वातंत्र्य, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को वरीयता प्रदान करते हुए सामान्य जन के प्रति प्रतिबद्धता अक्षुण्ण बनाए हुए है। मानवीय मूल्यों को चिंतन के केन्द्र में रखते हुए भारती जी, इसे रचनात्मक एवं समीक्षात्मक स्तर पर भी प्रतिष्ठित करते हैं।

(घ) एकांकी

भारती जी की आधुनिक चेतना एवं बौद्धिकताजन्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उनकी एकांकियों में भी हुई है। यद्यपि उनकी कुछ एकांकियों में रोमानी भाव-बोध का दर्शन भी होता है परन्तु संयमित विचारशीलता एवं रचनाधर्मिता के कारण ये एकांकियाँ वर्तमान परिवेश में कटुतापूर्ण संघर्ष के बीच मानवीय संवेदना की तलाश में प्रयत्नशील है। सन् 1954 में प्रकाशित 'नदी प्यासी थी' भारती जी का एकमात्र एकांकी संग्रह है जिसमें पांच एकांकी संग्रहीत है-'नदी प्यासी थी', 'नीली झील', 'आवाज का नीलाम', 'संगमरमर पर एक रात' और 'सृष्टि का आखिरी आदमी'। 'नीली झील' और 'सृष्टि का आखिरी आदमी' में जहाँ भौतिकतावादी संस्कृति के कारण मनुष्य के आत्महीन, कुंठित एवं निरर्थक होते जाने की त्रासदी कही गई है वहीं 'संगमरमर पर एक रात' पूर्णतः रोमानी भाव-बोध का ही प्रतिनिधित्व करती है। 'नदी प्यासी थी' भावुक प्रेम-त्रिकोण पर आधारित एक एकांकी है जिसमें रोमानी भाव-बोध से इंकार नहीं किया जा सकता है। इसके बावजूद इनमें जीवन के कठोर यथार्थ के बीच मानवता के गौरव के लिए सतत संघर्ष करने, जीवन एवं जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था रखने और चेतना को परिष्कृत करते रहने की प्रेरणा भी निहित है। एकांकी की शुरूआत उफनती नदी के प्रतीक के माध्यम से इस विचार के साथ होती है कि जीवन में मानवीय धरातल पर जब किसी के मन की नदी का बाँध टूटता है तो उसकी भयावह बाढ़ तमाम मूल्यों, मान्यताओं, आस्थाओं, संस्कारों और विश्वासों को तोड़कर अपने साथ बहा ले जाती है। नाटककार ने परिवेशगत दबावों के बीच मानव-जीवन की निरर्थकता की ओर संकेत किया है जहाँ मनुष्य की संकल्प-शक्ति और स्वातंत्र्य-चेतना का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। सहज विश्वास, प्रेम एवं आस्था से मोहभंग के कारण राजेश निराशा, अनास्था एवं घृणा के कीचड़ में फँसकर कुंठित हो जाता है। उसके व्यक्तित्व का रेशा-रेशा बिखरने लगता है। उसमें आत्मघाती प्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। परिणामतः उसकी नजर में जिंदगी क्रूर, घिनौनी, कुरूप और निरर्थक लगने लगती है। वह यहाँ तक कहता है कि 'इंसान की जिंदगी का नामोनिशान क्यों नहीं खत्म हो

जाता?' वह अपने को नदी का बाढ़ रोकने के लिए बलि का बकरा समझने लगता है। एकांकी में उसका आत्म कथन-'मैं कितना तुच्छ हूँ', 'कैसा फूटा मेरा नसीब है', 'मैं तुम्हारे रास्ते से हट जाऊँगा'-आज के मनुष्य की मन:स्थिति एवं यंत्रणा की सही तस्वीर प्रस्तुत करता है। वह आत्महत्या करने के लिए देवी के मंदिर पर जाता है जहाँ से वह जीवन का अर्थ एवं सौंदर्य का साक्षात्कार कर वापस लौटता है। अपने को डा. कृष्णा तथा पद्मा के प्रेम-संबंधों के बीच से अलग करते हुए पद्मा से प्रत्येक चीज में सौंदर्य पहचानने एवं प्यार करने को कहता है। जीवन के प्रति आस्थावान होकर वह जीवन एवं जगत को सुन्दर बनाने का संकल्प लेता है-'जब तक जिंदगी में एक कण सौंदर्य है तब तक मरना पाप है।' इस प्रकार राजेश के जीवन में आशा और सौंदर्य का संचार तो होता है लेकिन कहीं-न-कहीं डा. कृष्णा की जीवन की कीमत पर। यहाँ एक बार फिर मनुष्य की स्वातंत्र्य-चेतना एवं संकल्प-शक्ति, भाग्य या परिस्थिति के समक्ष कुंद पड़ जाती है और ईमानदारी, सच्चाई, आदर्शवादिता के प्रति प्रतिबद्ध एवं पीड़ितों-दुखियों के लिए सहानुभूति रखनेवाला भावुक डा. कृष्णा अपनी ही प्रेमिका से अपमानित होने तथा अपने एवं पद्मा के बीच राजेश के आने के कारण जीवन को निरर्थक समझकर आत्महत्या कर लेता है। पद्मा का दुविधाग्रस्त चरित्र एवं राजेश के प्रति उसका भावुक आकर्षण, डा. कृष्णा की चेतना एवं उनकी जिजीविषा को खत्म कर देता है। नाटककार ने भले ही राजेश में जीवन के प्रति आस्था एवं विश्वास जगाकर मानव-जीवन एवं मानव-मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रकट की हो। परन्तु कृष्णा की आत्मघातक परिणति इसे पुष्ट नहीं करती है। आत्महत्या के लिए देवी के मंदिर में जाने वाले राजेश का अचानक हृदय-परिवर्तन तथा जीवन के अर्थ का साक्षात्कार रचनाकार के रोमानी भाव-बोध के कारण है परन्तु उनका यथार्थ-बोध जीवन की आत्मघाती परिस्थितियों का साक्षात्कार करता है। परिणामत: भारती जी का जीवन की निराशा, अविश्वास एवं घुटन में भी आस्था, सौंदर्य एवं विश्वास के सूत्रों का ढूँढ़ने का प्रयत्न कृत्रिम लगता है।

'नीली झील' प्रतीकात्मक एकांकी है जिसमें भारती जी ने आधुनिक युग में मशीनीकरण की विनाशकारी प्रवृत्तियों के साथ प्रजातंत्र के कपट सहयोग पर तीखा व्यंग्य किया है। जहाँ एक ओर मशीनीकरण के द्वारा गुलामों, औरतों एवं बच्चों को फौलादी भट्ठियों में झोंक दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर प्रजातंत्र के पहरूए प्रजा की संपत्ति एवं उसके सर्वस्व को लूटकर किसी स्वप्न लोक में भाग जाते हैं। नीली झील का तांत्रिक उनके इसी व्यवहार के कारण उन पर आत्मा को नष्ट करने का आरोप लगाता है और उनके द्वारा किए गए अमानवीय व्यवहारों में आत्मा की वास्तविकता का बोध कराता है। वस्तुतः भारती जी मशीनीकरण से उत्पन्न भौतिकतावादी संस्कृति की चपेट में प्रजातंत्र एवं प्रजातंत्र के नुमाइन्दों के अपने मूल उद्देश्य एवं उत्तरादायित्व से चूक जाने की प्रवृति की पहचान करते हैं। अंत में तांत्रिक के माध्यम से अपनी आत्मा को ढूँढने, युद्धरत देश के संघर्ष के अर्थ को समझने, अंधेरे से विद्रोह करने तथा प्रकाश पर आस्था रखने का परामर्श भी देते हैं। इस प्रकार युग की वास्तविकता तथा युद्ध-विभीषिका के बीच मानवीय आत्मा की पहचान का प्रश्न भारती जी की व्यापक मानवतावादी दृष्टि का परिचायक है।

वर्तमान परिवेश में भौतिकतावादी संस्कृति के समक्ष मानवता, मानव-मूल्य एवं मानव-आत्मा का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो गया है। जीवन एवं परिवेश के कठोर, अमानवीय एवं क्रूर पक्ष के कारण रचनाकार की चेतना इस कदर तिलमिला जाती है या उसके मन में बैठा मनुष्य उसे इस कदर झकझोरता है कि वह इस भौतिकतावादी दुनिया के संपूर्ण विनाश के बाद ही नयी दुनिया के आने की परिकल्पना कर बैठता है। वर्तमान में भौतिकतावादी संस्कृति का जो स्वरूप है, जिसके कारण आज दुनिया में नरसंहार, युद्ध, आतंकवाद एवं रक्तपात है, मानव-मूल्यों का जिस प्रकार हनन हो रहा है; उसका विनाश अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इसके लिए संपूर्ण दुनिया का विनाश इंसानियत के अस्तित्व एवं मंगल भविष्य पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देगा। 'सृष्टि के आखिरी आदमी' में चूहों के कोरस तक ज्ञान-विज्ञान एवं भौतिक-दर्शन से संक्रान्तिग्रस्त एवं विस्तृत समाज का जो चित्र सामने उभरकर आता है, उसमें जीवन से निराश युवक आत्महत्या करते हैं, अकाल-मृत्यु

को प्राप्त होते हैं, गोरे अंगों पर गंदे घाव लिए युवतियाँ एवं भौतिक ज्ञान वाले तांत्रिक वातावरण में बसते हैं, युद्ध, आतंक, बलात्कार और रक्तपात से धरती सनी हुई है, चारों ओर अभिशप्त जिंदगी कराह रही है। इसीलिए लगता है यह पृथ्वी मानव और मानवता का आवास-स्थान नहीं, बल्कि पृथ्वी पर बसने वाली मानवता की भीड़ घृणित प्लेग के चूहों की भीड़ है। ये चूहे ही 'नदी प्यासी थी' के 'कीड़े' है और 'नीली झील' की 'आत्माहीन संतानें' हैं। इस कटुतापूर्ण एवं अमानवीय वातावरण से त्राण की क्षीण आशा के कारण ही रचनाकार इस संपूर्ण दुनिया के विनाश की कल्पना करता है। परन्तु रचनाकार दुनिया के विनाश के परिणामों से परिचित है। इसीलिए अपने आक्रोश से परे जाकर संयमित ढंग से केवल इस भौतिकतावादी चूहा-संस्कृति के विनाश की ही बात करता है। रचनाकार को विश्वास है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के द्वारा ही इस अमानवीय संस्कृति से मुक्ति संभव है। इसीलिए वैज्ञानिक सड़क पर पड़ी लाश के करवट बदलने की तथा चूहों की संस्कृति समाप्त करने की बात करता है। शासक इसे राजद्रोह मानता है परन्तु वैज्ञानिक मुर्दे को महाप्रलय का शुभ चिन्ह मानता है। सेनापति द्वारा बन्दूकों को चलाए जाने पर मुर्दा कहता है कि वह मृत्युजित है। अतः इनका कोई असर नहीं पड़ेगा। यहाँ भारती ने संकेत किया है कि इस चूहा-संस्कृति में जो मुर्दा के समान है, जिनके पास खोने के लिए कुछ नहीं, उन्हें मृत्यु से भय कैसा? अर्थात् मुर्दे का क्या अहित हो सकता है? पर उसके कारण जो बदलाव आता है, प्रतिक्रिया होती है तथा प्रतिशोध की भावना बलवती होती है, उससे नवीन मानवीय संस्कृति के निर्माण की आशा बँधती है। मृत्यु के भय से मुक्त होकर ही इस अमानवीय संस्कृति से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। ये मुर्दे ही प्रलय एव विनाश की चरम स्थिति में इस सभ्यता को चुटकी में मसल देते हैं। परन्तु भारती नवीन मानवीय संस्कृति के निर्माण के प्रति आस्थावान रचनाकार हैं। वे गेहूँ के खेत से नव सृजन का बीज दिखलाकर उसकी ध्वंसात्मक वृति में सर्जनात्मक वृति का संचार करते हैं। इस प्रकार पुरानी सृष्टि के विनाश तथा नई सृष्टि के प्रादुर्भाव द्वारा सृष्टि के आखिरी आदमी से नई सृष्टि के मनु का संदर्भ जोड़ने का प्रयास रचनाकार ने किया है। यह रचनाकार के आधुनिक भाव-बोध का

परिणाम हैं कि वह इस प्रक्रिया में संस्कृति के नव-निर्माण के संकल्प की भी पुष्टि करता है।

'आवाज का नीलाम' में आर्थिक अभाव की दारूण-परिस्थितियों में एक निर्भीक, जनता की आवाज के प्रति ईमानदार और स्वतंत्र पत्रकार की विवशता एवं नियति का वर्णन है। दिवाकर द्वारा धनाभाव के कारण 'आवाज' को बेच दिए जाने के बदले उसे पागलपन मिलता है। वास्तव में दिवाकर 'आवाज' नहीं, बल्कि अपनी स्वातंत्र्य-चेतना, संकल्प-शक्ति एवं अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बेच देता है। तात्पर्य यह है कि आवाज अर्थात् अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को भी बेच देने पर व्यक्ति के पास कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। उसकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल्य, उसके अभाव पर भारी पड़ने लगता है, परिणामतः वह पागल होने के लिए अभिशप्त हो जाता है। यहाँ भारती जी आज के पूँजीवादी परिवेश की उस घृणित प्रवृत्ति की ओर भी संकेत करते हैं जिसके तहत हर व्यक्ति की आवाज को खरीद कर गुलाम बना दिया जाता है। सेठ बाजोरिया जैसे पूँजीवादी तत्व के माध्यम से भारती जी ने ऐसे लोगों की कुत्सित मानसिकता का उद्घाटन किया है जो अपने स्वार्थ के लिए अपने मित्र की गर्दन काट सकते हैं, विदेशी सरकार का पिट्ठू तथा वर्तमान सरकार के चमचे बनने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं और जो व्यक्ति की सच्ची आवाज का गला घोट देना ही अपना निहित उद्देश्य मानते हैं। लेकिन भारती जी मानवीय मूल्यों एवं कर्तव्यों के प्रति सचेत रचनाकार हैं इसीलिए विषम परिस्थिति में भी दिवाकर को अपने 'आवाज' को नहीं बेचने के प्रति उद्विग्न दिखाकर अंततः मानवीय स्वातंत्र्य-चेतना तथा कर्तव्य की ही महत्ता स्थापित करते हैं।

'संगमरमर पर एक रात' पूर्णतः रोमांटिक भाव-बोध की एकांकी है जिसमें मेहरून्निसा, जहाँगीर के प्रति अपने सुप्त प्रणय को साकार रूप प्रदान करती है। मेहर की बेटी लाडली अपनी माँ के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर देती है, यहाँ तक कि परवेज को भी छोड़ने के लिए तत्पर है। इस पूरी एकांकी में रचनाकार का रोमानी भाव-बोध हावी है। जहाँगीर के महल से मुक्ति चाहने वाली तथा अपनी बेटी लाडली को जीवन के अनुभवों

एवं वास्तविक सत्यों से परिचित कराने की चाह रखनेवाली मेहरून्निसा अंततः जहाँगीर का दामन पकड़ते वक्त किसी अंतर्द्वन्द्व में दिखाई नहीं देती है। इस अचानक हृदय-परिवर्तन के पीछे रचनाकार का रोमांटिक भाव-बोध ही उत्तरदायी है।

इस प्रकार उपन्यासों एवं कहानियों की तरह ही भारती की एकांकियों में भी रोमानी भाव-बोध तथा आधुनिक भाव-बोध के बीच द्वन्द्व मौजूद है। फिर भी आधुनिक परिवेश में भौतिकतावादी संस्कृति, शासन-सत्ता की जन-विरोधी नीति तथा अवसरवादी तत्वों के कारण मनुष्य की अस्मिता, उसके अस्तित्व, उसकी स्वातंत्र्य-चेतना तथा संकल्प-शक्ति के क्षयित होते जाने की पहचान इन एकांकियों में अवश्य हुई है साथ ही मनुष्य के गौरव को पहचान देने वाली नवीन संस्कृति के निर्माण के प्रति आस्था प्रकट की गई है।

(ङ) संस्मरण-यात्रा वृत्तांत-डायरी

एक समग्र रचनाकार होने के कारण धर्मवीर भारती ने गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं को अपनी सृजनात्मकता से समृद्ध किया है। निबंधों एवं समीक्षाओं के अतिरिक्त संस्मरण, यात्रावृत्तांत, डायरी, रिर्पोताज, रेखाचित्र एवं पत्रकारिता के माध्यम से मूल्य आधारित मानवीय अस्मिता को स्थापित करते हैं। 'यात्रा चक्र', 'कुछ चेहरे कुछ चिन्तन', 'ठेले पर हिमालय' तथा 'कहनी-अनकहनी' ऐसे संग्रह है जिनमें विभिन्न विधाओं से संबंधित रचनाएँ संकलित हैं। उनका आधुनिक भाव-बोध इन गद्य विधाओं को एक नयी शक्ति प्रदान करता है तथा जीवन एवं समाज के ज्वलन्त विषयों के माध्यम से मनुष्य और उसकी नियति का मूल्यांकन भी करता है। उनके लेखन में भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के प्रति सजगता देखने को मिलती है। वे भारतीय संस्कृति के सकारात्मक और उज्ज्वल पक्षों के परिप्रेक्ष्य में रूसी और अमेरिकी संस्कृति को रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''रूसी और अमेरिकी उपभोक्तावाद एक ही सिक्के के दो पहलू है।''[192] दोनों ही स्वतंत्रता और समता जैसे मानवीय मूल्यों का आधार लेकर खुले बाजार पर गढ़ी अपसंस्कृति की ओर ले जाते हैं। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने वाले विभिन्न घटकों को स्पष्ट करते हैं - ''संस्कृति का बीजारोपण किया था, उपनिषदों के ऋषियों ने, कृष्ण की अनासक्ति ने, राम की मर्यादा चेतना ने, सूफी फकीरों के तसव्वुफ और प्रेमचन्द ने, गौतम की करूणा और मैत्री ने, जीसस की क्षमा और त्याग ने, शंकर के अद्वैत ने, चैतन्य के प्रेममहाभाव ने।''[193] महत् मूल्यों से युक्त यह संस्कृति मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य संबंधों के अतिरिक्त संपूर्ण मानवता का सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास सुनिश्चित करती है। भारतीय जन-जीवन से यह संस्कृति इस प्रकार एकमेक हो गई है कि तमाम विसंगतियों के बावजूद सामान्य जन उससे अपना जीवन-रस ग्रहण करता है। लेकिन भारती जी भारतीय संस्कृति में घुसपैठ करती जा रही पश्चिमी उपभोक्तावादी जीवन प्रणाली से चिंतित है और उसका प्रखर विरोध करते हैं - ''संस्कृति वहाँ नहीं है जहाँ मनुष्य से प्राकृतिक रिश्ता केवल उपभोग और उपभोक्ता का है। संस्कृति वहाँ नहीं है

जहाँ मनुष्य और मनुष्य का रिश्ता केवल भौतिक संबंधों का रिश्ता है।'[94] मानव कल्याण के मार्ग से भटक गए विज्ञान और तकनीक की भयावह गति ने भी संस्कृति के लिए खतरा पैदा किया है। आज जबकि ग्लोबलाइजेशन के कारण भारत भी विश्व बाजार का हिस्सा बन गया है, अपसंस्कृति की ओर जाने की भारती जी की चिन्ता के सच होने की संभावना बन जाती है। इसी खतरे के संदर्भ में भारती जी का प्रश्न सार्थक हो जाता है कि ''संस्कृति विहीन लेकिन नए परिवेश में भटकते संसार को क्या नयी संस्कृति मिल सकेगी? क्या इक्कीसवीं सदी, बीसवीं सदी के मायाजालों से मुक्त होकर कोई नयी संस्कृति खोज सकेगी, जहाँ मनुष्य की गरिमा हो, उसका प्रकृति से, मशीनों से और साथी मनुष्य से सार्थक संबंध पनप सकें।'[95] भारती जी के ये प्रश्न मानव जीवन के गहरे अर्थपूर्ण आयामों की खोज की चिन्ता से प्रेरित है।

भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी आस्था होने के कारण भारती जी शिव-पार्वती के विवाह के माध्यम से जीवन-दर्शन के मर्म को उद्घाटित करते हैं। वे शिव के विचित्र रूप तथा पार्वती के मोहिनी रूप पर टिप्पणी करते हैं - ''यह न केवल एक चरम विरोधाभास के सार्थक संतुलन की स्थिति है वरन् पुरुष तत्व और स्त्री तत्व के चरम मिलन के द्वारा मानव जीवन की संपूर्णता का द्योतक है।'[96] अर्थात् शिव का वेष जीवन के निषेध का प्रतीक नहीं है। भारतीय परम्परा में मुक्ति के लिए आत्म-दमन के मार्ग को निषेधात्मक जीवन-दर्शन ठहराते हुए शिव के विचित्र वेष का प्रतीकार्थ स्पष्ट करते हैं - ''वह यह कि अपनी सहज प्रवृत्तियों को मारो मत, लेकिन उनके दास भी न बनो। जीवन के सहज प्रवाह में उन्हें आने दो, फलीभूत होने दो, पर यदि वे निरंकुशता से हावी होने लगें तो उन्हें भस्म कर देने की तेजस्विता और आत्मनियंत्रण भी रखो।'[97] इस प्रकार शिव का रूप बिना किसी भय एवं कुण्ठा से सहज जीवन जीने की प्रेरणा देता है। इसीलिए लोक मानस ऐसे रूप के प्रति कृतज्ञ है। इस रूप में कामुकता के विलास की नहीं, बल्कि स्वस्थ जीवन की स्वीकृति है। इसलिए शिव विवाह में बजने वाली शहनाई को 'संघर्ष और संकीर्णता की नहीं बल्कि समरसता की शहनाई मानते हैं। इसप्रकार भारती जी भारतीय

इतिहास और परम्परा का सिंहावलोकन करते हुए उसमें निहित आधुनिक भाव-बोध के तत्व की पहचान करते हैं और मानव-विरोधी जीवन-दर्शन पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उसकी मानवधर्मी सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय चेतना से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। ''शोकहारिणी लोकतारिणी गंगा मैया'' में मिथकों के प्रतीकात्मक अर्थ-छायाओं को स्पष्ट करते हुए गंगा के कारण लोकमानस में क्रांति-चेतना को रेखांकित करते हैं। 'काले मेघा पानी दे' में भी त्याग, उदारता एवं निस्वार्थता जैसे जीवन मूल्यों को प्रतीकात्मक रूप देकर उनको जीवन में साकार करने वाले भारतीय परम्परा के संस्कारों के माध्यम से वर्तमान भारतीय समाज में निहित स्वार्थ, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि की भर्त्सना करते हैं।

सामान्य जन-जीवन से आंतरिक लगाव भारती जी की विशिष्टता है। सामान्य जनता के आत्म-त्याग और संघर्ष शक्ति पर गहरा विश्वास होने के कारण वे भारतीय स्वाधीनता का श्रेय 'पूर्व नियोजित नियत्ति' (ट्रीस्ट विथ डेस्टिनी) को देने से इंकार करते हैं। वे यह प्रश्न करते हैं कि 'क्या आजादी भारतीय जनता के संघर्ष और बलिदान का परिणाम नहीं था? हमारी नियति से पूर्व नियोजित भेंट किसने कर ली थी, जिसकी परिणति विभाजन, नरसंहार, डर, नफरत और संदेह में हुई? क्या भारत के सामान्य जन ने इस नियति को स्वीकृति दी थी?''[98] भारती जी के प्रश्न सामान्य जनता की आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करते हैं। साधारण जनता की संघर्षक्षमता, बहादुरी और साहस का उल्लेख भारती जी ''कश्मीर, एक याद, एक प्रार्थना'' में करते हैं। सामान्य जन के प्रति उनका यह लगाव राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघकर विश्व जन समुदाय से जुड़ जाता है। 'वे आनाम बारह, वे अज्ञात दस'' में वे बोरिस येल्तसिन के आह्वान पर उदात्त मानवीय आदर्शों के लिए प्राणों का बलिदान करने वाले युवकों का वर्णन करते हैं जो कम्युनिस्टों की षडयंत्रकारी सत्ताखोरी का विरोध कर रहे थे।

इसी प्रक्रिया में वे कम्युनिस्ट तानाशाही का भी पर्दाफाश करते हैं। स्टालिन की तानाशाही राष्ट्रीयता तथा सोवियत रूस द्वारा मार्क्सवाद के बहाने साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया के तहत पौलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी, हंगरी में साम्यवादी हस्तक्षेप तथा

भीषण नरसंहार से यह सिद्ध होता है कि ''तानाशाही व्यक्तिवाद का ही परिणाम नहीं होती, साम्यवादी नारों को गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने वाले भी हिटलर की तरह हो सकते हैं।''[99] इसीलिए कम्युनिस्ट कठमुल्लों को चेतावनी देते हैं - ''यदि समाज को बनाने और विकसित करने की प्रक्रिया व्यक्ति की इकाई से शुरू नहीं हो सकती तो समूह या समाज की तरफ से तो बिल्कुल ही नहीं हो सकती।''[100] लेकिन भारती जी साम्यवादी तानाशाही का विरोध राजनीति से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि उच्च सांस्कृतिक एवं उदात्त मानवीय मूल्यों से प्रेरित होकर करते हैं और इन मूल्यों का स्रोत भी सोवियत इतिहास और साहित्य में पाते हैं। एक ओर वे लिखते हैं कि ''कार्ल मार्क्स ने जो कुछ भी कहा था उसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा, कालबोध और निरन्तर परिष्कृत होती सामाजिक चेतना सबसे पहली शर्ते थी।''[101] दूसरी ओर संकीर्ण राजनीतिक चेतना पर प्रश्नचिह्न लगाती हुई बोरिस पेस्तरनाक की काव्य-पक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं। वास्तव में व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना एवं अस्मिता को महत्व नहीं देने के कारण ही साम्यवाद जन-आक्रोश का निशाना बना। सोवियत विघटन के कारणों की छानबीन करते समय भारती जी, किशन पटनायक के विचारों को उद्धृत करते हैं - ''कम्युनिज्म कोई संस्कृति नहीं दे पाया, उसने संगठन दिया, नारे दिए, आंदोलन किए, सत्ता परिवर्तन दिए। लेकिन सचमुच देने के लिए उनके पास कोई संस्कृति नहीं थी।''[102] स्पष्ट है कि यदि विचारधारा या वाद या शासन व्यवस्था मानव-संस्कृति का अंग नहीं बन पाती या एक ऐसी मानव-संस्कृति निर्मित नहीं कर पाती जिसमें मानव की अस्मिता सुनिश्चित हो सके, तो उसके कालजीवी होने की कल्पना व्यर्थ है।

आधुनिक कहे जाने वाले यूरोपीय समाज की नारी संबंधी संकीर्ण मान्यताओं का भी भारती जी विरोध करते हैं। वे इस बात से हतप्रभ है कि साहित्य, संस्कृति और कला के अग्रदूत देश फ्रांस में प्रख्यात, लेखिका सिमोन द बुआ को मात्र इसलिए पागल और सनकी प्रचारित किया गया कि वे महिला हैं और उनके विचार, पुरुष द्वारा निर्धारित मानदण्डों का निषेध करते थे। उनकी पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' ने पुरुषवर्चस्व को चुनौती

देकर नारी-मुक्ति आंदोलनों को नयी गति प्रदान की। भारती जी सिमोन द बुआ की मान्यताओं की तुलना हिन्दी लेखिका महादेवी वर्मा की मान्यताओं से करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''महादेवी जी का परिप्रेक्ष्य कहीं अधिक व्यापक है और उनके विश्लेषण में कहीं भी आक्रमकता या एकांगिता नहीं है।''[103] महावेदी की दृष्टि निषेधात्मक नहीं थी। वे नारियों की जंजीरपना को दूर कर स्त्री-पुरूष रिश्तों के माध्यम से नारी के जीवन को सार्थकता देने बात करती थी। इसीलिए महादेवी जी नारियों को प्रतियोगिता में पुरुषों जैसे बनने या प्रतिकार करने का परामर्श नहीं देती, क्योंकि इससे नारी अपने नारीत्व को तिरस्कृत कर अपनी मूल प्रकृति को ही खो देगी। इस तुलनात्मक विवेचन के आधार पर भारती जी यह मानते हैं कि आज नारी फैशन, श्रृंगार प्रसाधनों के उपयोग, फिल्म देखने या बोलचाल की तर्ज के आधार पर आधुनिक नहीं हो सकती बल्कि उसे आधुनिक समाज और आधुनिक समस्याओं की गहरी समझ ही वास्तव में आधुनिक बना सकती है।

सृजनशील भारती की यात्रा-कथा एक सांस्कृतिक अभियान की तरह है। वे केवल विशिष्ट स्थानों की यात्रा नहीं करते, बल्कि उनके बहाने विभिन्न संस्कृतियों, समाजों एवं विचारों की यात्राएँ करते हैं। उनके यात्रा-साहित्य में विभिन्न राष्ट्रों की अस्मिता, उनकी सामाजिक मूल्य परकता, परम्परा से आंतरिक लगाव, विश्व राजनीति का यथार्थ और सांस्कृतिक बोध का सूक्ष्मान्वेषण मौजूद होता है। एक संवेदनशील रचनाकार होने के कारण भारती जी का यात्रा-वृत्तान्त मानव मूल्यों और मानव संस्कृति की चिंता का अपवाद नहीं है। बांग्लादेश के मुक्ति-संग्राम के समय मानवता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि ''हैवानियत के खिलाफ हर लड़ाई में कहीं गहन मानवीय प्यार की लड़ाई है।''[104] यहीं कारण है कि ''प्यार की गहनतम अनुभूति ने ही कही मुझे हमेशा न्याय और अन्याय की लड़ाई में बेलाग निडर होकर सचाई के लिए खड़े होने की ताकत दी है।''[105] बांग्लादेश के मुक्ति-संग्राम में भारती जी का साक्षी के रूप शरीक होना मानवीय प्रेम के लिए निर्भीकता से खड़े होने का ही परिणाम है। वे पाकिस्तानी सेना के अत्याचारों के विरूद्ध मुक्ति-वाहिनी के किशोरों के अदम्य साहस, खेतों में कठिन परिश्रम

करते किसानों, अपने-अपने व्यवसाय में लगे शिल्पियों एवं कारीगरों तथा मरकर भी आजादी पाने की जिजीविषा का साक्षात्कार करते हैं तो उन्हें लगता है कि ''अपनी-अपनी जगह पर देश का हर नागरिक युद्ध में शरीक है। कुछ के हाथ में मशीनगने और तोपें हैं, कुछ के हाथ में हल और धान के पूले। आजादी की लड़ाई इसे कहते हैं।''[106] आजादी की इस लड़ाई में प्रत्येक नागरिक, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, धर्म या सम्प्रदाय से ऊपर उठकर बंगमुक्ति के लिए लड़ रहा है। वे स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं - ''मनुष्य की गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने का हर संघर्ष मुझे महाभारत लगा है, जीवन को उसकी संपूर्ण विविधता में प्रस्तुत करता है यह युद्ध क्षेत्र।''[107] इसीलिए बंग-भूमि की आजादी की लड़ाई की तुलना में भारती जी को भारत की आजादी की लड़ाई बेरौनक लगती है क्योंकि हमारी आजादी की लड़ाई धर्म-आधारित दो राष्ट्रों की प्राप्ति के लिए थी, जिसकी परिणति वहशियाना दंगों में हुई। आजादी के बाद कराची और दिल्ली में तोपें दगी थी, परन्तु ''वे तोपें इस बात का ऐलान करती थी कि हमने धर्म के आधार पर दो राष्ट्र बनाने की झूठी, मानवविरोधी कल्पना के आगे, ब्रिटिश चालबाजों के आगे घूटने टेक दिये।''[108] परन्तु बांग्ला-मुक्ति में ''मुजीब बैटरी की तोपें धर्म के आधार पर दो राष्ट्र की उस कल्पना की धज्जियाँ उड़ा रही थीं। बता रही थी कि संस्कृति, भाषा, आजादी, साम्प्रदायिक राजनीति के संकीर्ण दायरे से परे की चीज है।''[109] तात्पर्य यह है कि ''धर्म को गलत संदर्भों से हटाकर सही संदर्भों से जोड़कर शेख मुजीब ने एक नया द्वार खोला था, मानवता के लिए।''[110] इस प्रकार भारती जी धर्म के नाम पर कौमों को बाँटने और एक दूसरे के खून का प्यासा बनाने वाले द्विराष्ट्र के सिद्धांत को मानवतावादी महान क्रांति द्वारा ध्वस्त किए जाने की प्रक्रिया का साक्षात्कार करते हैं।

लेकिन भारती जी की यात्रा इंग्लैण्ड से शुरू होती है। उस इंग्लैण्ड से, जिसके उपनिवेशवादी चंगुल में भारत 200 वर्षों तक गुलाम रहा है। भारती की यात्रा अतीत के साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड से साम्राज्य विहीन इंग्लैण्ड की यात्रा है। इस प्रक्रिया में वे साहित्य, कला, इतिहास, संस्कृति, धर्म और दर्शन में बसे इंग्लैण्ड के सौंदर्य लोक का उद्घाटन एवं

आलोचनात्मक मूल्यांकन भी करते चलते हैं। इन सबके बीच आसमान की बुलन्दी को चूमते क्लाइब के बुत को देखकर भारती जी की चेतना धक्का खा जाती है। उन्हें इंग्लैण्ड की सोच और मानसिकता पर संदेह हो जाता है। वे प्रश्न करते हैं-''वह धूर्त, जालसाज, बंगाल का लुटेरा शासक आज भी इस आँगन पर हावी है। आखिर वे अंग्रेज भी तो थे, जिन्होंने हिन्दुस्तान को प्यार किया। यहाँ सी.एफ.एण्ड्रूज का बुत क्यों नहीं है? यहाँ ए.ओ. ह्यूम की प्रतिमा क्यों नहीं है? यहाँ एनी बेसेण्ट की प्रतिमा क्यों नहीं है? इंग्लैण्ड उन्हें क्यों नहीं प्रतिष्ठित किया, जिन्होंने हमसे दोस्त की तरह प्यार किया? उन्हें क्यों याद रखता है जिन्होंने हमें गुलाम मानकर हम पर राज किया?''[111] ये प्रश्न उस साम्राज्यविहीन इंग्लैण्ड से है, जो झूठे दर्प के कारण अतीत की साम्राज्यवादी मानसिकता से जकड़ा हुआ है। जब रूस और जर्मनी ने क्रमशः स्टालिन और हिटलर के बुतों को गिरा दिया है तो क्यों इंग्लैण्ड आज भी साम्राज्यवादी प्रतीकों के साथ गौरवान्वित महसूस कर रहा है। क्लाइब का यह बुत इंग्लैंण्ड के मानवतावादी एजेण्डे को कहीं-न-कहीं भीतर ही भीतर खोखला बना रहा है और एक गंभीर सांस्कृतिक संकट उत्पन्न कर रहा है।

इसी प्रकार सन् 1964 में जर्मनी यात्रा के दौरान भारती जी पश्चिम और पूर्वी बर्लिन के विरोधाभासों को उजागर करते हैं। संगीत, कविता, कल्पना, चिन्तन और सुकुमार अनुभूतियों वाले बर्लिन को विभाजित करने वाली दीवार भारती जी को उस मध्यकाल की प्रतीक लगती है जब ''चंगेज खाँ, हलाकू, नादिर और नीरो, जिन किलों में लोगों को जिन्दा गड़वा देते थे, खाले खींचवाते थे, उन खूँखार किलों की कोई सबसे जघन्य दीवार एक बड़े अजदहे की तरह अतीत के बियाबान से रेंगती हुई आज के बर्लिन में चली आयी है।''[112] अफ्रीका और एशिया को सभ्यता, आधुनिकता एवं मानवता का पाठ सीखाने का दावा करने वाले पश्चिमी राष्ट्रों के समक्ष बर्लिन की दीवार की प्रत्येक ईंट एक प्रश्नचिह्न की भांति है। उस प्रत्येक ईंट के नीचे अमानुषिक अत्याचारों की दहशत भरी गाथा दबी पड़ी है और मानवता के तथाकथित झंडाबरदारों को चुनौती दे रही है। भारत का विभाजन भी उसी पश्चिमी एवं तथाकथित सभ्यतावादी कुकृत्यों का परिणाम है जिसने बर्लिन की

दीवार खड़ी की थी। आज यद्यपि बर्लिन की दीवार गिरा दी गई है, परन्तु भारत-विभाजन की रेखा पश्चिमी सभ्यता के मानवतावादी दावों पर प्रश्नचिह्न के रूप में कायम है। चीन की दीवार को भी भारती जी ने शांति के प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि अकल्पनीय यातना एवं नरसंहार के रूप में देखा है। चीनी सम्राट शीह्वांगति द्वारा इतिहास को अपने हिसाब से चलाने की महत्वाकांक्षा के कारण कन्फ्यूशियस और उसके समर्थकों का कत्ल कर दिया गया। उनके साहित्य को नष्ट कर दिया गया। इस अमानुषिक अत्याचार के कारण अन्दर से कहीं भयभीत, असुरक्षित और सत्तापिपासु सम्राट ने अपने को सुरक्षित करने के लिए चीन की विशाल दीवार बनवाई। भारती जी के अनुसार यह, ''दीवार उसके समयातीत भय का सबसे बड़ा स्मारक है''[113] जो प्रजा के जीवन को सोखकर और उनके रक्त से सींचकर खड़ी की गई थी। इस प्रकार भारती जी विभाजन की इन दीवारों को सम्राटों एवं शासकों की सत्तालिप्सा या साम्राज्यवादी लिप्सा के रूप में देखते हैं, जिसकी पूर्ति मनुष्य के मनुष्य बनकर जीने के सहज अधिकार को छीन कर की गई है।

चीन यात्रा (सन् 1978 में) के दौरान दुनिया की प्राचीनतम संस्कृति एवं जीवन शैली के निर्माता चीन से साम्यवादी क्रांति वाले चीन के बीच बदलते हुए चीनी समाज का साक्षात् करते हुए भारती जी पाते हैं कि विस्तारवादी सम्राटों के पराक्रम, कन्फ्यूशियस और ताओ के धर्म, लोक गाथाएँ, प्रकृति, काव्य और गौतम बुद्ध के सूत्रों तक का यह चीन मानवीय इतिहास की महान प्रयोगशाला है। चीन ने साम्यवादी क्रांति द्वारा मध्यकालीन निरंकुश इतिहास को फेंक दिया और गाँवों एवं शहरों का नव-निर्माण करते हुए जनसाधारण को भी स्वप्न देखने का अवसर प्रदान किया। लेकिन वे महसूस करते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के इस विराट उपक्रम के बावजूद विचार-स्वातंत्र्य, मानव-गरिमा, अनुभूति एवं मूल्य-बोध की कसौटी पर चीन के शासकों की दृष्टि संकीर्ण बनी रही। चीनी विचार-स्वातंत्र्य केवल कम्युनिज्म के समर्थन में ही विचार प्रकट करने की इजाजत देता है। सन् 1967 में तो सांस्कृतिक क्रांति के नाम पर ''गैंग ऑफ फोर'' ने साम्यवादी क्रांति के बाद लिखे गए सारे साहित्य को जनविरोधी घोषित कर दिया।

भारती जी अपनी यात्राओं में विशिष्ट भौगोलिक स्थानों का परिचय ही नहीं प्राप्त करते हैं बल्कि अपने उदात्त जीवन मूल्यों से अभिभूत करने वाले व्यक्तियों का भी साक्षात्कार करते हैं। अपने संस्मरणों में भारती जी ऐसे व्यक्तित्वों के जीवन के न केवल संवेदनशील एवं मानवीय पहलुओं को उकेरने का प्रयास करते हैं, बल्कि इनके माध्यम से समाज, संस्कृति, कला, साहित्य और इतिहास को विमर्श का विषय बनाते हैं। महान कवि माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्यिक व्यक्तित्व का रूप चित्र रेखांकित करते हैं-''अतीत, वर्तमान और भविष्य को चीरती हुई दिव्य दृष्टि वाले, राष्ट्र से लेकर प्रभु तक के लिए विचित्र ऊर्जाभरी भक्तिवाले, वहाँ वे दादा नहीं थे, साहित्य-देवता थे।''[114] साहित्य देवता के व्यक्तित्व की यह ऊँचाई अनायास या आरोपित नहीं थी। भारती जी के अनुसार, ''उनकी मिट्टी, उनके अपने राष्ट्रीय संघर्षों, उनके अपने त्याग से उपजी ऊँचाई थी। वे जुड़े हुए थे अपनी इस धरती से, अपने लोगों से, अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं से, अपने स्वयं के इतिहास से।''[115] और वे इन सारी चीजों को 'एक भारतीय आत्मा' की दृष्टि से देखते हैं। इसी दृष्टि से भारती जी माखन दा के कवि-कर्म में निहित गहनतम मानवीय संवेदना, युग-मर्यादा, व्यापकतम विश्ववेदना और आधुनिक चेतना की पहचान करते हैं। वे माखनलाल चतुर्वेदी और वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों के संदर्भ में इतिहास बोध को स्पष्ट करते हैं कि इतिहास न तो केवल आर्थिक परिस्थितियों में बनता है और न राजनीतिक घटनाओं की अर्थहीन श्रृंखला मात्र है। इतिहास न केवल मनुष्य की सूझ-बूझ और संकल्प-शक्ति का परिणाम है बल्कि यह मनुष्य को निरन्तर मानवीय, सुसंस्कृत और पूर्ण बनाते चलने की प्रक्रिया भी है। इतिहास को मानव-संबंधों के स्पन्दित आल-जाल के आधार पर देखने के आग्रही भारती जी स्पष्ट करते हैं-''यह दिन-प्रतिदिन अनेक सामाजिक शक्तियों के और मनुष्य के आंतरिक चिन्तन के घात-प्रतिघात से बनता-बिगड़ता सामान्य मानव के जीवन का सामूहिक और व्यक्तिगत घटनाक्रम ही असली इतिहास है।''[116] ऐसा इतिहास इतिहासकार द्वारा नहीं, बल्कि साहित्यकार द्वारा ही लिखना संभव है। उनकी दृष्टि में भगवतीचरण वर्मा ऐसे रचनाकार है जिन्होंने मानव जीवन के सैकड़ों

बनते-बिगड़ते संबंध-सूत्रों एवं घटनाओं के माध्यम से युग-विशेष का इतिहास प्रस्तुत किया है। उनके उपन्यासों - 'टेढे-मेढे रास्ते', 'भूले-बिसरे चित्र', 'प्रश्न और मरीचिका' में ''मानव जीवन की अपनी गति है, परिवर्तन क्रम है, क्षोभ-विक्षोभ है, इन सबकी छाया में अपनी निजी नियति से जूझते हुए व्यक्ति-पात्र हैं और इन सबके माध्यम से सार्थकता की ओर बढ़ता हुआ आधुनिक भारतीय इतिहास है।''[117] साथ ही भारती जी इतिहास के आइने में स्थापित मान्यताओं एवं मूल्यों के अधूरेपन के समक्ष प्रश्नचिह्न लगाने की भगवती बाबू की विशिष्टता को उद्घाटित करते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में मानवीय संवेदना एवं सामाजिक शक्तियों के घात-प्रतिघातों को साक्षात् करने का काम अमृतलाल नागर ने किया। भारती जी, नागर जी के उपन्यासों को वहाँ से शुरू मानते हैं जहाँ प्रेमचन्द का उपन्यास आश्रम स्थापित कर लक्ष्य की पूर्ति कर लेता है। अर्थात् सद्उद्देश्यों से स्थापित आश्रम में ''अत्यन्त पवित्र और महान व्यक्तित्व वाले डा. आत्माराम की छाया में दमित यौन कुण्ठाएँ घुन की तरह उस सारी उपलब्धि को अन्दर से खोखला बना रही हैं।''[118] इस प्रकार नागर जी स्वातंत्र्योत्तर जीवन के खोखलेपन, अकर्मण्यता, मानसिक दासता और मूल्यहीनता के बहाने हर संभावित समाधान पर प्रश्नचिह्न लगाकर अपने उपन्यासों को नया धरातल प्रदान करते हैं।

निराला, अज्ञेय और हरिवंशराय बच्चन से भारती जी की आत्मीय निकटता है। इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन करते समय भारती जी की दृष्टि साहित्यिक सौंदर्य के साथ-साथ मानवीय सरोकारों पर केन्द्रित होती है। उनके अनुसार निराला की कविता समस्त विश्व की संवेदना, प्रान्तीय संस्कृतियों के विविध रंग, जन-जन में वर्गभेद की पीड़ा और इस देश की बहुविध प्रकृति के सारे सौंदर्य को समाहित किए हुए है। व्यापक मानवता में बाधक जर्जर प्रवृत्तियों के विरूद्ध खड़ा होने का साहस दिखाकर निराला ने भले ही दधिचि की तरह अपने को अन्दर से तोड़ लिया, परन्तु कवि के उस शब्द को झूठा नहीं पड़ने दिया, जो उदात्तता एवं शक्ति का भाव जगाता है। इसी आधार पर भारती जी मानते हैं कि हम बहुआयामी कल्पना, गहरी संवेदना, मानवीय करूणा और

रसभीगे सौंदर्य के बिना प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और माखनलाल चतुर्वेदी की परम्परा के उत्तराधिकारी नहीं बन सकते हैं।

भारती जी ने अज्ञेय को असाधारणता एवं साधारणता के दो खम्भों के बीच तनी हुई रस्सी पर चलने वाला रचनाकार बताया है।[119] जबकि हरिवंशराय बच्चन की कविता के सहज आत्मीय रूप के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए भारती जी उनकी नि:शब्दिता को कबीर की भाषा की खामोशी से जोड़ा है।[120] डा. राही मासूम रजा को भारतीय संस्कृति में गहरी पैठ, परम्परागत भारतीय मानस तथा इन्सानी रिश्तों की गहरी समझ रखने वाले रचनाकार के रूप में देखा है, जिन्होंने यह सिद्ध किया कि महाभारत कट्टरवाद के सख्त खिलाफ है। डा. रजा के अनुसार, ''वह तो एक सशक्त केन्द्र का सपना देखता है जिसका आधार राजकल्याण न होकर समाज कल्याण है।''[121]

अपने परिचय के घेरे में आए कुछ राजनीतिक रसूख वाले व्यक्तियों से भारती जी गहरे प्रभावित रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों की वैचारिक प्रतिबद्धता से मतभेद रखते हुए भी भारती जी उनकी मूल्यनिष्ठा, मौलिकता, सौंदर्य-प्रियता एवं जिंदादिली के माध्यम से व्यक्ति की गरिमा को स्थापित करते हैं। जयप्रकाश नारायण की संकल्प-शक्ति और आत्मबल में भारती जी पराजय का विजयगान लिखने की क्षमता देखते हैं। परन्तु इन्हीं मानवीय गुणों के अभाव में रचनाकारों की रचनाशक्ति असमर्थ हो जाती है। वे स्पष्ट करते हैं-''हम भाषा की दलाली करने वाले बुद्धिजीवियों के पास संप्रेषण का संकट है, क्योंकि हम बुजदिलों के पास, हम शब्दों के दुकानदारों के पास खोखले नारे हैं, पर निष्ठा नहीं, आत्मबल नहीं, पर आम आदमी के पास संकल्प है, हृदय है, जो सहता है, पराजित होता है, चुप रहता है और फिर एक दिन अन्याय के खिलाफ, न्याय के पक्ष में उठ खड़ा होता है।''[122] जयप्रकाश ने अपनी संकल्प-शक्ति से जिस संपूर्ण क्रांति को जन्म दिया, वह ऐसे ही पराजित लोगों का विजयगान था। इस पराजित, शोषित, अत्याचार से पीड़ित परन्तु सहिष्णु साधारण लोगों को अपनी गरिमा, अपनी संकल्प-शक्ति और नियति को बदलने का एहसास दिलाने का कार्य राम मनोहर लोहिया ने भी किया। लोहिया जी को स्वतंत्रता,

समानता और सौंदर्य के विविध आयामों वाला व्यक्तित्व सिद्ध करते हुए भारती जी उनके समानता के सूत्र का उल्लेख करते हैं-''हर व्यक्ति, जिसे तुम छोटा से छोटा, त्याज्य से त्याज्य मानते हो, उसकी भी कहीं अस्मिता है, सार्थकता है। उससे, उसी बिन्दु पर जुड़ो क्योंकि कहीं, तुम और वह एक हो।''[123] अर्थात् मानवीय अस्मिता के आधार पर समता का दर्शन लोहिया जी की विशिष्टता है। यह समतावादी दर्शन व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना से जुड़ी हुई है। भारती जी लोहिया के समता-दर्शन और स्वातंत्र्य-चेतना के अन्त:संबंध को स्पष्ट करते हैं-''हम व्यक्ति की अस्मिता को मिटाकर सामाजिक समता नहीं ला सकते, हर व्यक्ति को उसकी अस्मिता और सार्थकता का सहज परिवेश देकर ही समता ला सकते हैं।''[124] इस प्रकार व्यक्ति की अस्मिता की स्थापना ही वह मूलसूत्र है जिसके आधार पर मनुष्य की सहज मनुष्यता को कुंठित होने से बचाया जा सकता है साथ ही अत्याचार और शोषण से पीड़ित मानवता के साथ संवेदना के स्तर पर जुड़ा जा सकता है।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की नीतियों के मुखर आलोचक होने के बावजूद भारती जी उनकी दृढ़ता तथा नि:स्वार्थ विजय भावना को सराहते हैं जिसके कारण पिछले दो हजार वर्षों से आक्रमणकारियों से पददलित होने एवं बिखरने की नियति विजय-यात्रा में बदल गई। ''और यह विजय-यात्रा भी ऐसी कि जिसमें किसी भी देश पर कब्जा करने की दुरभि संधि नहीं, किसी को अपमानित करने की लालसा नहीं - केवल न्याय का पक्ष लेकर लड़ने की निष्ठा और विजयी होने का विश्वास।''[125] बांग्लादेश की मुक्ति में निर्णायक भूमिका का निर्वहन कर उन आक्रमणकारी और साम्राज्यवादी देशों के लिए एक संदेश दिया, जो मानवता के कल्याण के नाम पर मर्यादाहीन हिंसा-प्रतिहिंसा के अंतहीन व्यवसाय में शामिल है। ऐसे सशक्त और निर्भीक नेता की अपने ही विश्वासपात्र अंगरक्षक द्वारा हत्या इस बात का प्रतीक है कि घृणा की जहरीली धाराएँ न केवल दिनोदिन उच्छृंखल एवं मर्यादाहीन होती जा रही है बल्कि हम ''कृतज्ञता और मानवीय विश्वास के गहरे मूल्यों को खोने लगे हैं जो भारत की नैतिक परम्परा के अभिन्न अंग थे।''[126] यहाँ भारती जी स्व. इन्दिरा गाँधी की हत्या के पीछे राजनीतिक और

आतंकवादी पहलुओं से परे मानवीय मूल्यों एवं मानवीय विश्वास की दृष्टि से विचार करते हैं। मानवीय मूल्यों के विघटन एवं मानवता को अपमानित करने में राजनीति की क्या भूमिका रही है, सारे देश में घृणा एवं हिंसा को किस प्रकार राजनीतिक दलों ने सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा एवं निहित स्वार्थ के आधार पर प्रश्रय दिया है, एक पत्रकार होने के नाते भारती जी पूर्णतया परिचित थे। परन्तु उनकी निष्ठा संपूर्ण मानवता के प्रति थी। इसीलिए प्रश्न करते हैं-''क्या हम हिंसा और नफरत की टुकड़ा-टुकड़ा भ्रांतियों में फँसकर उस आदिकालीन दरिन्दगी और वहशत की ओर लौटना चाहते हैं जिस ओर झूठे रहबर हमें बार-बार बहकाते हैं या हम सचाई को समग्रता में समझकर, धर्म और राजनीति को समग्रता में समझकर उस ओर बढ़ना चाहते हैं, जहाँ हम श्रेष्ठ मनुष्य बनते हैं, संपूर्ण मनुष्य बनते हैं।''[127] इस प्रकार भारती जी की चिन्ता में वह मनुष्य है, जो मनुष्यता को सहजता में जीने का आग्रही है और जिसके चरित्र में आपसी प्रेम, समझदारी, एकता, प्रजातांत्रिक सद्भाव, मर्यादानिष्ठा और स्वातंत्र्य-संकल्प अन्तर्भुक्त है। भारती जी का यह मूल्य-विवेक उनके आधुनिक भाव-बोध को सुदृढ़ आधार प्रदान करता है।

प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति अत्यन्त ही संवेदनशील भारती जी ने अपने यात्रा-वृतान्तों एवं संस्मरणों में प्रकृति रूपों के ऐन्द्रिय साक्षात्कार का विस्तृत विवरण दिया है। चन्द्रकांत बांदिवेडेकर के अनुसार, ''कवि भारती का प्रकृति प्रेम आंतरिक है। सौभाग्य से इस प्रकृति प्रेम में संस्कृति-संपृक्ति और राष्ट्रीय भावना भी अपने आप अकृत्रिम ढंग से जुड़ गई है।''[128] प्रकृति प्रेम और राष्ट्र प्रेम के इस अभिन्न संबंध को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि - ''यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा।''[129] स्पष्टत: यह प्रेम केवल ऐन्द्रिक और रोमानी ही नहीं है बल्कि यह राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक प्रेम को भी व्यक्त करता है। भारती जी कश्मीर की घाटी में खिले फूलों और पके फलों की मादक गंध के बीच महसूस करते हैं कि ''जिसे हम सिर्फ नूरजहाँ और जहाँगीर का विहार स्थल और पर्यटकों का स्वर्ग-मात्र मानते रहे हैं वह कश्मीर तो भारतीय

संस्कृति और मनीषा का साक्ष्य प्रदेश रहा है।''[130] इसी प्रकार विभिन्न ऋतुओं में मौसम के बदलते रूपों के बीच लोक-जीवन की उत्सव-धर्मिता के बरक्स वर्तमान परिवेश की यांत्रिकता एवं जटिलता पर भारती जी टिप्पणी करते हैं- ''यह जीवन की आपाधापी है या छद्म आधुनिकता का मुखौटा लगाए हमारी महानगरीयता, लेकिन इतना सच है कि हम सतही राजनीति, सतही बौद्धिक प्रियता और सतही रोमांच के भ्रमजाल में धीरे-धीरे बहुत कुछ ऐसा खोते जा रहे हैं जो हमारे जीवन को एक सौंदर्यानुभूति देता था, जीवन की सहज भावनात्मक रसमयता को उदीप्त करता था, हमारी जीवन-पद्धति को प्रकृति और मानव से गहरे जोड़ता था, उसे अनेक आयाम देता था।''[131] अर्थात् प्रकृति का मानव से साहचर्य संबंध सम्पूर्ण मानवता का सांस्कृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास सुनिश्चित करता है। परन्तु आज के जटिल परिवेश में हमारा मानस प्रकृति-सौंदर्य का अवगाहन करने के बजाय उससे दूर होता जा रहा है और प्रकृति के विभिन्न रूपों से जुड़े प्रतीकों एवं सांस्कृतिक निहितार्थों को भूलता जा रहा है।

भारती जी का प्रकृति प्रेम छायावादी कवियों के प्रकृति प्रेम की तरह रहस्यवादी नहीं है। वे प्राकृतिक सौंदर्य का अवगाहन करते हुए असीम की यात्रा नहीं करते। बल्कि प्रकृति से मानव की ओर देखते हैं। हिमालय तथा कूर्मांचल में हिम दर्शन से अभिभूत होते हुए भी भारती जी मानव मन के अन्तर्द्वन्द्व, उसकी निराशावादी दृष्टि इत्यादि का लोप दिखाकर आधुनिकता-बोध का प्रत्यक्ष प्रमाण भी देते हैं।

अब भारती जी के सम्पादकीय व्यक्तित्व की चर्चा करना आवश्यक है जो उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का अभिन्न अंग था। उनके आधुनिक भाव-बोध के निर्माण में उनके संपादक की निर्णायक भूमिका भी। 'संगम' पत्रिका के सहायक सम्पादक से शुरू उनका सम्पादकीय दायित्व 'निकष' तथा 'आलोचना' पत्रिकाओं से होते हुए 'धर्मयुग' के सम्पादन के गुरू-दायित्व तक पहुँचता है। 'ठेले पर हिमालय', 'शब्दिता', 'कुछ चेहरे, कुछ चिन्तन' और 'यात्रा चक्र' के लगभग सभी निबंध, संस्मरण, यात्रावृतान्त 'धर्मयुग' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हो चुके थे। इस सम्पादकीय यात्रा में वे कहीं भी मानवीय अस्मिता एवं

मानवीय मूल्यों के प्रति समझौतावादी नहीं दिखाई देते हैं। उनका सम्पादकीय दृष्टिकोण इस बात का प्रमाण है कि वे मानवीय मूल्यों एवं सामाजिक सत्य की संरचना के लिए व्यक्तित्व-स्वातंत्र्य को अनिवार्य शर्त स्वीकार करते हैं। 'आलोचना' के अंक-16 के 'दायित्व और स्वातंत्र्य: अविच्छिन्न मूल्य' शीर्षक सम्पादकीय में उन्होंने मानवीय स्वाधीनता के प्रति पक्षधरता व्यक्त की है-''मानवीय स्वाधीनता मौलिक प्रतिमान है अत: मानवीय नैतिकता का आधार यहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता चाहता हुआ दूसरों की समान स्वाधीनता की कामना करें।'' एक साहित्यकार होने के कारण वे यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा कर ही साहित्यकार सामाजिक मूल्यों को गतिशील बना सकता है।

'टाइम्स ऑफ इण्डिया ग्रुप' जैसे व्यावसायिक प्रतिष्ठान की हिन्दी सप्ताहिक पत्रिका 'धर्मयुग' को व्यावसायिक कुप्रभावों से बचाते हुए तथा लेखकीय व्यक्तित्व की स्वाधीनता की रक्षा करते हुए भारती जी ने आधुनिक समस्याओं को विमर्श के केन्द्र में ला खड़ा किया। उन्होंने व्यावसायिक हितों, दूषित राजनीतिक एवं सनसनीखेज पत्रकारिता को साहित्यिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर हावी नहीं होने दिया। अपनी सम्पादकीय कुशलता के बल पर व्यावसायिक सुविधाओं को साहित्य और संस्कृति के मूल्यों को समृद्ध करने की दिशा में मोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि 'धर्मयुग' व्यावसायिक आधार वाली ऐसी साहित्यिक पत्रिका हो गई, जिसकी व्यावसायिकता न तो आदर्श-विरोधी थी और न ही मानव-संस्कृति के विकास में बाधा खड़ी करती थी। भारती जी के प्रयासों से यह पत्रिका एक खिंची हुई लकीर पर चलने के बजाय लोक रूचि को सुसंस्कृत बनाते हुए मानवीय गरिमा के प्रति जागरूकता पैदा करने वाली तथा आधुनिक चेतना की संवाहक बन गई। उन्होंने 'धर्मयुग' के माध्यम से साहित्य, संस्कृति, कला, इतिहास एवं समाज के तात्कालिक एवं विवादास्पद बहसों में सजग हस्तक्षेप किया। यह हस्तक्षेप राजनीतिक लाभ या चर्चा में बने रहने के शौक के कारण नहीं, बल्कि भारतीय लोक मानस की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने तथा लोक मानस तक यथातथ्य चीजों को पहुँचाने की प्रक्रिया के तहत

किया। इसका प्रमाण यह है कि जब वे 'धर्मयुग' के माध्यम से अंग्रेजी की प्रभुता का विरोध कर रहे थे तो वे वास्तव में लोक मानस में व्याप्त अंग्रेजी-भय तथा अंग्रेजी के प्रति घृणा को भी व्यक्त कर रहे थे। वे भाषा के प्रश्न को सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न मानते थे। इसीलिए 'धर्मयुग' के माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं को उचित सम्मान दिलाने का अभियान चलाया। उनके साहसी सम्पादकीय व्यक्तित्व का परिचय तब प्राप्त होता है जब आपातकाल के दौरान वैचारिक स्वातंत्र्य का समर्थन एवं असंवैधानिक तथा अघोषित तानाशाही का विरोध करने वाले लेखों को उन्होंने प्रकाशित कराया।

सन् 1970-72 में बांग्लादेश का मुक्ति-संग्राम भारती जी के सम्पादकीय और पत्रकार जीवन का अहम् हिस्सा था। उन्होंने हवाई हमलों, फूटते बमों, गरजती तोपों, बरसती गोलियों और खेतों में बिखरी लाशों से युक्त युद्ध भूमि का आँखों देखा हाल अत्यन्त संवेदनापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। रक्तरंजित मुक्ति संघर्ष का विवरण उन्होंने मानवीय संस्कृति एवं मानवीय स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लड़ी जा रही एक महान लड़ाई के बतौर दिया है। वे मुक्तिवाहिनी के सैन्य शिविरों में जाकर सैनिकों की निष्ठा, परिश्रम एवं त्याग से अभिभूत होकर उन सैनिकों में निहित मानवीय संवेदना को उजागर करने से नहीं चूकते। वे किशोर हवलदार पटवारी की बहादुरी, हवलदार अब्दुलबारी के बलिदान, मौलाना मासानी की जिन्दादिली एवं 32 वर्ष जेल में काटने की तपश्चर्या को मुक्ति-संग्राम के मूल मंत्र के रूप में देखते हैं। इस प्रकार 'धर्मयुग' बांग्लादेश के मुक्ति-संग्राम का विस्तृत विवरण देने वाली हिन्दी की एकमात्र पत्रिका बन गई। उन्होंने राजनीतिक एवं सामरिक महत्व की दृष्टि से नहीं, बल्कि मानवीय संवेदना एवं सांस्कृतिक साझेदारी की दृष्टि से भारत द्वारा बांग्लादेश के मुक्ति-संग्राम की सहायता का समर्थन किया।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है एक समग्र रचनाकार होने के कारण भारती जी के चिन्तन एवं लेखन में व्यापकता एवं गहराई है। वे विश्व के विभिन्न विचारों, आंदोलनों, व्यक्तियों एवं कृतित्वों का व्यापक अध्ययन एवं तटस्थ मूल्यांकन करते हैं तथा भाव-बोध एवं सर्जना के स्तर पर मानवीय मूल्यों के हिमायती हैं। इसी कारण वे फ्रायड, मार्क्स एवं

नीत्शे के अतिवादी आग्रहों द्वारा मनुष्य की गरिमा को ध्वस्त किए जाने की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। एक कवि होने के कारण उनके गद्यलेखन पर रोमानी-बोध का प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु, इसके बावजूद, मनुष्य की यथार्थ अवधारणा को छिटकने नहीं देते हैं। साहित्य संबंधी अवधारणा के स्तर पर उन्होंने अन्य देशों की राजनीतिक, सांस्कृतिक परम्पराओं का बोझ ढोने से इंकार कर स्वतंत्र चिंतन का परिचय दिया है और दूसरे देशों की राजनीतिक-सांस्कृतिक परम्पराओं के अंधानुकरण में लिखे गए साहित्य को प्रमाणिक नहीं माना है।

संदर्भ स्रोत

1. धर्मवीर भारती - सं. प्रभाकर श्रोत्रिय में ''लोकप्रियता का प्रतिमानः गुनाहों का देवता'' शीर्षक निबंध - ले. विवेकी राय, पृ. सं. 127
2. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना - सं. पुष्पा भारती; साहित्य मंदिर में 'गुनाहों का देवता' शीर्षक निबंध पृ. सं. 191
3. गुनाहों का देवता - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 240
4. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना - सं. पुष्पा भारती; 'गुनाहों का देवता' हिन्दी उपन्यासों के साथ' शीर्षक निबंध ले. राजेन्द्र यादव पृ. सं. 180
5. वहीं, पृ. सं. 179
6. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना - सं. पुष्पा भारती; साहित्य मंदिर में गुनाहों का देवता शीर्षक निबंध, पृ. सं. 192
7. सूरज का सातवाँ घोड़ा - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 100
8. आधुनिक हिन्दी उपन्यास-सं. भीष्म साहनी पृ. सं. 70
9. सूरज का सातवाँ घोड़ा - ले. धर्मवीर भारती पृ. सं. 9
10. वहीं पृ. सं. 22
11. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - सं. भीष्म साहनी, पृ. सं. 71
12. हिन्दी नवलेखन - ले. रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. सं. 107
13. सूरज का सातवाँ घोड़ा - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 42
14. वहीं पृ. सं. 100
15. वहीं पृ. सं0 100
16. वहीं पृ. सं0 100
17. नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति - सं. देवीशंकर अवस्थी, पृ. सं. 22
18. रचना और आलोचना - ले. देवीशंकर अवस्थी, पृ. सं 132
19. धर्मवीर भारती ग्रंथावली - भाग-2, पृ. सं. 81
20. वहीं, पृ. सं. 33
21. वहीं पृ. सं. 34
22. वहीं पृ. सं. 57
23. वहीं पृ. सं. 57
24. वहीं, पृ. सं. 46
25. वहीं पृ. सं. 46

26. वहीं पृ. सं. 215
27. वहीं पृ. सं. 46
28. वहीं पृ. सं. 173
29. वहीं पृ. सं. 182
30. वहीं पृ. सं. 127
31. वहीं पृ. सं. 72
32. वहीं पृ. सं. 73
33. वहीं पृ. सं. 93
34. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना - सं. पुष्पा भारती, 'मुक्त करूणा से आप्लावित कहानियाँ' शीर्षक निबंध पृ.सं. 94
35. बन्द गली का आखिरी मकान - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 16
36. वहीं पृ. सं. 33
37. वहीं पृ. सं. 33
38. सिलसिला - ले. मधुरेश पृ. सं. 121
39. बन्द गली का आखिरी मकान - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 57
40. जब जंजीरें टूटेंगी - पाश, सं. चमनलाल, पृ. सं. 6
41. बन्द गली का आखिरी मकान- ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 90
42. वहीं पृ. सं. 86
43. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 195
44. सिलसिला - ले. मधुरेश, पृ. सं. 120
45. वहीं पृ. सं. 122
46. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 86
47. वहीं पृ. सं. 78
48. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना, सं. पुष्पा भारती, 'मुक्त करूणा से आप्लावित कहानियाँ' शीर्षक निबंध, पृ. सं. 95
49. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 273
50. वहीं पृ. सं. 257
51. मानव मूल्य और साहित्य - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 24
52. वहीं पृ. सं. 28
53. वहीं पृ. सं. 29

54. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना, सं. पुष्पा भारती, 'अंधायुग कब कैसे लिखा गया' शीर्षक निबंध, पृ. सं. 704
55. मानव मूल्य और साहित्य - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 25
56. वहीं, पृ. सं. 35
57. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 249
58. वहीं, पृ. सं. 188
59. पश्यन्ती - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 136
60. परिवेशः हमतुम - ले. कुँवर नारायण पृ. सं. 84
61. पश्यन्ती - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 143
62. पश्यन्ती - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 145
63. पश्यन्ती - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 149
64. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 19
65. वहीं पृ. सं. 17
66. वहीं पृ. सं. 18
67. वहीं पृ. सं. 86
68. वहीं पृ. सं. 69
69. वहीं पृ. सं. 115
70. उपन्यास और लोक जीवन - ले. राल्फ फॉक्स, अनु. नरोत्तम नागर, पृ. सं. 22
71. वहीं पृ. सं. 23
72. धर्मवीर भारती ग्रंथावली-5, पृ. सं. 125
73. वहीं भाग - 4 पृ. सं. 84
74. वहीं पृ. सं. 264
75. वहीं पृ. सं. 333
76. मानव मूल्य और साहित्य - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 27
77. वहीं पृ. सं. 33
78. वहीं पृ. सं. 33
79. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 273
80. वहीं भाग-4, पृ. सं. 348
81. अंधायुग - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 33
82. धर्मवीर भारती, ग्रंथावली भाग-5, पृ. सं. 273-74

113. वहीं पृ. सं. 365

114. कुछ चेहरे कुछ चिन्तन- ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 25

115. कुछ चेहरे कुछ चिन्तन-ले. धर्मवीर भारती पृ. सं. 27

116. वहीं पृ. सं. 81

117. वहीं पृ. सं. 83

118. वहीं पृ. सं. 98

119. वहीं पृ. सं. 177

120. वहीं पृ. सं. 217-118

121. वहीं पृ. सं. 185

122. वहीं पृ. सं. 122

123. वहीं पृ. सं. 129

124. वहीं पृ. सं. 130

125. वहीं पृ. सं. 154

126. वहीं पृ. सं. 154

127. वहीं पृ. सं. 157

128. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग-6, संपादकीय पृ. सं. 12

129. चिन्तामणि भाग-1, ले. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. सं. 20

130. शब्दिता, पृ. सं. 59

131. शब्दिता, पृ. सं. 96

पंचम अध्याय

धर्मवीर भारती की संवेदना

धर्मवीर भारती की संवेदना

भारती जी का साहित्य मानवीय गरिमा के प्रति सचेत रचनाकार के चिन्तन, अनुभव और अध्ययन का परिणाम है। उनके साहित्य में भारतीय वाङ्मय एवं संस्कृति के विविध रूपों का दर्शन होता है, साथ ही उन्होंने पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति एवं दर्शन के विविध आयामों को भी गहराई से समझा है। यद्यपि मार्क्सवादी चिन्तन पद्धति एवं मार्क्सवादी संस्कृति का मूल्यांकन उनका प्रिय विषय रहा है, परन्तु संसार के विविध साहित्यान्दोलनों एवं वैचारिक आंदोलनों को मानवता की कसौटी पर भी विश्लेषित किया है। अपनी रचनाओं में उन्होंने आधुनिक मनुष्य के जटिल परिवेश एवं उसकी समस्याओं के संदर्भ में उसकी अस्मिता, स्वातंत्र्य-चेतना, उसकी भावनाओं एवं आकांक्षाओं को वाणी दी है। भारती जी की संवेदना मानव की मानवता का अपमान करने वाली प्रवृत्तियों, रूढ़ियों, रिवाजों और जर्जर मान्यताओं एवं मूल्यों के विरूद्ध पड़ती है। उनकी दृष्टि मानवीय संस्कृति को क्षयित करने वाली प्रवृत्तियों की पहचान में चूकती नहीं है। इसलिए उन्होंने मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, नीत्शेवाद, स्वच्छन्दतावाद जैसी वैचारिक प्रवृतियों से लेकर विज्ञान और टेक्नोलॉजी के प्रति नकारात्मक सोच के साथ-साथ उन व्यक्तियों, शासकों एवं राष्ट्रों को भी प्रश्नवाचक दृष्टि देखा है जो अपनी करतूतों से मानवता के विकास को बाधित करते हैं। मानवता एवं मानवाधिकारों के लिए संघर्ष करने का दावा करने वाले ये व्यक्ति, शासक और राष्ट्र किस प्रकार स्वार्थलिप्सा एवं सत्तालिप्सा से प्रेरित होकर मानवता के प्रति जघन्य अपराध किए हैं या कर रहे हैं, भारती जी चेतना उनकी इस खोखली नैतिकता से टकराती है।

(क) आधुनिक भाव-बोध के प्रश्न

धर्मवीर भारती के समस्त साहित्य के केन्द्र में मानवीय गौरव और भारतीय अस्मिता की प्रतिष्ठा प्रधान रही है। इसलिए जहाँ कहीं भी मानवता का अपमान दृष्टिगत होता है, उनके रचनाकार व्यक्तित्व की संवेदना इससे टकराती है। उनकी संपूर्ण रचनाशीलता में वर्तमान परिवेश में, या अतीत के संदर्भ में भी, विघटित मानवीय मूल्यों को पुनर्परिभाषित करते हुए उनकी पुनर्प्रतिष्ठा का प्रश्न उठाया गया है। वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप मनुष्य की सुख-समृद्धि में वृद्धि एवं चेतना में परिवर्तन से भारती जी अनभिज्ञ नहीं है। वे जानते हैं कि विज्ञान ने मानवीय मूल्यों एवं मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। परन्तु विज्ञान और तकनीक के प्रति सकारात्मक सोच के अभाव के कारण आंतरिक रूग्णता बढ़ी है जिससे मनुष्यता, आस्थाहीनता और विश्वासहीनता के कटघरे में खड़ी हो गई है। इस विषम स्थिति में प्रत्येक विश्वास, मूल्य, कर्मनिष्ठा, मुक्तिप्रयास एवं संघर्ष-चेतना, यहाँ तक कि आधुनिकता की अवधारणा के समक्ष संशयात्मक प्रश्नचिह्न लग गए। मानवीय संबंधों में या मूल्यों के संघर्ष में कहीं-न-कहीं अविश्वास, झूठ और फरेब का कीड़ा दुबका बैठा है जिससे भ्रम एवं संशय का वातावरण निर्मित हुआ है। भारती जी महसूस करते हैं कि 'हम सबके दामन पर दाग है', 'हम सबकी आत्मा में झूठ है', और 'हम सबके माथे पर शर्म है।' यह 'दाग', 'शर्म' और 'झूठ' मानवीय मूल्यों के, जिसमें मानवीय अस्मिता की बात निहित है, नाम पर एक प्रश्नचिह्न है।

आधुनिक परिवेश में सबसे अधिक किसी मूल्य को चुनौती दी गई है तो वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का मूल्य। चाहे कोई भी सामाजिक व्यवस्था या सत्ता तंत्र हो, चाहे वह सामंतवादी, पूँजीवादी, लोकतांत्रिक और साम्यवादी तंत्र हो, सभी किसी-न-किसी रूप में मानवीय स्वतंत्रता एवं मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा अवश्य पैदा करते हैं। ये खतरे आधुनिक माने जाने वाले तथा मानवीय गरिमा की अगुवाई का दंभ भरने वाले सत्ता तंत्रों के विरूद्ध एक प्रश्नचिह्न है। भारती जी महसूस करते हैं कि शासन-व्यवस्था चाहे कोई भी हो, सत्ताधारी यदि 'गुलाम बनाने वाले' हैं तो वे मनुष्य की स्वाधीनता को कैद करने के

लिए जंजीरें ही लाते हैं:-

"घोड़ों पर रखकर या थैली में भरकर
या रोटी से ढँककर, या फिल्मों में रंगकर
वे जंजीरें, केवल जंजीरें ही लाए हैं।"[1]

मूल प्रश्न यह है कि आज भी क्यों मनुष्य को गुलाम बनाने की मनोवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आया है? व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना और उसकी आंतरिकता को कुंठित करने का प्रयास क्यों किया जा रहा है। आधुनिक सत्ता-तंत्र के सामाजिक एवं राजनीतिक चरित्र का उद्‌घाटन करते हुए भारती जी देखते है कि पौरुष, सर्जनशीलता और ओजस्विता से युक्त व्यक्ति-स्वातंत्र्य चेतना के कुंठित हो जाने से 'कुत्सित नपुंसक मुद्राओं में ढला हुआ' वृहन्नला दिखाई देता है। यह आधुनिक सत्ता-तंत्र के समक्ष एक गंभीर प्रश्नचिह्न है।

इन स्वार्थी और सत्तालोलुप सत्ता-प्रतिष्ठानों के जटिल-जाल में जनसाधारण इस प्रकार उलझा हुआ है कि संघर्षशील क्षमता कुंद पड़ती जा रही है। जिस जनसाधारण के जीवन में आलोक फैलाने के लिए प्रमथ्यु ने अदम्य साहस के साथ दारुण पीड़ा भोगी थी, वह प्रमथ्यु की मर्मान्तक पीड़ा को देखकर भी अपनी कायरता और निर्लज्जता से ही चिपटा हुआ था। मानवीय अस्मिता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए दिखाए गए साहस, बलिदान और भोगी गई पीड़ा के लिए इससे बढ़कर क्या त्रासदी हो सकती है? इस त्रासदी को दिखाकर भारती जी ने जनसाधारण की क्रांतिकारिता एवं संघर्षशीलता के ऊपर प्रश्नचिह्न खड़ा किया है।[2]

व्यक्ति की अस्मिता और आंतरिकता को महनीय मानवमूल्य के रूप में स्थापित करते हुए भारती जी ने एक साथ नीत्शे, मार्क्स और फ्रायड के विचारों का सूक्ष्म मूल्यांकन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नीत्शे, मार्क्स और फ्रायड अपनी चिन्तन की सीमाओं के कारण मानवीय विवेक और उसकी अन्तरात्मा को किसी-न-किसी रूप में अनावश्यक ठहराते हैं। मार्क्स ने भौतिक विकास पर बल देकर तथा मनुष्य को इतिहास का नियन्ता न मानकार उसकी भावनाओं एवं रागात्मक लगावों को अनदेखा कर दिया था।[3]

फ्रायड ने मनुष्य को दमित वासनाओं का दास बताकर उसे विवेकशून्य पशु की कोटि में ला दिया।[4] भारती का 'टूटा पहिया' 'तीन पगों से धरती नापने वाला बौना', 'प्रमथ्यु', और 'भूखा आदमी' इन चिन्तनधाराओं के लिए चुनौती खड़ा करते हैं। मनुष्य की आन्तरिकता की रक्षा का प्रश्न अस्तित्ववादी चिंतन से प्रभावित होते हुए भी जनोन्मुखी है।

व्यक्ति की आंतरिकता को ठोकर मारने के कारण ही इतिहास की शक्तियाँ अंधी दिखाई पड़ती हैं और मूल्य-विमर्श की प्रक्रिया में इतिहास निरर्थक हो जाता है। भारती की 'कनुप्रिया' कृष्ण से पूछती है कि यदि उसकी चरम तन्मयता के क्षण का कोई महत्व नहीं है तो 'अकल्पनीय अमानुषिक घटनाओं' से युक्त इतिहास किस अर्थ में सार्थक है।[5] आधुनिक भाव-बोध की चेतना से युक्त कनुप्रिया का इतिहास की शक्तियों के समक्ष एक सार्थक प्रश्न है।

'कनुप्रिया' में भारती जी ने इतिहास के इस विडम्बनात्मक सत्य का उद्‌घाटन किया है कि मूल्य-विमर्श की समस्त प्रक्रिया पुरुषवादी वर्चस्व पर आधारित है। कनुप्रिया इतिहास प्रवर्तक कृष्ण से पूछती है कि समर्पण की चरम-परिणति के बावजूद अपनी सृजन-संगिनी को इतिहास की मुख्य धारा से क्यों नहीं जोड़ पाए:

''सखी को तुमने बाँहों में गूँथा
पर उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गए प्रभु?''[6]

यह 'कनुप्रिया' की आधुनिक नारी का आधुनिक भारतीय पुरुष से एक प्रश्न है, जिसका जवाब पुरुषवादी समाज के पास नहीं है। यहाँ भारती कनुप्रिया के माध्यम से एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं? क्या कर्ममय जीवन रागात्मक संवेदना से रहित होता है? क्या नारीत्व की गरिमा पुरुष को चरम समर्पण प्रदान करने या भोग की वस्तु बनने तक ही सीमित है? भारती के ये प्रश्न आधुनिकता का दावा करने वाले समाज के समक्ष एक गंभीर चुनौती है। आधुनिक मानव रागात्मक सहज संस्पर्शों से रहित होने के कारण मानसिक रूप से विक्लांग और अमानुषिक होने के लिए अभिशप्त है।

आत्म-चेतना या निजी अनुभूति की गरिमा से शून्य होने के कारण कृष्ण द्वारा

पांडवों एवं कौरवों के पक्ष-विपक्ष ग्रहण का निर्णय द्विधाग्रस्त निर्णय था। कृष्ण का निर्णय इतिहास के अंध-प्रवाह में विवशतावश लिया गया निर्णय था।

"जो मेरे पैताने हैं, वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने हैं, वह अधर्म"[7]

कृष्ण का यह निर्णय विवेक-अविवेक की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इस प्रकार इतिहास की सामूहिक गति के बरक्स स्व-अस्तित्व की चेतना का प्रश्न उठाकर भारती जी ने युगीन परिस्थितियों के दबाव में व्यक्तित्व के विघटन जैसी समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसके कारण व्यक्ति, अस्तित्व से विच्छिन्न होकर अपने को युग-प्रवाह में बहने के लिए छोड़ देता है। महाभारतकालीन संग्राम में कृष्ण के निर्णय के परिप्रेक्ष्य में भारती जी ने द्वितीय विश्व युद्ध में शामिल राष्ट्रों के निर्णयों को चुनौती दी है। द्वितीय विश्वयुद्ध में शामिल किसी भी राष्ट्र के पक्ष को न्याय-अन्याय की कसौटी पर खरा सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि युद्धरत राष्ट्रों की प्रतिबद्धता लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रति नहीं, बल्कि साम्राज्यवादी उद्देश्यों एवं आर्थिक हितों के प्रति थी। जो राष्ट्र लोकतांत्रिक अधिकारों एवं विश्व मानवता के नाम पर द्वितीय विश्व युद्ध में शामिल हुए थे, वे सभी स्वयं को छला हुआ महसूस करते हैं। युद्धोत्तर परिणामों ने सदियों से संजोयी उनकी संस्कृति, कला, दर्शन, धर्म आदि के समक्ष सवाल खड़े कर दिए।

भारती जी कहानियों एवं उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक एवं मानवीय संबंधों की यांत्रिकता, कृत्रिमता एवं ठंडेपन का भी पर्दाफाश करते हैं। उनकी कहानियों में बंगाल के अकाल के माध्यम से सामाजिक संबंधों एवं मानवीय संबंधों की वास्तविकता को सामने रखा गया है। ये कहानियाँ अकाल के बहाने मानवता के समस्त आदर्शवादी मुखौटे को पूर्ण विद्रूपता के साथ खोल देती हैं। ये कहानियाँ मानवीय संवेदना की मृत्यु की घोषणा करती हुई शासन, धर्म एवं समाज की व्यवस्थाओं पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं। परिस्थितिजन्य दबावों या यथार्थ जीवन के टकराहट के कारण व्यक्ति और समाज के

रिश्तों में ठंडापन आ गया हैं। यह ठंडापन व्यक्ति और व्यक्ति के सहज संबंधों, रागात्मक लगावों और विश्वासों के ऊपर एक प्रश्नचिह्न हैं। निर्जीव पड़ते जटिल मानवीय संबंधों की विसंगति के लिए सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियाँ एवं रीति-रिवाज भी उत्तरदायी है। गुलकी, सावित्री, दीनू एवं बूढ़े मुंशी की व्यथाएँ मानवता के प्रति अपमान हैं, इसके साथ ही पति-परमेश्वर की मध्यकालीन बद्धमूल संस्कार, विवाह और परिवार की संस्था के समक्ष प्रश्नचिह्न भी है। क्योंकि यह संस्कार-भावना मानवीय चेतना को पूर्णतया कुंठित कर देती है। इसीलिए भारती जी की कहानियाँ यह प्रश्न उठाती हैं कि क्या सामाजिक-धार्मिक रीति-रिवाजों के समक्ष व्यक्ति की भावनाओं का कोई मूल्य नहीं है? जिन रीति-रिवाजों को मनुष्य ने बनाया है, उन्हें मनुष्य की भावनाओं को कुचलने का अधिकार किसने दिया? क्या रीति-रिवाजों, आदर्शों, मूल्यों की प्रासंगिकता मानवीय अनुभूतियों को कुचल डालने में है? क्या मनुष्य की अस्मिता एवं पहचान का आधार क्या केवल उसकी 'सामाजिक स्थिति' है या उसकी विशिष्टताओं का भी कोई मूल्य है?

अकाल के समय अनाज का कृत्रिम अभाव पैदा कर इंसान और इंसानियत का जीवन-रस चूसने वाली महाजनी एवं पूँजीवादी मानसिकता की क्षुद्रता पर भारती जी ने सियारों के माध्यम से व्यंग्य किया है।[8] अन्न के अभाव से उत्पन्न भूख की तुलना में धन की भूख ईसान को किस कदर अमानवीय बना देती है कि धनचूषक सेठ, भूखों से मरने के पहले रास्ता छोड़ देने की बात करते हैं। यहाँ धनचूषकों के मानव होने पर प्रश्न खड़ा होता है कि क्या वे मानव है या आदमी का गोश्त खाने वाले मनुष्य की शक्ल में सियार? भूख, पीड़ा, अपमान और मानवीय संवेदनशीलता को समानान्तर रूप में प्रस्तुत करके भारती जी की कहानियाँ देश-काल की परिधि को लाँघकर वर्तमान समय में, जबकि विश्व का एक बड़ा हिस्सा भूख से पीड़ित है, कल्याणकारी कहलाने वाले आदर्श राज्यों से उनके 'कल्याणकारी' होने का अर्थ पूछती हैं।

भारती जी उस मध्यवर्ग को भी प्रश्नों के कटघरे में खड़ा करते हैं जो यांत्रिक रूप से सामाजिक रूढ़ियों एवं रीति-रिवाजों को ढोता चला जा रहा है परन्तु उसके बाहर आने

के बजाय अवसादग्रस्त और निराश होता जाता है। यह मध्यवर्ग अपनी नैतिक पतनशीलता एवं मौकापरस्ती के कारण मानवीय संवेदना से रहित होता गया है। 'गुनाहों का देवता' का चन्दर मध्य वर्ग के ऐसे ही कायर और निर्लज्ज चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का माणिक मुल्ला भी ऐसा ही पात्र है जो सामाजिक रूढ़ियों एवं विधि-निषेधों को चुनौती देने के बजाय उनसे समझौता करता चलता है। माणिक मुल्ला की दृष्टि में मध्यवर्ग की 'मर्यादाशीलता' केवल 'परिष्कृत कायरता' ही है जिसके कारण उसकी जिंदगी बेहद कारूणिक और भयानक हो जाती है। जिसकी विडम्बना उस समय सामने आती है जब तन्ना जैसे निम्न मध्यवर्गीय पात्र अपने तमाम सद्प्रयत्नों एवं ईमानदारी के बावजूद सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती नहीं दे पाता है। उसकी दारूण मौत मध्यवर्ग के चरित्र पर प्रश्नचिह्न होने के साथ-साथ तमाम सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यवस्थागत मर्यादाओं के समक्ष भी प्रश्नचिह्न है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ धर्म में, दर्शन में, स्मृतियों में, पौराणिक ग्रंथों में और सिद्धांत ग्रंथों में सत्य बताया गया है वह जीवन की कसौटी पर सच कहाँ उतरता है? यदि जीवन की कसौटी पर सच नहीं उतरता तो इनके अंधानुकरण की विवशता कैसी? झूठी नैतिकता, आर्थिक विपन्नता और रूढ़िगत धार्मिक आस्था के मकड़ जाल में व्यक्ति एवं समाज की जीवन-व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होते जाना सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के समक्ष एक प्रश्नचिह्न है। ये व्यवस्थाएँ मानव एवं मानवता के समस्त श्रेष्ठ मूल्यों को दफन कर देती हैं।

भारतीय संस्कृति को क्षयित करने वाली प्रवृत्तियों से भी भारती जी पूर्णतः परिचित हैं। वे भारतीय जीवन-पद्धति में घुसपैठ करती जा रही पश्चिमी उपभोक्तावादी जीवन प्रणाली पर भी सवाल खड़ा करते हैं। उनके अनुसार, ''संस्कृति वहाँ नहीं है जहाँ मनुष्य से प्राकृतिक रिश्ता केवल उपभोग और उपभोक्ता का है।''[19] वे रूसी और अमेरीकी उपभोक्तावाद को एक ही सिक्के के दो पहलू ठहराते हुए सिद्ध करते हैं कि स्वतंत्रता और समता जैसे मूल्यों का आधार लेकर दोनों ही खुले बाजार पर गढ़ी अपसंस्कृति की ओर ले जाते हैं। आज ग्लोबलाइजेशन के दौर में अपसंस्कृति की ओर जाने की भारती जी की

चिन्ता के सच होने की संभावना बन जाती है। इसी खतरे में संदर्भ में यह प्रश्न सार्थक हो जाता है कि ''संस्कृति विहीन, लेकिन नए परिवेश में भटकते संसार को क्या नयी संस्कृति मिल सकेगी।'' ''क्या इक्कीसवीं सदी, बीसवीं सदी के मायाजालों से मुक्त होकर कोई नयी संस्कृति खोज सकेगी, जहाँ मनुष्य की गरिमा हो, उसका प्रकृति से, मशीनों से और साथी मनुष्य से सार्थक संबंध पनप सके।''[10] भारती जी के ये प्रश्न मानव-जीवन के गहरे अर्थपूर्ण आयामों की खोज की चिन्ता से प्रेरित है।

भारतीय इतिहास और परम्परा का सिंहावलोकन करते हुए भारती जी उसमें निहित आधुनिक भाव-बोध के तत्व की पहचान करते हैं और मानव-विरोधी जीवन-दर्शन पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। विचित्र वेषधारी शिव के विवाह के बहाने वैराग्य की प्रवृति और निषेधात्मक एवं निष्क्रिय जीवन शैली की भर्त्सना करते है।[11] साथ ही त्याग, उदारता, निस्वार्थता एवं परोपकार जैसे जीवन मूल्यों को प्रतीकात्मक रूप देकर उनको जीवन में साकार करने वाली भारतीय संस्कृति के माध्यम से वर्तमान भारतीय समाज में निहित स्वार्थ, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि की भर्त्सना करते हैं। वे भारतीय परम्परा में नारी की परनिर्भरता तथा जंजीरपना की प्रवृति की आलोचना करते हैं। इसके साथ ही अपने नारीत्व को तिरस्कृत कर आधुनिक दिखने का प्रयत्न करने की प्रवृति का निषेध करते हैं कि क्या नारी फैशन, शृंगार प्रसाधनों के उपयोग, सिनेमा देखने एवं बोलचाल की तर्ज के आधार पर आधुनिक हो सकती है या आधुनिक समाज एवं आधुनिक समस्याओं की गहरी समझ ही वास्तव में आधुनिक बना सकती है?

उच्च सांस्कृतिक मूल्यों एवं उदात् मानवीय मूल्यों से प्रेरित भारती जी रूसी साम्यवाद की तानाशाही प्रवृति के समक्ष भी प्रश्न उठाते हैं कि ''तानाशाही व्यक्तिवाद का ही परिणाम नहीं होती, साम्यवादी नारों को गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने वाले भी हिटलर की तरह हो सकते हैं।''[12] इसी प्रकार अतीत के साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड में क्लाइब के बुत को देखकर वे प्रश्न करते हैं कि इंग्लैण्ड ''उन्हें क्यों याद रखता है जिन्होंने हमें गुलाम मानकर हम पर राज किया? उन्हें क्यों नहीं प्रतिष्ठित करता, जिन्होंने हमसे दोस्त की तरह

प्यार किया?''[13] भारती जी के ये प्रश्न उस इंग्लैण्ड से ही जिसके साम्राज्य का विघटन हो चुका है परन्तु, झूठे दर्प के कारण अतीत की साम्राज्यवादी मानसिकता से जकड़ा हुआ है। मूल प्रश्न है कि क्यों इंग्लैण्ड आज भी साम्राज्यवादी प्रतीकों के साथ गौरवान्वित महसूस कर रहा है? क्लाइव का यह बुत इंग्लैण्ड के मानवतावादी और लोकतांत्रिक एजेण्डे को कहीं-न-कहीं भीतर-ही-भीतर खोखला बना रहा है।

भारती जी बर्लिन की दीवार तथा भारत-विभाजन की रेखा को पश्चिम के मानवतावादी दावों पर प्रश्नचिह्न के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार अफ्रीका और एशिया को सभ्यता, आधुनिकता एवं मानवता का पाठ सीखाने का दावा करने वाले पश्चिमी राष्ट्रों के समक्ष बर्लिन की दीवार की प्रत्येक ईंट एक प्रश्नचिह्न की भांति है। भारत का विभाजन और विभाजन के बाद की त्रासदी उसी पश्चिमी एवं तथाकथित सभ्यतावादी कुकृत्यों का परिणाम है। इसी प्रकार चीन की दीवार भी प्रजाजनों के जीवन-रस को सोखकर तथा उनके रक्त से सींचकर खड़ी की गई थी। यह दीवार भी मनुष्य के मनुष्य बनकर जीने के सहज अधिकार छीनकर खड़ी की गई थी।

बांग्लादेश में मुक्ति संग्राम को भारती जी ने मनुष्य की गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने वाले संग्राम के रूप में देखा है। वे मुजीब बैटरी की तोपों को, धर्म के नाम पर कौमों को बाँटने वाले द्वि-राष्ट्र के सिद्धांत पर प्रश्नचिह्न के रूप में देखते हैं जो विभाजन की साम्प्रदायिक राजनीति की धज्जियाँ उड़ा रही थीं।

(ख) आधुनिक भाव-बोध और जादुई रोमांटिकता का द्वन्द्व

धर्मवीर भारती की रचनाधर्मिता की विशिष्टता है कि उनकी समस्त रचनाओं में प्रेम और रागात्मिका वृत्ति का संस्पर्श मिलता है। उनके अनुसार इसके सहारे जीवन अपने तमाम घातों-प्रत्याघातों में भी मनोरम लगता है। इसीलिए जीवन और प्रेम के एकत्व को उनकी समस्त रचनाओं में प्रतिपादित किया गया है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में किशोर मन की भावुकता, प्रणयाकांक्षा, रूपासक्ति और विरहवेदना की निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति हुई है। बाद की रचनाओं में भी उनका रोमानी-बोध यदा-कदा झलक जाता है। इसी कारण कुछ आलोचक भारती जी को रोमैंटिक भाव-बोध वाला रचनाकार मानते हैं साथ ही यह भी आरोप लगाया जाता है कि उनकी रोमैंटिकता आधुनिक संवेदना के निर्वहन में बाधा डालती है।

यह सच है कि भारती जी के प्रारंभिक काव्य-संग्रह 'ठंडा लोहा' (1952) की अधिकांश कविताएँ भावुक किशोर मन की प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति होने के कारण रौमैंटिक भाव-बोध से युक्त है। लेकिन यह प्रणयानुभूति किसी भावुक यूटोपिया लोक की अनुभूति नहीं हैं, बल्कि वास्तविक जीवन से जुड़ी अनुभूति है। इसलिए यह अनुभूति जीवन के संघर्ष, दुख-दर्द और आशा-निराशा से जुड़ी हुई है। इन रचनाओं की एक अन्य विशेषता यह है कि भारती जी की ईमानदारी और साहस के कारण इनमें प्रणयानुभूति का सीधा और निर्द्वन्द्व साक्षात्कार है। इसमें छायावादी कविताओं की तरह लुकाव-छिपाव नहीं है और नहीं फिसलन है। छायावादी कवि, पन्त, प्रसाद और महादेवी आदि, जो प्रेम की स्वप्निल एवं रहस्यमयी आँखमिचौनी खेल रहे थे, और जिसमें प्रिय या प्रिया आसमान से मुस्कराते हुए उतरते थे, वह भारती जी की सृजनात्मकता में नहीं मिलता है। भारती जी अपनी प्रणयानुभूतियों के ऊपर कोई नैतिक या दार्शनिक आवरण डालकर उसके उदात्तीकरण का प्रयास नहीं करते हैं। वे प्रेम के अमूर्त जादुई संसार से कविता को निकालकर मूर्त एवं मानवीय संवेदना की ठोस भूमि पर ले आते हैं। उन्होंने प्रकृति और नारी को बार-बार नयी-नयी छवियों से हेरा है, प्रकृति सुन्दरी के अनेकानेक रूप-बिम्ब इनकी कविताओं का

शृंगार करते हैं। बदलते मौसमों की मस्ती से इस कविता में जीने की चाह का रागतत्व समा गया है। उनकी किशोर कल्पना में नारी शरीर के रूप-रंग-गंध भरे बिम्बों का स्थायी निवास है। नारी के गुलाबी नैन, चम्पई वक्ष, जाफरानी तन और सुरमई आभा के प्रति कवि का आकर्षण किसी कुंठा से पीड़ित नहीं है। उन्होंने प्रेमभोग में किसी तरह का छद्म-भाव नहीं ओढ़ा है। स्पष्टतः अकुंठ प्रेम ही व्यक्तित्व का विकास करता है। भारती जी प्रणय संबंधों के अंतर्गत स्त्री-पुरुष के शारीरिक आकर्षण को प्राकृतिक और स्वस्थ प्रवृत्ति मानते हैं। इसीलिए वे प्रणय के वासनामय होने के बावजूद अपराध-भाव से ग्रस्त नहीं होते हैं, बल्कि वे इसे जिंदगी की वास्तविकता का प्रतिमान मानते हैं: -

''धड़कते वक्ष पर मेरा अगर व्यक्तित्व खो जाए
न हो यह वासना तो जिंदगी की माप कैसे है?''[14]

तात्पर्य यह है कि भारती जी की रोमांटिकता जीवन की वास्तविकता से जुड़ी हुई है। वे रोमांटिकता और प्रेम के मामले में एक बनी-बनाई लीक का अनुसरण नहीं करते। उनका रोमांटिक प्रेम सतत एक नयी भावना और एक नये विचार के साथ विचरण कर रहा होता है। उनकी रोमांटिक अनुभूतियों से स्पष्ट है कि प्रेम का विषय कभी पुराना नहीं पड़ता। उनकी प्रेम-भावना में जीवन के प्रति आस्थावादी दृष्टिकोण है।

परन्तु जहाँ तक आधुनिक भाव-बोध का प्रश्न है, वह रोमानी भाव-बोध के कारण बाधित हुआ है। आधुनिक भाव-बोध के प्रश्नों को उठाने में नितांत वैयक्तिक रागवाली रचनाएँ सफल नहीं हुई हैं। 'ठंडा लोहा', की 'तुम्हारे चरण', 'प्रार्थना की कड़ी', 'उदास तुम', 'डोले की गीत', 'फागुन की शाम, 'बेला महका', आदि कविताएँ रोमानी भाव-बोध की हैं जिसमें वैयक्तिक रोमांटिक प्रणय की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। परन्तु आधुनिक भाव-बोध की दृष्टि से ये कविताएँ सफल नहीं हुई हैं। यद्यपि जीवन और समाज के यथार्थ चित्रों की छायाएँ अवश्य विद्यमान हैं। रोमांटिक भाव-प्रवणता के बावजूद सर्द पड़ते प्रेम-संबंधों की झलक दिखाई देती है। 'ठंडा लोहा' एक प्रकार से प्रेम संबंधों के या मानव-संबंधों के ठंडे पड़ जाने का प्रतीक है। मानवीय प्रेम-संबंधों के ठंडे पड़

जाने के कारण तनावों और द्वन्द्वों में जीता हुआ आदमी ठंडा लोहा बन गया है। यह ठंडापन व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सहज संबंधों, रागात्मक लगावों और विश्वासों को बेरहमी से कुचलता जा रहा है:-

''मेरे और तुम्हारे सारे भोले निश्चल विश्वासों को
आज कुचलने कौन खड़ा है?
ठंडा लोहा!''[15]

इस प्रकार भारती का भावाकुल मन, निर्द्वन्द्व प्रणयवाला मिजाज, धीरे-धीरे मिलन, विरह, वेदना और समर्पण जैसी विविध भाव-भूमियों को पार करते हुए युगीन संघर्षों, मानसिक प्रत्याघातों और दुख-दर्दों की ओर अग्रसर होता है तथा उस विराट जीवन-सत्य के अनुसंधान में संलग्न होता है जो व्यक्ति की अस्मिता और गौरव में सहायक है। 'ठंडा लोहा' की भूमिका में भारती जी ने यथार्थ-बोध के प्रति प्रतिबद्धता जतायी है और 'जनवादी भाव-भूमि की खोज' में संलग्न हुए हैं। 'ठंडा लोहा' की कुछ कविताएँ ऐसी है जो नितांत वैयक्तिक रोमांटिकता के दायरे को तोड़ती हैं और निजी आंतरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति के स्थान पर 'अपने से बाहर की व्यापक सचाई को हृदयंगम' करने का प्रयास करती हैं। कवि यह महसूस करता है कि जीवन में केवल रोमांटिक प्रणय, अतृप्त इच्छाएँ और दमित वासनाएँ ही सबकुछ नहीं है। ''यथार्थ के इस साक्षात्कार में प्रेम की समस्त कल्पनाशील रंगीनी, उसकी कोमलता, सरलता और अकुलाहट सब तिरोहित हो जाते हैं''[16] :-

''यह आत्मा की पावनता, मन की ऊँचाई
ये रेशम के सपने
अनजान गुफाओं में खो जाते हैं।''[17]

अर्थात् ''भारती की रोमैंटिक प्रेम की कोमल कल्पना यथार्थ से, जीवन के कठोर और निर्भय यथार्थ से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती है।''[18] किशोर भावुकता और रोमैंटिक कल्पनाशीलता निस्सार लगने लगती है। रोमैंटिक प्रणयाकांक्षा और भावावेश का व्यवहारिक

जीवन की सचाई से अन्तर्विरोध प्रकट होता है। यह अन्तर्विरोध ही रचनाकार को आधुनिक भाव-बोध के निकट ले आता है। वासना के विष को अमृत माननेवाला रचनाकार यह स्वीकार करता है:-

''जीवन है कुछ इतना विराट, इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सब का महत्व''[19]

इस प्रकार जीवन की विराटता को स्वीकार कर कवि जीवन-संघर्षों का साक्षी बनता है। प्रिय के फिरोजी होठ, जाफरानी तन और मंजुल बाँहों के प्रति उसका आकर्षण कम हो जाता है। वह व्यापक जीवन-संघर्षों का साक्षात्कार करता है। कठोर यथार्थ के साक्षात्कार के बाद कवि को लगता है कि जीवन में जो संघर्ष है, दुख है, गहरा उतरता दर्द है, बेचैनी है, वह केवल एक व्यक्ति का नहीं है, बल्कि संपूर्ण मानव-समुदाय इससे अभिशप्त है:-

''यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है।''[20]

जीवन में सुख-दुख की व्यापक स्वीकृति ही एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़ती है और मानवता में दृढ़ आस्था प्रकट करती है। इस प्रकार भारती जी रोमानी भाव-बोध से द्वन्द्व करते हुए उससे मुक्त होते है और आधुनिक भाव-बोध तत्कालीन सामाजिक एवं मानवीय सरोकारों के अनुकूल रूपाकार ग्रहण करता जाता है। प्रश्न यह है कि क्या भारती जी वास्तव में रोमानी भाव-बोध से मुक्त हो पाए हैं? इसका सकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि सात वर्ष बाद 1959 में प्रकाशित 'सात गीत वर्ष' की रचनाओं में भी रोमानी भाव-बोध बना हुआ है। इसके अतिरिक्त 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' से लेकर उनकी अधिकांश कहानियों में रोमानी भाव-बोध उनके आधुनिक भाव-बोध से द्वन्द्व करता दिखाई देता है। इनके संस्मरणों, यात्रा वृत्तांतों एवं एकांकियों में भी रोमानी भाव-बोध सदैव आधुनिक भाव-बोध के लिए बाधक नहीं बनता है बल्कि आधुनिक भाव बोध में सहायक बन कर आता है। भारती जी की कहानी 'मुर्दो का गाँव' के अंत में भूख के मरती जुलाहिन का जुलाहे के प्रति भावुक प्रेम ही उसे

वापस लौटा लाता है। यहाँ रोमैंटिकता मानवीय संवेदना को और अधिक गहराती है, समस्त व्यवस्थाओं पर एक साथ प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। जुलाहे-जुलाहिन के शव के पास 'ताजमहल-1943' लिख दिया जाना उस भूख की विडम्बना के बीच जीवित मानवीय संवेदना को ही प्रकट करता है। इस रोमैंटिक अंत को 'स्वप्न श्री और श्री रेखा' कहानी में वाणी मिली है:- ''देखो न मौत में भी कितना आकर्षण चढ़ गया है। कहते हैं, प्रणय की मौत जहरीली हो, किन्तु सुन्दर बहुत होती है।''[21] इसी प्रकार ''गुलकी बन्नो'' में रोमांटिक दृश्यों की परिकल्पना हुई है जो अपनी सहजता में मानवीय संवेदना को ही उजागर करते हैं। मिरवा एवं मटकी के प्रति गुलकी की भावुकता न केवल उसके व्यक्तित्व को सहज बनाए रखती है, बल्कि घेघा बुआ की हृदयहीनता के माध्यम से मानवीय संवेदना के अंतर्विरोधों को भी प्रकट कर देती है। ''बंद गली का आखिरी मकान'' में बूढ़े मुंशी जी का बिटौनी और बिरजा के प्रति अतिशय भावुक लगाव रचनाकार के रोमानी भाव-बोध के कारण ही है। परन्तु यह भावुक लगाव ही कहानी में मानवीय संबंधों के ठंडेपन तथा सामाजिक रूढ़ियों की विडम्बना को अत्यंत प्रखर रूप में उभारने में सहायक होता है। अत: यदि रोमानी भाव-बोध सामाजिक विषमता तथा मानवीय संवेदना के पर्तो को उभारता है तो वह आधुनिक भाव-बोध में बाधक नहीं हो सकता है। 'कनुप्रिया' में तो राधा कृष्ण की प्रेम-भावना जैसे रोमैंटिक विषय को कथानक के रूप में लेने के बावजूद भारती जी आधुनिक भाव-बोध के प्रश्नों के सफलता से उठाते हैं। प्रभाकर श्रोत्रिय के अनुसार- ''भारती जी की मार्मिक परीक्षण स्थली 'कनुप्रिया' है जिसकी प्रेम इतना विस्फोटक है अधकचरी रूमानियत और ओढ़े हुए आदर्श की चिन्दी-चिन्दी उड़ा देता है, लेकिन प्रेम का ऐसा मधुर स्रोत भी खोल देता है, जिससे विचार की, औदात्य की और गाम्भीर्य की स्रोतस्विनी बहकर दिक्काल के ओर-छोर मिला देती है, अपने समय को हमारे समय से जोड़ देती है।''[22] अर्थात् 'कनुप्रिया' में ऐसे सहज प्रेम की अभिव्यक्ति है जो खोखले और विघटनशील मूल्यों को नकारता है।

लेकिन रोमानी भाव-स्थलों की अतिशय उपस्थिति भारती जी की रचनाओं में

हास्यास्पद स्थिति भी उत्पन्न करता है। 'गुनाहों का देवता' तमाम सामाजिक एवं मानवीय सरोकारों के बावजूद भावुक प्रवाहों के अनेक स्थलों से युक्त है। जो सुधा और चन्दर के प्रेम को गहराई देने के बजाय उन्हें हास्यास्पद बना देता है। चन्दर की संपूर्ण अनुभूति-मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, वासनात्मक छटपटाहट-के पीछे समाज का कोई हाथ नहीं है। इसी प्रकार चन्दर के द्वारा चाँटा मारे जाने पर सुधा द्वारा उसके हाथ को देखना, विदाई के दिन सुधा द्वारा सामने बैठकर चन्दर को खिलाना और आँचल से हाथ पोंछने के लिए कहना जैसे भावोच्छ्वासपूर्ण चित्र प्रेम की गहराई को भले प्रकट करते हों परन्तु स्थिति को हास्यास्पद ही बनाते हैं। यहाँ रचनाकार के आधुनिक भाव-बोध की तुलना में रोमानी भाव-बोध अधिक प्रबल बन गया है। इसीप्रकार भारती जी की कहानियों में, चाहे गुलकी की विदाई का प्रसंग हो या मुंशी जी द्वारा माँ के रूप में बिरजा की कल्पना हो, या दीनू का अकारण भावुक समर्पण हो या सावित्री द्वारा राजाराम के प्रति आकर्षण हो, रोमानी भाव-बोध की अभिव्यक्ति सार्थक नहीं बन पाई है। जिससे कहानियों का भाव-बोध कृत्रिम और अविश्वसनीय बन जाता है। जिन लोगों की गुलकी के प्रति कभी सहानुभूति नहीं थी, पति के साथ जाने पर वहीं लोग गुलकी को ऐसे विदा करते हैं, जैसे वे अपने घर की किसी लड़की को ससुराल भेज रहे हों। अचानक इस भावुक हृदय-परिवर्तन का कोई कारण नहीं दिखाई देता। यदि यह हृदय-परिवर्तन नहीं था, तो इस दृश्य को चित्रित करने के लिए व्यंग्य के तेज धार की जरूरत थी, अन्यथा यह हास्यास्पद होने के लिए अभिशप्त है। इसी प्रकार माँ की भावना के समक्ष दीनू के समर्पण से भी आधुनिक दृष्टि बाधित होती है। इसके अतिरिक्त चाची के परिवार का सौहार्द्र, अपर्णा का संसर्ग, हर सिंगार की गंध भावुक और रोमानी दृष्टि के ही परिणाम है। ये ऐसे स्थल हैं जो कहानी के भाव-बोध को बाधित करते हैं।

लेकिन रोमानी भाव-बोध और आधुनिक भाव-बोध के द्वन्द्व के संबंध में भारती जी का दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनके अनुसार सामाजिक परिवेश की तमाम कठिनाइयों एवं विसंगतियों के बीच जीते मनुष्य की संवेदनहीनता एवं हृदयहीनता के बावजूद

कहीं-न-कहीं उसमें राग-तत्व अवश्य मौजूद होता है। उनके अनुसार, ''आदमी हर जगह आदमी होता है। हृदय हर जगह हृदय होता है।''[23] इसलिए व्यक्तित्व की कठोरता एवं संवेदन शून्यता के बावजूद रोमानी भावुकता का एक अंश बना रहता है। भारती जी के शब्दों में, ''यह एक शाश्वत भूख है। एक ऐसी भूख है जो न कभी बुझ पायी है और न कभी बुझ पाएगी। वह एक ऐसा फूल है जो लहरों के थपेड़े खाकर भी लहरों के सर पर मुकुट की तरह चढ़ा रहता है।''[24] अतः भारती जी की रचनाओं में रोमानी भावुकता, जीवन एवं मानवीय संवेदना का अंग बनकर व्यक्त हुई है। रोमानी भाव-बोध, आधुनिक भाव-बोध में बाधा बनने के बावजूद इस बात की पहचान करती है कि सामाजिक विषमताओं एवं दबावों के बावजूद मानवीय संवेदनशीलता में आस्था रखते हुए मानवीय गौरव एवं मानवीय अस्मिता को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। यह अलग बात है कि रोमानी भाव-बोध मानवीय एवं सामाजिक सरोकारों में सहायक होते हुए अनेक स्थलों पर अस्वाभाविक स्थितियों का शिकार होता गया है।

(ग) आधुनिक भाव-बोधः संरचना और शिल्प

धर्मवीर भारती का आधुनिक भाव-बोध साहित्य में पुराने मूल्यों, आदर्शों एवं जर्जर मान्यताओं के खिलाफ पड़ता है। वे 'पुरानी प्रतिमाएँ', नए प्रतिमान' शीर्षक साहित्यिक डायरी में स्पष्ट लिखते हैं कि ''सारे कौशल और पच्चीकारी के साथ पुराने प्रतिमानों से ही चिपके रहकर कोई भी लेखक, किसी भी युग में क्या प्राणवान साहित्य की सृष्टि कर सकता है?''[25] भारती जी के इन विचारों से स्पष्ट है कि वे टेकनीक पर जोर देने की तुलना में कथ्य के भाव-बोध पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। उनकी रचनाओं के प्रतिपाद्य विषय के सूत्र स्पष्ट होते हैं क्योंकि वे अतिरिक्त पच्चीकारी द्वारा चमत्कृत करने या सायास रूप से बौद्धिकता एवं दुर्बोधता उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करते। वे जीवन की अनुभूतियों, संवेदनाओं-सुख-दुख के प्रत्येक भाव-को स्वानुभूति के स्तर पर लाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। उनके चित्रण और वर्णन में सूक्ष्मता एवं व्यंजना का आधिक्य अवश्य है। परन्तु वे उद्देश्यहीन ढंग से कलावादी नहीं है और न शिल्प के अभिनव प्रयोगों के प्रति उनका आग्रह है। शिल्प के नये रूपों का अन्वेषण एवं प्रयोग कथावस्तु एवं संवेदना को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने की अनिवार्यता पर निर्भर करता है। अर्थात्, भारती का शिल्पगत प्रयोग पूर्णरूपेण भाव-बोध के ग्रहण के प्रति समर्पित है। मानवीय एवं सामाजिक सरोकार ही उनकी रचनाओं को रूपाकार देते हैं यहीं कारण है कि अन्य नये कवियों, कहानीकारों एवं उपन्यासकारों की तरह भारती जी परम्परागत शिल्प के प्रति विद्रोही दृष्टिकोण नहीं रखते हैं।

मानवीय संवेदना को अत्यंत सहजता से उभारने के कारण भारती जी के कथाकार की शैली में एक आत्मीयता है। इसलिए उनकी कहानियाँ हृदय को स्पर्श करती है और मस्तिष्क को कुछ सोचने के लिए विवश करती है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के अतिरिक्त 'सावित्री नम्बर दो, 'यह मेरे लिए नहीं' तथा 'बंद गली आखिरी मकान' जैसी कहानियाँ उनकी आत्मीय शैली के स्पष्ट उदाहरण है। भारती अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में निर्वैयक्तिकता और तटस्थता से उत्पन्न शून्य को कथोपकथन द्वारा पूर्ण करते हैं।

कथोपकथन की शैली नाटकीय होने के कारण कथानक की दिशा तथा अनुभूति की सघनता स्पष्ट हो जाती है। भारती की कहानियों की विशिष्टता यह है कि ये आकार में छोटी होने ('चाँद और टूटे हुए लोग' संग्रह की कहानियाँ) के बावजूद कथावस्तु में विस्तार लिए हुए हैं। कहानी जिस विषय को लेकर चलती है, उस पर संकीर्णता से कायम नहीं रहती, बल्कि अनेक पर्तें एक के बाद एक उतारती चली जाती है जिससे जिंदगी के अनेक आयाम हमारे सामने खुलने लगते हैं। महज साढ़े तीन पन्नों की कहानी 'मुर्दो का गाँव' अत्यंत प्रखरता से व्यक्ति एवं समाज के अनेक आयाम पाठक के समक्ष खोलती है। जुलाहे का प्रतीक, घटनाओं का क्रम और अंततः 'ताजमहल-1943' का लिखा जाना एक न समाप्त हो जाने वाले वृत्तांत में तब्दील हो जाता है। यह कहानीकार के अनुभव की सघनता एवं व्यक्ति तथा परिवेश के जीवन्त संबंधों के कलात्मक किन्तु सहज रचाव का परिणाम है। अनुभूति की सघनता के बावजूद अभिव्यक्ति में सहजता का परिणाम यह है कि शिल्प एवं भाव-बोध भारती की कहानियों के हेतु के कार्य-कारण बन गए हैं। 'मुर्दो का गाँव' के अतिरिक्त 'मरीज नम्बर सात, 'कुलटा', 'कफन चोर', 'धुँआ', 'युवराज', 'भूखा ईश्वर' तथा 'हरिनाकुस और उसका बेटा' आदि कहानियों में अनुभूति की सघनता एवं अभिव्यक्ति की सहजता के बीच प्रतिस्पर्धा देखी जा सकती है। इन कहानियों में परम्परागत फॉर्म के प्रति प्रतिबद्धता तथा नये फॉर्म के विकास का प्रश्न ही अस्वाभाविक हो जाता है।

परम्परागत फॉर्म या रूप के प्रति विद्रोही प्रकृति नहीं होने का अर्थ यह नहीं है कि परम्परागत फॉर्म के प्रति भारती की गहरी प्रतिबद्धता है। इनकी लम्बी कहानियों, विशेषतः 'बंद गली का आखिरी मकान' की कहानियों में परम्परागत फॉर्म अत्यन्त सार्थकता के साथ टूटा है और बिना किसी पच्चीकारी के जीवन-यथार्थ को स्पष्ट कर दिया गया हैं। इन कहानियों के बीच में छोटी कहानियों का नियोजन कविता की पंक्तियों की तरह संवेदना की गहराई का बयान करने के लिए हुआ है। इन कहानियों में यथार्थ-जीवन की घटनाओं, स्थितियों एवं अनुभूतियों को क्रमागत रूप से उपस्थित करने के कारण कथानक

का सहज एवं स्वाभाविक विकास हुआ है। कथानक में जटिलता उत्पन्न नहीं होती। वे कथा-सूत्रों एवं पात्रों के चारित्रिक विकास को इस प्रकार नियोजित करते हैं कि सामाजिक असमानता एवं विकृतियों पर असंतोष या आक्रोश प्रकट करने के लिए अलग से अन्त:कथाओं एवं उपकथाओं को जोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। भारती की कहानियों की खासियत यह है कि जिन पात्रों को लाते हैं, सबके सब कथा-संघटन से चिपके होते हैं। उनके चरित्र का विश्लेषण करने के लिए अलग से कुछ बयान नहीं करना पड़ता है। उन्होंने अपने पात्रों को जीवन के यथार्थ से चुना है और जिस यथार्थता से एवं जिन व्यापक सामाजिक उद्देश्यों के लिए प्रस्तुत किया है उससे ये पात्र यथार्थ जीवन के लोगों के स्थानापन्न बन जाते हैं। विभिन्न चरित्रों के अन्तर में भावों के उदय, उनके मानसिक द्वन्द्व और घात-प्रतिघातों की स्वाभाविकता, कहानी की अनुभूति की सघनता को बढ़ाती जाती है। यह भारती की कहानियों की शिल्पगत प्रौढ़ता का प्रमाण है। चाहे गुलकी, सावित्री, दीनू, मुंशी जी तथा हरिनाकुस हो चाहे उनके आस-पास के लोग, जो उनके जीवन में आते हैं, किसी भी चरित्र के विषय में भारती जी कुछ नहीं कहते हैं। इसके बावजूद सभी पात्र अपनी विशिष्टताओं एवं दुर्बलताओं तथा संपूर्ण परिवेश के साथ इस प्रकार आते हैं कि कहानियों की मूल संवेदना सघन हो जाती है और पाठकीय चित्त अपने व्यापक परिवेश के बोध से जुड़ जाता है। फैशनपरस्त लम्बी कहानियों में जिनमें किसी खास टेकनीक का आग्रह होता है, मर्म-स्पर्शी संवेदना नहीं होती है। इसमें बौद्धिक चमत्कार चाहे जिस रूप में हो, मौलिकता पर चाहे कितना विश्वास कर लें, आधुनिकता का चाहे जिस रूप में दावा कर लें, आस्वाद एवं प्रभाव की कसौटी पर कहानी की वास्तविकता खुलकर सामने आ जाती है। इन फैशनपरस्त कहानियों के विपरीत भारती जी की कहानियों में लोक-संपृक्ति का आदि से अन्त तक सहज स्वर और संगीत है।

नयी कहानियों में कलागत स्वातंत्र्य एक महत्वपूर्ण शिल्पगत उपलब्धि मानी जाती है। जीवन और समाज से जुड़ी जटिल अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति की माँग ने रचनाओं को कहानी-कला के अंतर्गत अन्य कला-रूपों-चित्रों, कविता, संस्मरण, रेखाचित्र

एवं रिपोर्ताज आदि- के तत्वों को समावेशित करने के लिए विवश किया। भारती की कहानियाँ भी इस कलागत स्वातंत्र्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'गुलकी बन्नो', 'सावित्री नम्बर दो', तथा 'बन्द गली का आखिरी मकान' आदि कहानियाँ चरित्र-वश्लेषण पर आधारित कहानियाँ हैं, जिसमें संस्मरण, चित्र तथा रेखाचित्र के तत्वों का संगुफन किया गया है। 'गुलकी बन्नो' के प्रारंभ में गुलकी के पूर्व जीवन-वृत को उपस्थित करते समय नाटकीय प्रस्तुतीकरण का सहारा लिया गया है। 'सावित्री नम्बर दो' की शुरूआत 'फ्लैश बैक' पद्धति के अनुसार होती है तथा कथा, आत्मकथात्मक रूप से आगे बढ़ती है। 'बंद गली का आखिरी मकान' में बद्री नाथ की यात्रा के वर्णन के लिए यात्रा-वृतांत शैली का भी सहारा लिया गया है। मुंशी जी की मौत के समय हरिराम की उपस्थिति एक नाटकीय नियोजन है जिसके कारण कहानी क्लाइमेक्स को प्राप्त करती है। 'धुँआ' कहानी न केवल सांकेतिक है बल्कि रेखाचित्र शैली का भी प्रतिनिधित्व करती है। 'तारा और किरण' एक रूपक कथा है। इस प्रकार, सजीव रेखाचित्रात्मकता, आंचलिकता बिखरती जिंदगी के बीच सांस्कृतिक बोध एवं लोकोन्मुखता आदि के माध्यम से कहानी के प्रभाव एवं आस्वाद में वृद्धि होती गई है। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण लक्ष्मीकांत वर्मा 'गुलकी बन्नो' को न तो नयी कहानी मानते हैं, न पुरानी और न अकहानी, बल्कि उसे 'विशुद्ध कहानी' मानते हैं।[26]

भारती की कहानियों एवं उपन्यासों में अभिव्यक्ति की सहजता की माँग के कारण भाषा भी सरल एवं स्वाभाविक हो गई है। समसामयिक परिवेश में प्रचलित बोलचाल के शब्दों, मुहावरों, शब्दों के सटीक चयन और अभिनव वाक्य-विन्यास के कारण उनकी भाषा भावानुवर्तनी होकर अत्यन्त प्रभावशाली हो गई है। यहीं नहीं, उनकी भाषा में काव्यात्मकता का पुट बना रहता है। बिम्ब और प्रतीक परिवेश के अनुभवों से जुड़े हुए हैं जिसके कारण उन्हें अभिव्यक्त करने वाली भाषा न केवल जीवन के सटीक चित्र उपस्थित करती है बल्कि अत्यंत खुली हुई व्यंजक भी है। भारती की कहानियों में बिम्बात्मकता के महत्व को प्रतिपादित करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं कि ''भारती की कहानियों की यह अद्‌भुत विशेषता है कि आधुनिक अन्तर्द्वन्द्वों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ठेठ भारतीय संस्कारों

के बिम्ब और प्रतीकों द्वारा होती है। 'बंद गली का आखिरी मकान' में मुंशी जी की कोठरी की जो चीज हमें आखिर तक याद रह जाती है वह है - 'सिरहाने के झरोखे से दीखते पिछवाड़े के खेत, कुआँ तथा बीच में हनुमान चौरा।'[27]

कथाकार भारती ने अपने उपन्यासों में भी स्वयं के किस्सागो होने की निपुणता को सफलता से स्थापित किया है। 'गुनाहों का देवता' में परम्परागत औपन्यासिक शिल्प का ही नियोजन हुआ है, परन्तु कथानक अत्यन्त सरल एवं संतुलित है। राजेन्द्र यादव ने 'गुनाहों का देवता' के कथानक के संबंध में सटीक टिप्पणी की है- ''कथानक की सबसे बड़ी सफलता भारती को इस बात में मिली है कि उन्होंने घटनाओं और अन्तर्द्वन्द्वों का सामंजस्य बड़े सुन्दर ढंग से किया है, वैज्ञानिक ढंग से गूँथा है।''[28] कहानियों की तरह उपन्यासों के पात्रों के प्रति भी समान रूप से सचेत हैं और सभी पात्रों के चरित्र का स्वाभाविक उतार-चढ़ाव दिखाई देता है। भारती ने वातावरण की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए अत्यंत प्रभावशाली वर्णन किया है। गंभीर स्थानों पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मार्मिक दृश्यों में नाटकीय योजना काफी उपयुक्त बन पड़ी है। कथानक में तीव्रता बनाए रखने के लिए अनेकमुखी आवर्त भी पैदा किया गया है। चन्दर का पम्मी से मिलना, पागल बर्टी की हरकतें, विनती का विवाह प्रसंग और गेसू की नाटकीय उपस्थिति से कहानी में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

'गुनाहों का देवता' के विपरीत 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' औपन्यासिक शिल्प के क्षेत्र में सर्वथा नवीन प्रयोग है। इसमें अनेक कहानियाँ आपस में जुड़कर एक कहानी निर्मित करती है। प्रत्येक दोपहरी में किस्सागोई की मजलिस में बहुत ही सरल परन्तु पुराने ढंग से, अज्ञेय के शब्दों में-''अलफलैला या पंचतंत्र वाले ढंग से''-कहानी में से कहानी निकलती जाती है। परन्तु ये कहानियाँ अपनी गहरी संवेदना से हृदय एवं मस्तिष्क को झंकृत कर देती है। परन्तु जैसा कि भारती जी सदैव स्वीकार करते रहे हैं कि तकनीक पर जोर देना स्वस्थ प्रवृति नहीं है, इसलिए सीधे-सादे विवरण द्वारा ही कहानियों के प्रस्तुतीकरण पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जिससे व्यापक मानवीय संबंधों के तनाव एवं

सामाजिक परिवेश अत्यंत सहज रूप से आता जाता है। स्पष्टत: यह शैली हिन्दी-उपन्यास की दो प्रधान शैलियों-'गोदान' की शैली और 'शेखर: एक जीवनी' की शैली से पूर्णतया भिन्न है। यह शैली इन पूर्ववर्ती औपन्यासिक शैलियों से इस अर्थ में भिन्न है कि यह पारम्परिक लोक-कथा-वाचन तथा धर्म-कथा-वाचन, जो सदियों पुरानी कथा कहने की परिपाटी है, पर आधारित है। इस परिपाटी में कथा कहने की प्रक्रिया कई दिनों तक चलती रहती है। 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' इसी 'कथावाचन' परिपाटी पर आधारित ग्रंथ है। लेकिन भारती जी ने इस प्राचीन परिपाटी को आधार बनाकर कथानक को बिल्कुल नए ढंग से प्रस्तुत किया है। अज्ञेय ने इस अनूठे शिल्प की उपयोगिता के संबंध में लिखा है कि ''वह प्रयोग कौतुक के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि वह जो कहना चाहते हैं, उसके लिए उपयुक्त ढंग है।''[29] इसे स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं-''प्राचीन चित्रों में जैसे एक ही फलक पर परस्पर कई घटनाओं का चित्रण करके उसकी वर्णनात्मकता को संपूर्ण बनाया जाता है, उसमें एक घटना-चित्र की स्थिरता के बदले एक घटनाक्रम की प्रवाहमयता लायी जाती है, उसी प्रकार इस समाज-चित्र में एक ही वस्तु को कई स्तरों पर, कई लोगों से और कई कालों में देखने और दर्शाने का प्रयत्न किया गया है, जिससे उसमें देश और काल दोनों का प्रसार प्रतिबिम्बित हो सके।''[30] अर्थात् इस परम्परागत लोक-कथात्मक शैली का प्रयोग आधुनिक परिवेश के जटिल एवं परस्पर निर्भर चित्रों को प्रस्तुत करने के लिए किया गया है।

इस उपन्यास में सात कहानियाँ हैं जो सात दोपहरियों में कही जाती है। कथा तत्व की दृष्टि से भी इन कहानियों में कोई साम्य या संबंध नहीं है। इनमें मुख्य कहानी तथा प्रासंगिक कहानी का कोई विभाजन नहीं है। सभी कहानियाँ समाज के किसी-न-किसी पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं। अंत में सभी कहानियाँ एक सूत्र में बँध जाती है। इन कहानियों का कथा-वक्ता माणिक मुल्ला ही वह सूत्र है जिससे अन्य सभी कहानियाँ जुड़ती हैं। कहानियों में संक्षिप्तता होती हैं। इस गुण का उपयोग कर अनावश्यक विस्तार से बचते हुए, संकेतात्मक शैली के प्रयोग से उपन्यास में सूक्ष्मता लायी गई है। परिणामत:

वर्णन, विस्तार या विवरण का अभाव खटकता नहीं बल्कि संकेत इतने प्रभावशाली एवं व्यंजक हैं कि जीवन एवं समाज के विभिन्न पहलुओं की वास्तविक तस्वीर स्पष्ट हो जाती है। कहानी के प्रारंभ में 'उपोद्घात' शीर्षक के अंतर्गत लेखक (नैरेटर) कथा-निर्देशन करते हुए माणिक मुल्ला से परिचय कराता है तथा उनके कमरे में रखी उन सभी वस्तुओं पर भी प्रकाश डालता है जो आगे चलकर कहानियों के उपकरण सिद्ध होती हैं। कुछ कहानियों के शीर्षक इन वस्तुओं के ही नाम पर है जैसे - 'काले बेंत का चाकू' तथा 'घोड़े की नाल'। प्रत्येक कहानी के अंत में 'अनध्याय' शीर्षक के अंतर्गत श्रोताओं के बीच प्रश्नोत्तर एवं विचार-विमर्श होता है। बल्कि कहानी के उद्देश्य, टेकनीक और निष्कर्ष की व्याख्या भी की जाती है। नैरेटर कहानी का वक्ता माणिक मुल्ला के माध्यम से कहानी के प्रत्येक तत्व की आलोचनात्मक व्याख्या करता चलता है। यह 'अनध्याय' अगामी कहानी के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार करता है। 'अनध्याय' में स्वप्न पर भी चर्चा होती है जो कथा-तत्व को बढ़ाने में सहायक है। ये स्वप्न कहानियों में मौजूद मानव जीवन के जटिल स्वरूप को भी अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करते हैं। इस प्रकार उपन्यास की रचना प्रक्रिया का आधार परम्परागत रूप से लोक कथात्मक होते हुए भी एक व्यापक सामाजिक कैनवास से जुड़ा हुआ है।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जहाँ हिन्दी औपन्यासिक शिल्प की परम्परा में विमर्श का केन्द्र रहा है वहीं क्लासिक काव्य-नाटक की परम्परा में एक महत्वपूर्ण प्रयोग होने के कारण 'अंधायुग' नाट्य समीक्षकों के बीच विमर्श का केन्द्र रहा है। सुप्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचंद्र जैन इस काव्य-नाटक के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं - ''इसने पहली बार हिन्दी नाटक में यह स्थापित किया कि काव्य और नाटक का बड़ा गहरा संबंध है, बल्कि श्रेष्ठ नाट्याकृति काव्य का एक प्रकार है।''[31] कन्नड़ के सुप्रसिद्ध नाटककार गिरीश कर्नाड ने कहा कि ''संस्कृत में शुद्रक के बाद आधुनिक युग में भारती का 'अंधा युग' उस क्लासिक नाट्य परम्परा का पहला महत्वपूर्ण नाटक है।''[32] लेकिन दूसरी ओर विपिन कुमार अग्रवाल 'अंधायुग' को न तो एक अच्छी काव्य-रचना मानते हैं

और न ही एक सुगठित काव्य-नाटक।''[33] इन परस्पर विरोधी निष्कर्षों के बावजूद भारती ने काव्य और नाटक, दोनों विधाओं की शिल्पगत प्रवृत्तियों को सम्यक रूप से नियोजित करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। इसके अंकों के शीर्षकों से लेकर दृश्य विधान, भाषा तथा संवादों तक में काव्यात्मक रूझान है। काव्यात्मक गुणों को नाटक में नियोजित करने के कारण ही न केवल समूचा वर्णन बिम्बात्मक है बल्कि पात्रों का भी प्रतीकात्मक इस्तेमाल किया गया है। मसलन् संजय, संजय होने के साथ ही कवि का भी प्रतीक है। प्रहरी उस साधारण जन के प्रतीक बन कर आते हैं जिनके अधिकारों की रक्षा के नाम पर युद्ध लड़ा जाता है। परन्तु युद्ध में जीत किसी की भी हो, उनके जीवन में निरर्थकता बनी रहती है। यहाँ भारती कविता की प्रतीकीकरण की क्षमता का इस्तेमाल करके नाटकीय संभावनाओं को विस्तार देते हैं। बिम्बात्मकता के कारण यह काव्य-नाटक पूर्ववर्ती 'कुरुक्षेत्र' से अलग है, जिसमें वक्तव्य प्रधान है। यहीं नहीं, भारती ने नाटक में काव्य तत्वों को नियोजित करने के उद्देश्य से परम्परागत लोक नाट्य शैली (जैसी रामलीला आदि) को आधार बनाया है जिसके बारे में भारती का कहना है कि इससे ''वातावरण की मार्मिकता गहन होती है, प्रतीकों के अर्थ खुलते हैं।''[34] यहीं कारण है कि इस शैली की उपयोगिता की पहचान करते हुए प्रभाकर श्रोत्रिय लिखते हैं-''नागरिक रंचमंच में लोक नाट्य शैली का प्रयोग करके भारती ने नाटक में कविता के लिए एक उपयुक्त मंच की खोज की है। एक तरह से यह शैली वैचारिक नाटक में रिलीफ का भी काम देती है।''[35]

मुक्त छन्द में काव्य सृजन नयी कविता की विशिष्टता रही है। 'कुरुक्षेत्र' सहित किसी भी पूर्ववर्ती काव्य-नाटक (निराला के पंचवटी प्रसंग) में नयी कविता की रचनात्मक विशिष्टता दृष्टिगत नहीं होती है। 'अंधायुग' इस दृष्टि से पहला प्रयोग है जिसमें छन्द एवं मुक्त छन्द सहित नयी कविता की विशिष्ट प्रवृतियों की रंगधर्मिता का नियोजन हुआ है। मुक्त छन्द के कारण रचनाकार पात्रों की विविध मनःस्थितियों के साथ-साथ नाटकीय भाव-व्यापार एवं क्रिया-व्यापार को सफलतापूर्वक नियोजित करने में समर्थ हो

सका है।

भारती जी की दृष्टि परम्परानुमोदित एवं शास्त्रसम्मत काव्य-नाटक पर ही अधिक टिकती है परन्तु युगीन संवेदना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से वे लोक नाट्य परम्परा एवं पाश्चात्य नाटक परम्परा के तत्वों को भी नियोजित करने का प्रयास करते हैं। दृश्य या अंक परिवर्तन के लिए, अभिनीत नहीं होने वाली घटनाओं की सूचना देने के लिए तथा कथा की पृष्ठभूमि के लिए भारतीय लोक नाट्य परम्परा से कथा-गायन पद्धति का उपयोग करते हैं तो स्थितियों एवं घटनाओं पर टीका-टिप्पणी करने के लिए ग्रीक कोरस की पद्धति पर प्रहरियों की भी कल्पना करते हैं। प्रहरी नाटकीय पात्र तो नहीं हैं परन्तु घटनाओं का परिचय देकर तथा पात्रों पर टीका-टिप्पणी करके नाटकीय भाव-व्यापार में शामिल हो जाते हैं। कथा-गायन एक तरह से कोरस का ही काम करता है। काव्य-रस नाटकीय संवादों से अधिक कथा गायनों में ही मिलता है। परन्तु नाटकीय कथानक का समस्त ताना-बाना परम्परागत एवं प्राचीन कथा-पद्धति के अनुरूप वक्ता-श्रोता शैली में बुना गया है। संस्कृत नाट्य परम्परा के अनुकूल 'अंधायुग' में 'स्थापना' एवं 'समापन' को स्वीकार किया गया है। 'स्थापना' के अंतर्गत परम्परागत शैली के 'मंगलाचरण' का नियोजन है -

''नारायणं नमस्कृत्यं नरं चैव नरोत्तमम्
देवीं सरस्वतीं च व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।''

अंकों के विभाजन में भी पुरानी परम्परा का ही अनुसरण किया गया है। 'अंतराल' की योजना भी सहज रूप में हुई है। भारती जी हत्या, युद्ध, मृत्यु आदि, जैसे कृष्ण की मृत्यु, के दृश्यों के लिए 'निषेध' का उपयोग करने के बजाय 'स्वगत' एवं 'सूच्य' को सहजता से स्वीकार करते हैं। लेकिन 'अंधायुग' में भारतीय या पाश्चात्य पाँच कार्यावस्थाओं के नियोजन की आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि इसमें संधियों-कार्यावस्थाओं की प्राचीन रूढ़ियों का निर्वाह नहीं किया गया है। 'बीज' और 'कार्य' क्या है? 'प्रारंभ' और 'फलागम' क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर 'अंधायुग' में प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। क्योंकि यह नाटक किसी एक व्यक्ति को लेकर नहीं लिखा गया है जिसके किसी संकल्प

से नाटक शुरू हो और फलप्राप्ति से समाप्त। यह नाटक किसी एक कार्य को लेकर नहीं लिखा गया है जिसका कोई प्रारंभ और अंत है। यह एक उद्देश्य प्रधान नाटक है और जब तक उद्देश्य पूरा नहीं होता, नाटक चलता रहता है। इसके बावजूद भारतीय परम्परागत रस-सिद्धांत को लेकर एकदम स्पष्ट हैं। रस-सिद्धांत के आधुनिक काव्यशास्त्रियों की तरह वे पाश्चात्य विरेचन तथा भारतीय रस-सिद्धांत को परस्पर सहयोगी मानते हैं-''वास्तविकता यह है कि रेचन के सिद्धांत को भी रस-निष्पत्ति की पूर्व प्रक्रिया में शामिल कर लिया गया है।''[36] भारतीय नाट्य-सिद्धांत, रेचन-सिद्धांत की तरह मानवीय संवेदनों को स्वीकारता है जिससे मन स्थिर हो जाता है परन्तु रेचन-सिद्धांत की तुलना में यह आगे रसानुभूति के स्तर तक ले जाता है और रस से मिलने वाले आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर बताता है। भारती इसी परम्परागत नाट्य-शास्त्र को आत्मसात करते हैं। 'अंधायुग' के अंत में अकस्मात् आ जाने वाले भागवत के रंग के पीछे भारती का यह रसवादी नाट्य चिन्तन ही है।

पात्रों के चरित्रांकन में भी भारती रूढ़ियों के बंधन को स्वीकार नहीं करते। चरित्र के स्वतंत्र विकास पर बल देने के कारण भारती, रचनाकार की इच्छा या पूर्व योजना के अनुरूप चरित्र विकसित करने के सिद्धांत के समर्थक नहीं है। वे चरित्र विकास के लिए आधुनिक मनोविश्लेषण एवं व्यक्ति-वैचित्र्य पर अधिक विश्वास करते हैं। यहीं कारण है कि इस नाटक के आंतरिक क्रम-विकास की प्रक्रिया में धृतराष्ट्र, गांधारी, युयुत्सु एवं अश्वत्थामा के बजाय केन्द्रीय सूत्रधार अनजाने रूप में कृष्ण बन जाते हैं जो कि कभी भी रंगमंच पर नहीं आते हैं। चरित्र-विकास की इस विशिष्टता को देखकर ही चन्द्रकांत बांदिवेडेकर ने 'अंधायुग' को ''सही अर्थ में नायक की अनुपस्थिति, अनायकी रचना का प्रथम सशक्त प्रयोग''[37] कहा है। परन्तु सुप्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक सुरेश अवस्थी का अलग दृष्टिकोण है। उनके अनुसार ''नाटक के पात्र वस्तु व्यापार के जीवन्त कर्त्ता-भोक्ता नहीं लगते।''[38] इस आरोप से इंकार नहीं किया जा सकता है। 'संजय' जो एक तरह से कवि का ही प्रतीक है, कवि के विचारों को ही अभिव्यक्त करता है। अश्वत्थामा को भारती ने

नाटक के केन्द्र में ही रखा है। लेकिन उसकी विडम्बनात्मक परिणतियों पर भारती नियंत्रण नहीं रखते। नाटककार होने के नाते किसी भी पात्र को पूर्णत: न तो स्वतंत्र छोड़ सकते हैं और न ही पूर्णत: नियंत्रण रख सकते हैं। पूर्णत: स्वतंत्र छोड़ देने से जहाँ एक ओर नाटक की कथावस्तु तथा घटनास्थलों में अन्विति स्थापित नहीं की जा सकती, वहीं पूर्णत: नियंत्रण सहज नाटकीय प्रभाव में व्यवधान डालता है। नाटक की केंद्रीय भूमिका में अनचाहे-अनजाने रूप में कृष्ण का स्थापित हो जाना यह सिद्ध करता है कि नाटक के पात्र नाटककार की कल्पना की उपज होते हुए भी स्वतंत्र एवं सहज भाव-स्थितियों का निर्वाह करते हैं।

भारती ने रंगमंच को ध्यान में रखते हुए भाषा को समसामयिक जीवन की भाषा के निकट रखकर नाटक को न केवल बोधगम्य बनाए रखा, बल्कि काव्य-नाटक के लिए भाषा के नवीन रूप को उपस्थित किया है। ''संवेदन, व्यंग्य, चिन्ता और यातना ही नहीं, विचार, समस्या और प्रश्नों के लिए भी भाषा की क्षमता का परीक्षण मंच 'अंधायुग' साबित हुआ है।''[39] इस कारण नाटक में भाषा के अनेक स्तर पाए जाते हैं। तत्सम प्रधान शब्दावली से लेकर सामान्य बोलचाल के शब्दों का प्रयोग है। 'टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा', 'पर वह संसार/स्वत: मेरे अंधेपन से उपजा था', 'चरम त्रास के उस बेहद गहरे क्षण में', 'कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया', 'अठारह दिनों का लोमहर्षक संग्राम यह', 'प्रभु हूँ या परात्पर', यहाँ तत्सम शब्दों के प्रयोग में सामान्य-साधारण क्रियारूप बोलचाल की लय भरते हैं। मुक्त छंद के कारण भी भावाभिव्यक्ति सहज हो गई है। मुक्त छंद भी प्रसंग एवं भाव के अनुसार सहज ढंग से बदलते रहते हैं। 'अंधायुग' के अतिरिक्त भारती की अन्य काव्य रचनाओं में भी मुक्त छन्द का सफल प्रयोग हुआ है। उनके छन्दों में सर्वत्र लय, गति तथा टोन आदि का ध्यान रखा गया है। मुक्त छंद के सहज, स्वाभाविक प्रवाह और अर्थगत लय की दृष्टि से 'प्रमथ्यु-गाथा' एक समृद्ध रचना है। 'सात गीत वर्ष' की रचनाओं की गीतधर्मी संवेदना भी परम्परा से जुड़ी हुई हैं और इनका विकास जितना भारती जी के यहाँ हुआ है, नयी कविता के किसी और कवि के

यहाँ नहीं। इसका निर्वाह भी भारती जी ने जयदेव की 'कोमलकांत पदावली' की तरह किया है। ऐसी कोमल भाषा गीतों में आंतरिक लय का सृजन करती है और गीतों को लोक संवेदना से जोड़ने का सार्थक प्रयत्न करती है।

'ठंडा लोहा', 'सात गीत वर्ष' तथा 'कनुप्रिया' एवं उपन्यास 'गुनाहों का देवता' पर रोमानी भाव-बोध का प्रभाव प्रत्यक्ष है। इसीकारण इन रचनाओं की भाषा भी रोमानी प्रभाव से मुक्त नहीं है। इसलिए इन रचनाओं में प्रयुक्त भाषा छायावादी भाषा-शैली का अनुकरण करती लगती है। आत्मा, अर्चना, समर्पण, बाँसुरी, सुरबाला - सभी छायावादी भाषा-शैली का आभास देते हैं। परन्तु ऐसा उन्हीं कविताओं में मिलता है जो रोमानी भाव-बोध या प्रणय गीतों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी प्रकार रोमैंटिक प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली कवित्वपूर्ण एवं मधुर भाषा, किस्सागोई के सफल निर्वाह के कारण 'गुनाहों का देवता' में सौंदर्यात्मक संतृप्ति देने में सक्षम है। सूक्ष्म कल्पनाओं, बिम्ब ग्रहण करने वाले प्रतीकों एवं अप्रस्तुत योजनाओं के माध्यम से भारती जी अपने उपन्यासों के गद्य में कविता के रूप में देने में सफल हो जाते हैं। उनकी इस विशिष्ट भाषा-शैली को देखकर ही राजेन्द्र यादव ने 'गुनाहों का देवता' के भाषा-प्रवाह को 'उफनता बरसाती नाला' की संज्ञा दी है।[40]

अपने भाषा संबधी विचार को भारती जी 'कनुप्रिया' में स्पष्ट करते हैं।

''शब्द, शब्द, शब्द .....
मेरे लिए सब अर्थहीन है
यदि वे मेरे पास बैठकर
मेरे रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ उलझाये हुए
तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते।'[41]

अर्थात् गहरी संवेदना से युक्त हुए बिना कोई भी शब्द भी भारती के लिए निरर्थक एवं अस्मिताहीन है। उनकी रचनाओं में शब्द और अर्थ या संवेदना के बीच एक स्पर्धा सी दिखाई देती है। प्रसिद्ध ध्वनिकार आलोकवर्द्धन ने शब्द और अर्थ के बीच जिसे 'परस्परस्पर्धी चारूता' कहा है, भारती जी की रचनाओं में दिखाई देता है। उनकी कविताओं

ही नहीं, कहानियों, संस्मरणों, समीक्षा, निबन्ध और यात्रा-वृतांत्त में शब्द और अर्थ के बीच परस्पर स्पर्धा से उत्पन्न तनाव से रचनात्मक सौंदर्य की सृष्टि होती है। परिणामत: संवेदना जितनी गहरी होती है, अभिव्यक्ति उतनी ही स्वच्छ, पारदर्शी एवं रसात्मक होती है। दूसरे शब्दों में भाषा पूर्णरूपेण संवेदना को समर्पित है। इस प्रकार भारती विभिन्न काव्यरूपों, गद्यरूपों, भाषा के मिजाज एवं लय पर अन्यतम अधिकार रखते हैं। किसी कथ्य एवं भाव बोध के अनुरूप शिल्प को ढालने एवं माँजने में अत्यन्त निपुण हैं। इनकी भावानुवर्तनी भाषा के शब्द और अर्थ परस्परस्पर्धी तनाव के माध्यम से जिस संगति को प्राप्त करते हैं उससे न केवल सौंदर्यात्मक संतृप्ति होती है बल्कि शिल्प की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है।

संदर्भ स्रोत

1. सात गीत वर्ष ('गुलाम बनाने वाले' शीर्षक कविता) पृ. सं. 72
2. वहीं (प्रमथ्यु गाथा) पृ. सं. 20
3. मानव मूल्य और साहित्य - ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 28
4. वहीं पृ. सं. 29
5. कनुप्रिया पृ. सं. 72
6. वहीं पृ. सं. 84
7. वहीं पृ. सं. 77
8. धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-2, पृ. सं. 31
9. शब्दिता- ले. धर्मवीर भारती पृ. सं. 118-119
10. वहीं पृ. सं. 120
11. वहीं पृ. सं. 22-23
12. वहीं, पृ. सं. 28
13. यात्रा चक्र - ले. धर्मवीर भारती पृ. सं. 27
14. ठंडा लोहा ('गुनाह का गीत' शीर्षक कविता) पृ. सं. 22
15. ठंडा लोहा पृ. सं. 1
16. भारती का काव्य- ले. डा. रघुवंश पृ. सं. 9
17. ठंडा लोहा पृ. सं. 68
18. भारती का काव्य- ले. डा. रघुवंश पृ. सं. 10
19. ठंडा लोहा पृ. सं. 87
20. वहीं पृ. सं. 87
21. धर्मवीर भारती, ग्रंथावली भाग-2, पृ. सं. 180
22. धर्मवीर भारती - सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, का संपादकीय, पृ. सं. 15
23. धर्मवीर भारती ग्रंथावली भाग - 5, पृ. सं. 86
24. वहीं पृ. सं. 86
25. धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-4, पृ. सं. 89
26. भारती की साहित्य-साधना, सं- पुष्पा भारती, पृ. सं. 169
27. वहीं पृ. सं. 96
28. वहीं, पृ. सं. 176
29. 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की भूमिका पृ. सं. 9

30. वहीं पृ. सं. 9-10

31. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य (सं. महेन्द्र भटनागर) में 'नाटक', पृ. सं. 75

32. अंधायुग: पाठ और प्रदर्शन - ले. जयदेव तनेजा, पृ. सं. 40

33. आधुनिकता के पहलू- ले. डा. विपिन कुमार अग्रवाल, पृ. सं. 95-96

34. 'अंधायुग' में निर्देश

35. भारती का साहित्य-साधना (सं. पुष्पा भारती) में ''भीतर का महाभारत और अंधायुग'' पृ. सं. 483

36. वहीं, ''भारती का रंग विवेक'' पृ. सं. 444

37. वहीं, 'अंधायुग: कालविद्ध और कालातीत रचना' पृ. सं. 444

38. वहीं, ''वस्तु योजना और रंग-विधान की पारस्परिक विसंगति'' पृ. सं. 492

39. वहीं, ''भीतर का महाभारत और अंधायुग'' पृ. सं. 483

40. वहीं, ''साहित्य मंदिर में 'गुनाहों का देवता'' पृ. सं. 185

41. कनुप्रिया, पृ. सं. 72

षष्ठम अध्याय

धर्मवीर भारती: परम्परा और प्रयोग

धर्मवीर भारती: परम्परा और प्रयोग

'मानव मूल्य और साहित्य' में धर्मवीर भारती लिखते हैं कि ''कोई भी साहित्यिक कृति या धारा अपने में निरपेक्ष, निस्संग, असम्पृक्त कृति या धारा नहीं होती। उसके पीछे एक लम्बी काव्य परम्परा होती है .... वह क्षण, जिसमें वह कृति रची गयी, उस लम्बे इतिहास की ही एक संबंद्ध कड़ी है और वह कलाकार उसी समूह की एक इकाई है, फिर भी किसी विशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया और रचना-प्रणाली के बल पर सृजन का वह क्षण समस्त परम्परागत इतिहास से अधिक सजीव एवं मर्मस्पर्शी बन जाता है।''[1] भारती जी की यह मान्यता साहित्यिक परम्परा की अविच्छिन्नता को स्थापित करती है। उनकी संपूर्ण रचनाशीलता इसी मान्यता के इर्द-गीर्द केन्द्रित है। उनकी रचनाशीलता जहाँ एक ओर पारम्परिक एवं सांस्कृतिक विरासत से जीवन-रस ग्रहण करती है, वहीं युगीन संदर्भों से युक्त होकर नवीन भाव-बोध का भी प्रतिनिधित्व करती है। केवल मूल्यों एवं आदर्शों के लिए भारती की रचनाशीलता परम्परा से नहीं जुड़ती है, बल्कि साहित्यिक अन्तर्पाठीयता के स्तर पर भी भारतीय पारम्परिक विरासत के विविध तत्वों को आत्मसात करते हुए चलती है। यहाँ हमें इस तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि किसी भी रचनाकार के रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण पारम्परिक एवं सांस्कृतिक विरासत, समसामयिकता के प्रति तीव्र अनुभूति, भविष्य की आकांक्षा, दायित्व-बोध एवं भाव-बोध की तीखी संवेदनाओं के सम्मीलन से होता है। धर्मवीर भारती के रचनात्मक व्यक्तित्व में भी परम्परा एवं युगीन परिवेश के रूप-रंग, भाव-बोध एवं आशा-आकांक्षा का मणिकांचन संगम है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो भारती जी परम्परा से रचनात्मक शक्ति ग्रहण करते हैं तो युगीन भाव-बोध के प्ररिप्रेक्ष्य में नवीन प्रयोगों के आकांक्षी हैं। अत: यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए कि भारती का रचनात्मक व्यक्तित्व एवं उनकी रचनाशीलता एक दूसरे के पर्याय हैं।

(क) हिन्दी साहित्य की परम्परा और भारती

भारती जी के यहाँ परम्परा एवं प्रयोगों में अद्‌भुत सामंजस्य है। वे परम्परा के प्रति विनम्र भाव रखते हुए उसकी प्रति तार्किक दृष्टिकोण अपनाते हैं और नयी कसौटियों के संदर्भ में नया अर्थ देने का प्रयास करते हैं। यह तीन स्तरों पर देखने को मिलता है- पहला, मूल्यों एवं आदर्शों के स्तर पर, दूसरा, साहित्य की अंतर्पाठीयता के स्तर पर और तीसरा रूप-शिल्प विधान के स्तर पर।

भारती जी अपनी पारम्परिक साहित्यिक विरासत के प्रति अत्यंत ही प्रतिबद्ध रचनाकार हैं, उन्होंने जिन आदर्शों, जिन मूल्यों को, मानव नियति की जिन प्रक्रियाओं को साहित्य में उठाया है, उनका उद्‌गम हमारे भारतीय वांङ्मय की विभिन्न धाराओं एवं उपधाराओं में पाया जा सकता है। भारत की सांस्कृतिक समृद्धि की चर्चा करते समय भारती जी विभिन्न घटकों का उल्लेख करते हैं-''संस्कृति का बीजारोपण किया था, उपनिषदों के ऋषियों ने, कृष्ण की अनासक्ति ने, राम की मर्यादा चेतना ने, सूफी फकीरों के तसव्वुफ और प्रेमचन्द ने, गौतम की करूणा एवं मैत्री ने, जीसस की क्षमा एवं त्याग ने, शंकर के अद्वैत ने, चैतन्य के प्रेममहाभाव ने।''[2] वास्तव में ये वे घटक हैं, मूल्य एवं आदर्श हैं जो भारती जी के रचनाकार व्यक्तित्व को निर्धारित करते हैं। लेकिन भारती जी परम्परावादी एवं पुनरुत्थानवादी नहीं हैं। उनकी रचनात्मकता के केन्द्र में आधुनिक भाव-बोध है। पारम्परिक खजाने से उन्हीं तत्वों को भारती जी स्वीकार करते हैं जो आधुनिक समाज में मानवीय अस्मिता की पुनःप्रतिष्ठा एवं मानवीय विघटन का मुकाबला करने में सहायक हो। वे आज के व्यक्ति एवं समाज की सापेक्ष स्थिति में पारम्परिक मूल्यों एवं आदर्शों को स्वीकार करते हैं।

मानव की मानवता के विकास एवं उसकी अस्मिता की रक्षा के लिए वैयक्तिक, स्वातंत्र्य एवं विवेकपूर्ण निर्णय को भारती जी मुख्य घटक मानते हैं। वे लिखते हैं-''मानवीय गौरव का अर्थ यह है कि मनुष्य को स्वतंत्र, सचेत, दायित्वयुक्त माना जाय,

जो अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है।''[3] वे मानते हैं कि इसके सहायक तत्वों में विवेक संभवत: सबसे विश्वसनीय और अपराजेय है। भारती जी इसका सूत्र गीता के 'स्वधर्म' में देखते हैं।[4] 'स्वधर्म' का अर्थ है अपने द्वारा निर्धारित दायित्वपूर्ण कर्म। लेकिन इसकी व्याख्या के लिए वे कृष्ण के 'स्वधर्म' एवं 'निष्काम कर्म' संबंधी उपदेश पर निर्भर नहीं रहते हैं। 'स्वधर्म' की व्याख्या के लिए वे गाँधी एवं बिनोवा के साध्य-साधन की एकता का सहारा लेते हैं। वे गाँधी के मानव-विवेक की स्वतंत्रता की व्याख्या का उल्लेख करते हैं-''आचरण में न केवल संकल्प, वरन्, साध्य-साधन की एकता भी आवश्यक है क्योंकि यदि हमारा साध्य समता एवं प्रेम है और उसकी स्थापना के लिए हम विषमता एवं घृणा प्रयुक्त करते हैं तो वास्तव में हम अपने विवेक को पराधीन बना लेते हैं।''[5] इस प्रकार भारती जी महात्मा गाँधी के साध्य-साधन की एकता की धारणा के आधार पर 'स्वधर्म' की नयी व्याख्या करते हैं और कृष्ण के 'निष्काम कर्म' में निहित हिंसापरक एवं मिथ्यापरक जंजीर से इसे अलग करते हैं। भारती जी महासमर के सूत्रधार नहीं हैं, एक रचनाकार हैं और रचनाकार होने के नाते हिंसापरक मान्यताओं का समर्थन नहीं कर सकते थे। 'स्वधर्म' की नयी व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं - ''अपने 'स्व' के अनुसार धर्म या दायित्व की स्वीकृति हर व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक सार्थकता प्रदान करती है, इसी के द्वारा उसके स्वतंत्र अस्तित्व को नये सामाजिक अर्थ मिलते हैं और वह विकासोन्मुख संस्कृति की प्राणवान इकाई बनने में समर्थ हो जाता है।''[6] इस प्रकार भारती वैयक्तिक स्वातंत्र्य की चेतना तथा विवेक पूर्ण निर्णय को गीता के 'स्वधर्म' से जोड़ते हुए नवीय युग-बोध के संदर्भ के अनुसार संकल्पना करते हैं। आज के नवीन संदर्भ में वैयक्तिकता की स्वतंत्रता का अर्थ है विवेकपूर्ण आचरण करते हुए मानवता का विकास सुनिश्चित करना और मानव-संस्कृति को रुग्णता से मुक्त रखना है। यहीं हिन्दी साहित्य की परम्परा रही है। 'टूटा पहिया', 'निराला के प्रति', 'वृहन्नला', 'गुलाम बनाने वाले', 'अंधायुग' एवं 'कनुप्रिया' से लेकर भारती जी के निबंधों, संस्मरणों एवं यात्रावृत्तांतों में भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना को कुंद

करने वाली नियति की पहचान के साथ-साथ उसके बरक्स व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं विवेकपूर्ण निर्णयों की प्रतिष्ठा की माँग की गई है।

संपूर्ण नयी कविता आंदोलन में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना के प्रति गहरी प्रतिबद्धता की परिणति रचनाओं में व्यक्तित्व के प्रकाशन के रूप में हुई। लेकिन इसकी जड़े भारतीय परम्परा में ही निहित है। भक्तिकालीन कबीर की क्रांतिकारी एवं सामाजिक चेतना के केन्द्र में व्यक्ति की विशिष्टता ही रही है जिसके माध्यम से धर्म, जाति, नस्ल एवं सम्प्रदाय की संकुचित परिधि से मानवता को मुक्त करने का प्रयास करते हैं। छायावादी काव्य में भी व्यक्तित्व प्रकाशन पर घोषित रूप से आग्रह रहा है, जहाँ छायावादी रचनाकार भारतीय समाज की रूढ़ियों के विरूद्ध विद्रोह करते हुए मानव-मुक्ति का प्रयत्न करते हैं। परन्तु छायावादी भाव-बोध एवं भारती जी के भाव-बोध में अंतर है। छायावादी कवियों के यहाँ व्यक्तित्व के प्रकाशन की परिणति प्राय: आदर्शवाद में हुई है। इसके साथ ही रोमानी भाव-बोध के आवरण के तले भी अवरूद्ध व्यक्तित्व का विकास हुआ। छायावादी कवियों की आदर्शवादिता एवं रहस्यवादिता, उनकी स्वतंत्र कल्पनाशीलता को अवकाश प्रदान करती थी। निराला 'राम की शक्ति पूजा' में, पंत 'नौका विहार' में तथा प्रसाद 'झरना' एवं 'आँसू' में अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं, लेकिन सभी कविताओं का आदर्शवादी अंत हुआ है। इसके विपरीत भारती जी आदर्श का आश्रय लेने के बजाय पूर्णत: यथार्थ से टकराते हैं। उनकी कल्पनाशीलता को एक व्यापक सामाजिक एवं यथार्थवादी धरातल प्राप्त हुआ था। उनकी रचनाओं में जीवन के अनुभवों के दायरे को न केवल विस्तार मिला है, वरन्, हमारे नैतिक संकट से घिरे हुए कुण्ठित मानस को काफी दूर तक मुक्ति भी मिली है। उनकी रोमांटिकता भी यथार्थवादी है। परन्तु भारती द्वारा व्यक्तित्व पर आग्रह वैयक्तिकतावाद का पर्याय नहीं है। वास्तव में उनकी रचनाएँ व्यक्ति-सत्य का उद्घाटन करते हुए समष्टि-सत्य की ओर उन्मुख हैं, जीवन की विराटता के प्रति समर्पित हैं, आत्मकेन्द्रित या आत्मरत नहीं हैं।

नयी कविता आंदोलन के कवियों में आधुनिकता एवं परम्परा का, इतिहास और

पुराण का एवं संस्कार और विवेक का सबसे प्रखर द्वन्द्व भारती में ही देखा जा सकता है। 'कनुप्रिया' में स्त्री-पुरुष संबंधों को भारती जी ने इतिहास और पुराण, आधुनिकता एवं परम्परा के व्यापक संदर्भ में देखने की कोशिश की है। भारती जी स्त्री-पुरुष संबंध में निहित जटिलता, द्वन्द्व एवं तनाव से परे जाकर भावुक लगावों की बात करते हैं। परन्तु आधुनिक चिन्ताओं के बीच खड़े होकर आधुनिकता एवं परम्परा के मिलन बिन्दु को, सांमजस्य की पहचान नहीं पाते हैं। वे इस तथ्य की पहचान तो करते हैं कि स्त्री-पुरुष के संवेदनशील प्रेम संबंधों पर सबसे बड़ा संकट आधुनिक जटिल परिवेश है परन्तु इसका समाधान 'कनुप्रिया' के ऐकान्तिक दिव्य समर्पण में खोजकर रोमानी संस्कारों का आवरण चढ़ा देते हैं। उसके दिव्य समर्पण का पुरस्कार उसे अन्त तक नहीं मिलता है। भारती की आधुनिक कनुप्रिया, सूर की राधा से अलग है। वह कृष्ण से अपना अधिकार माँगती है। वह कृष्ण के जननायक एवं इतिहास प्रर्क्तक होने से प्रसन्न नहीं होती है। वह अपने अस्तित्व, व्यक्तित्व एवं महत्व के प्रति अत्यन्त ही सचेत है। वह कृष्ण के साथ अपने प्रणय-संबंध को आधुनिक 'लौकिक भोगपरक धरातल' पर जीना चाहती है। परन्तु उसका ऐकान्तिक समर्पण रोमानी भाव-बोध से प्रभावित होने के कारण आधुनिकता की संवेदना को बाधित करता है। फिर भी भारती राधा-कृष्ण के पारम्परिक प्रेम-प्रसंग के माध्यम से स्त्री-पुरुष संबंधों के पुराने मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर प्रेम के नये मूल्यों के अन्वेषण का प्रयास करते हैं जो अज्ञेय के शब्दों में - ''ऐसा रूप, जिस देश-कालातीत कहा जा सकता है क्योंकि वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो।''[7]

पौराणिक कथाओं एवं मिथकों को आधार बनाकर साहित्य सृजन की परम्परा प्राचीन काल से ही रही है। भारत ही नहीं, संपूर्ण विश्व में अनेक कालजयी कृतियाँ, मसलन्-होमर की 'इलियड' एवं 'ओडिसी', दांते की 'डिवाइन कामेडिया', इलियट की 'वेस्ट लैण्ड' इत्यादि-मिथकों के आधार पर ही लिखी गई हैं। भारत में भी कालजयी कृतियों का आधार भी मिथक ही है। रामायण, महाभारत, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, उत्तररामचरित्र, रामचरितमानस, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, राम की शक्ति-पूजा जैसी

रचनाएँ मिथक प्रधान है। परन्तु प्रत्येक युग का रचनाकार अपनी जीवन-दृष्टि, युगीन मूल्य-बोध एवं युगीन यथार्थ की आवश्यकता के अनुकूल मिथकों का रचनात्मक उपयोग करता है। धर्मवीर भारती में भी पौराणिक कथाओं एवं मिथकों के प्रति अनन्य आकर्षण है। वे राधा-कृष्ण के प्रणय प्रसंगों से लेकर महाभारत के विभिन्न प्रसंगों, संपाती की कथा, ग्रीक मिथक प्रमथ्यु की कथा, आदि का रचनात्मक उपयोग करते हैं और नवीन युग-बोध के आधार पर आधुनिक संवेदना से जोड़कर प्रासंगिक बना देते हैं। महाभारत और श्रीमद्भागवत् की कथाओं को भारती जी नवीन बोध के अनुसार जीते रहते हैं। पौराणिक कथाओं, मिथकों एवं चरित्रों के रचनात्मक उपयोग के संबंध में भारती जी ने लिखा हैं कि-''ये पौराणिक पात्र शताब्दियों से हमारे जातीय मानस से इस कदर आत्मीय हो चुके हैं कि उनके माध्यम से कहीं जाने वाली बात संस्कारी पाठक के मन को कई स्तरों पर अधिक गहराई से झंकृत करती है।''[8] अर्थात् पौराणिक कथानक या मिथक किसी रचना की संप्रेषणीयता को बढ़ा देते हैं, उसके अर्थ का विस्तार कर देते हैं। अतः भारती यदि महाभारत या अन्य स्रोतों से सामग्री ग्रहण करते हैं तो इसमें कोई दोष नहीं है। तुलसीदास ने भी 'रामचरितमानस्' को 'नाना पुराणनिगमागमसम्मत' कहा है। निराला 'राम की शक्ति पूजा' में राम-कथा का रचनात्मक उपयोग करते समय कृतिवास कृत रामायण, 'रामचरितमानस' तथा अन्य स्रोतों से विभिन्न तत्वों को ग्रहण करते हैं।

भारती के 'अंधायुग' के कथानक का आधार 'महाभारत' का पौराणिक कथानक है। इसके साथ ही 'अंधायुग' की श्रीमद्भागवत् से अंतर्पाठीयता भी स्पष्ट है। भारती जी श्रीमद्भागवत् के अनेक सूत्रों का इस्तेमाल करते हैं जिसमें तीन सूत्र महत्वपूर्ण है। पहला यह कि कृष्ण की मृत्यु, मृत्यु नहीं, रूपान्तरण है। दूसरा, कृष्ण कहते हैं कि जितनी बार जो भी धराशायी हुआ, वह कोई नहीं था, मैं ही था। तीसरा यह कि कृष्ण अपना दायित्व 'मनुज' को सौंपते हैं जो पिछले ध्वंसों पर भविष्य का निर्माण करेंगे। इसके अतिरिक्त 'अंधायुग' में भारती जी तीन महान कवियों - कबीर, सूर और तुलसी को याद करते हुए भक्तिकालीन विरासत से भी जुड़ने का प्रयास करते हैं। 'कामायनी' के कथानक से भी

भारती को रचनात्मक प्रेरणा प्राप्त होती है। 'कामायनी' में कथा प्रलय के अंधकार युग से निकलकर मानव भविष्य के प्रकाश-मार्ग की ओर बढ़ती है। 'कामायनी' का सारस्वत नगर, यूरोपीय परिवेश की ओर ही संकेत करता है। सारस्वत नगर में मानवीय मूल्यों के विघटन के परिणामस्वरूप युद्ध होता है जिसमें मनु पराजित होते है और अंततः मनु अपने पुत्र मानव के साथ बुद्धि एवं श्रद्धा को लेकर मानवता के नये मार्ग पर अग्रसर होते हैं। 'अंधायुग' में भी परिवेश के अंधापन से निकलकर नव मानवता के प्रकाश की ओर जीवन-यात्रा की कथा कही गई है। इस प्रकार भारती जी भागवती परम्परा एवं अन्य साहित्यिक स्रोतों से जुड़कर 'अंधायुग' में युगीन परिवेश की संवेदना के अनुकूल मानव-अस्तित्व, उसकी अस्मिता एवं मानवीय मूल्य से संबंधित प्रश्न खड़ा करते हैं और आधुनिक युग-बोध के संदर्भ में उस भागवती परम्परा की सार्थकता सिद्ध करते हैं।

भारती जी भारतीय संस्कृति प्रति इतने आस्थावान है कि वे शिव-विवाह की लोक परम्परा के माध्यम से आधुनिक जीवन-दर्शन की नवीन व्याख्या करते हैं। शिव-विवाह के संबंध में वे लिखते हैं - ''यह न केवल चरम विरोधाभास के सार्थक संतुलन की स्थिति है वरन पुरुष तत्व एवं स्त्री तत्व के चरम मिलन के द्वारा मानव-जीवन की संपूर्णता का द्योतक है।''[9] यहाँ भारती जी आधुनिक जीवन के उपभोक्तावाद एवं आध्यात्मवाद की अतिवादी स्थितियों से अलग दोनों के बीच सार्थक संतुलन की ओर संकेत करते हैं जिससे मानवीय संस्कृति की पतनशीलता को रोका जा सके और मानवता का संपूर्ण एवं सार्थक विकास सुनिश्चित किया जा सके। इसी प्रकार शिव का विचित्र वेष भी जीवन के प्रति निषेध का प्रतीक नहीं है। भारतीय परम्परा में मुक्ति के लिए आत्मदमन के मार्ग को निषेधात्मक जीवन-दर्शन ठहराते हुए भारती जी शिव के विचित्र वेष का आधुनिक परिवेश के संदर्भ में प्रतीकार्थ स्पष्ट करते हैं - ''वह यह कि अपनी सहज प्रवृत्तियों को मारो मत, लेकिन उनके दास भी मत बनो, जीवन के सहज प्रवाह में उन्हें आने दो, फलीभूत होने दो, पर यदि वे निरंकुशता से हावी होने लगे तो उन्हें भस्म कर देने की तेजस्विता और आत्मनियंत्रण भी रखो''[10] अर्थात, शिव का रूप निषेधात्मक जीवन-पद्धति के बजाय बिना

किसी भय एवं कुण्ठा के सहज जीवन जीने की प्रेरणा देता है। आधुनिक परिवेश में विद्यमान मूल्यहीनता एवं मानवीय विघटन के संदर्भ में इसका महत्व समझा जा सकता है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के अमूल्य विरासत से प्रेरणा ग्रहण करने के अतिरिक्त भारती जी अपने पूर्ववर्ती साहित्यिकों से भी कहीं-कहीं जुड़ते हैं। पूर्ववर्ती साहित्यकारों से अपनी रचनात्मक संलग्नता को भारती जी स्वीकार करते हैं - ''लेखन चाहे वह किसी काल का हो, किसी पीढ़ी का हो, जब इस मानवीय भूमि से उपजता है तो वह समानधर्मा होता है, समय और पीढ़ी की सीमाओं का अतिक्रमण करके। सरहपा और कबीर की प्रखर वाणी हो, या सूर और घनानन्द की वैष्णवता हो, या जायसी का सहज भाषा प्रवाह हो, इन सबों ने मेरी लेखनी को संस्कार दिए हैं।''[11] वे पुनः आधुनिक रचनाओं से अपनी रचनाधर्मिता को जोड़ते हैं-''निराला की 'राम की शक्ति पूजा' की ओजस्विता, पन्त की 'ग्राम्या' का खुला हरियालापन, प्रसाद के नाटकों और 'कामायनी' की इतिहास-दृष्टि, महादेवी की 'सब आँखों के आँसू उजले, सबके सपनों में सत्य पला' की उदारता, छायावादोत्तर बच्चन का उद्घोष 'प्रार्थना मत कर मत कर मत कर' और भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' का तीखा बुनियादी सवाल- 'और पाप क्या है?' अमृतलाल नगर के कथा-मंथन का 'अमृत और विष', इन सबसे मैने आंतरिक लगाव अनुभव किया है।''[12] इसी कारण अपनी संपूर्ण रचनाशीलता में वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला एवं महादेवी वर्मा को नहीं भूलते हैं। 'अंधायुग' में प्रसाद के 'कामायनी' का प्रभाव स्पष्ट है तो निराला के काव्य-नाटक 'पंचवटी प्रसंग' से प्रेरणा लेकर 'अंधायुग' को मुक्त छंद में नियोजित करते हैं। उनकी कहानियों में विद्यमान भावुकता, प्रसाद की कहानियों की भावुकता का ही विस्तार है। इसीलिए प्रसाद उनके पसंदीदा कथाकार हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का राष्ट्र प्रेम जैसे प्रकृति-प्रेम से जुड़ा है वैसे ही भारती जी की राष्ट्रीय चेतना अपने देश के प्राकृतिक सौदर्य से ही जीवन–रस ग्रहण करती है। भारती की व्यापक मानवीयता की अनुभूति कहीं-कहीं आचार्य शुक्ल के 'आनन्द की साधनावस्था' से उन्हें जोड़ती है, जैसे 'अंधायुग' में प्रहरियों की व्यथा की अनुभूति, व्यापक मानवता की

अनुभूति से जुड़कर 'साधनावस्था' की सृष्टि करती है।

रूप-शिल्प की दृष्टि से भारती जी परम्परागत आधारों से जुड़ते हैं तथा शिल्प के नये रूपों का अन्वेषण युगीन संवेदना को प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करने की अनिवार्य माँग को ध्यान में रखकर करते हैं। शिल्प के परम्परागत रूप को स्वीकार करते हुए नवीन प्रयोग की दृष्टि से उनकी रचना 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का शिल्प एक नया एवं अनूठा मोड़ है। इसके पूर्व हिन्दी उपन्यास लेखन में शिल्प की दो धारायें प्रमुखता पा चुकी थी। एक 'गोदान' का शिल्प तथा दूसरा 'शेखरः एक जीवनी' का शिल्प, जिसमें जीवनी शैली में औपन्यासिक तत्वों का निर्वाह किया गया है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' का शिल्प भी एक अलग तरह का प्रयोग है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की शैली इन पूर्ववर्ती धाराओं से इस अर्थ में भिन्न है कि यह कथा कहने की प्राचीन शैली पर आधारित होते हुए भी औपन्यासिक शिल्प-विधि के रूप में प्रयुक्त होकर सर्वथा मौलिक बन जाती है। इसकी शैली पारम्परिक लोक-कथा-वाचन तथा धर्म-कथा-वाचन, जो सदियों पुरानी कथा कहने की परिपाटी है, पर आधारित है। अज्ञेय के शब्दों में- ''जैसा आप बचपन से जानते हैं अलफलैला वाला ढंग, पंचतंत्र वाला ढंग, बोकैच्छियो वाला ढंग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है।''[13] इस परिपाटी में कथा कहने की प्रक्रिया कई दिनों तक चलती रहती है। 'हितोपदेश', 'पंचतंत्र' तथा 'कथासरित्सागर' इसी कथा-वाचन परिपाटी पर आधारित ग्रंथ हैं। यह लोक जीवन में प्रचलित और सहज प्रवाह शैली है। लेकिन भारती जी ने इस प्राचीन परिपाटी को आधार बनाकर कथानक को बिल्कुल ही नये ढंग से प्रस्तुत किया है। यहीं कारण है कि इसका शिल्प प्राचीनता में नवीनता तथा नवीनता में प्राचीनता का बोध देता है। अज्ञेय ने इस उपन्यास की भूमिका में शिल्प के अनूठे प्रयोग की उपयोगिता के संबंध में लिखा है कि भारती ने ''वह प्रयोग कौतुक के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि वह जो कहना चाहते है, उसके लिए यह उपयुक्त ढंग है।''[14] इस परम्परागत लोक-कथात्मक शैली का प्रयोग आधुनिक परिवेश के जटिल एवं परस्पर निर्भर चित्रों को प्रस्तुत करने तथा एक बड़े सामाजिक कैनवास को एक लघु कलेवर में व्यक्त करने के लिए किया गया है।

इस उपन्यास की सात कहानियाँ, जो सात दोपहरियों में कही जाती है, में मुख्य कहानी तथा प्रासंगिक कहानी का विभाजन नहीं होना, एक नयापन है। सभी कहानियाँ प्रासंगिक एवं मुख्य है एवं समाज के किसी-न-किसी पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है अंत में सभी कहानियाँ एक सूत्र में बँध जाती हैं

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के शिल्प की एक अन्य विशिष्टता यह है कि इसमें उपन्यास के उद्देश्य, टेकनीक, कथानक की आलोचनात्मक व्याख्या की गई है। इसके साथ ही कहानियों के शीर्षक और निष्कर्ष भी दिए गए है। ऐसा प्रयोग हिन्दी उपन्यास में नया है जहाँ उपन्यास के पात्र माणिक मुल्ला, जो कहानियाँ सुनाता है, के माध्यम से रचनाकार कहानी के प्रत्येक तत्व की आलोचनात्मक व्याख्या भी करता चलता है।

अब: बिना किसी औपचारिकता के हमें यह स्वीकार करने में परेशानी नहीं होनी चाहिए कि भारती जी ने लोक जीवन में प्रचलित कथावाचन की पद्धति का आधुनिक संस्करण प्रस्तुत किया है और इस संस्करण के माध्यम से आधुनिक परिवेश में मानव जीवन के अंतर्विरोधों एवं तनावों की वास्तविक तस्वीर उपस्थित किया है। कहानी, व्याख्या एवं आलोचना के मिले-जुले माध्यम से यथार्थ, स्वप्न एचं चेतना-प्रवाह के समवेत स्वरूप को इस नवीन शिल्प में समेटने का प्रयास है।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के बाद 'अंधायुग' भारती जी की एक अन्य कृति है, जो शिल्प प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुई है। 'अंधायुग' एक काव्य-नाटक है। संस्कृत साहित्य में काव्य-नाटक की एक लम्बी एवं समृद्ध परम्परा रही है परन्तु हिन्दी साहित्य में यह नया प्रयोग है। भारती जी ने काव्य एवं नाटक, दोनों विधाओं का जो रसायन तैयार किया है उसमें पारम्परिक काव्य एवं नाट्य परम्परा का सम्यक निर्वाह हुआ है। काव्य और नाटक दोनों विधायें प्रकृतित: समावेशी विधायें हैं। यह अन्य विधाओं या कलाओं की विशिष्टता को अपने भीतर समावेशित कर लेती हैं। 'अंधायुग' में काव्य एवं नाटक, दोनों विधायें आपस में एक दूसरे को सफलतापूर्वक समावेशित करती हैं। इसे गीति-नाटक भी कहा जाता है। हिन्दी में 'अंधायुग' से पहले एकांकी काव्य-नाटक अवश्य

लिखे गए थे परन्तु अनेक अंकों वाले पूर्ण काव्य-नाटक की दृष्टि से यह पहला प्रयोग है।

भारती जी की दृष्टि परम्परानुमोदित एवं शास्त्रसम्मत काव्य-नाटक पर ही अधिक टिकती है। परन्तु किसी भी रचनाकार की रचनाशीलता उसकी अनुभूति, प्रतिभा, कल्पनाशीलता एवं रागात्मकता पर आधारित होती है। इसलिए जहाँ कहीं उसकी अनुभूति, कल्पनाशीलता एवं रागात्मकता काव्य-सिद्धांतों एवं नाट्य-सिद्धांतों से बाधित होती है, वहाँ वह उनका अतिक्रमण करता है तथा नवीन प्रयोग के मार्ग पर अग्रसर होता है। भारती जी की रचनाशीलता भी भाव-बोध की अभिव्यक्ति की दृष्टि से परम्परागत साहित्य-सिद्धांतों का अतिक्रमण करती है। वे युगीन संवेदना की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखते हुए पाश्चात्य नाट्य-परम्परा के तत्वों का उपयोग करते हैं। मसलन, कोरस यूनानी नाट्य-परम्परा का अंग है जिसका प्रयोग अंग्रेजी नाटकों में भी किया गया है। भारती जी ने भी कथा की पृष्ठभूमि, दृश्य परिवर्तन तथा अभिनीत न होने वाली घटनाओं की सूचना देने के लिए 'अंधायुग' में कथा-गायन या कोरस का प्रयोग किया है। परन्तु नाटकीय कथानक का समस्त ताना-बाना परम्परागत एवं प्राचीन कथा-पद्धति के अनुरूप वक्ता-श्रोता शैली में बुना गया है।

काव्य-नाटक की परम्परा में 'कुरुक्षेत्र', 'अंधायुग' से पूर्ववर्ती कृति है। लेकिन दोनों की रचनात्मक शैली अलग-अलग है। 'कुरुक्षेत्र' में जहाँ वातावरण, घटनाओं एवं दृश्यों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए विचारों एवं वक्तव्यों का सहारा लिया गया है, वहीं 'अंधायुग' में घटनाओं एवं दृश्यों के सीधे चित्र या प्रतीक-चित्र उपस्थित किए गए हैं। दूसरे शब्दों में, 'अंधायुग' में बिम्ब ग्रहण पर जोर दिया गया है जबकि 'कुरुक्षेत्र' में बिम्ब ग्रहण की तुलना में अर्थग्रहण पर अधिक बल दिया गया है। 'अंधायुग' से पूर्ववर्ती काव्य-नाटकों में (निराला के पंचवटी प्रसंग को छोड़कर) छन्दोबद्ध काव्य रचनाओं के दर्शन होते हैं। 'कुरुक्षेत्र' सहित किसी भी काव्य-नाटक में नयी कविता की रचनात्मक विशिष्टता दृष्टिगत नहीं होती। 'अंधायुग' इस दृष्टि से पहला प्रयोग है जिसमें छन्द एवं मुक्त छन्द सहित नयी कविता की विशिष्ट प्रवृत्तियों का रंगधर्मी नियोजन हुआ

है। मुक्त छन्द के कारण रचनाकार, पात्रों की विविध मन:स्थितियों के साथ-साथ नाटकीय भाव-व्यापार एवं क्रिया-व्यापार का सफलतापूर्वक नियोजन करने में समर्थ हो सकता है।

सुप्रसिद्ध नाट्य समीक्षक सुरेश अवस्थी ने 'अंधायुग' में नाट्य-रचना की परम्परागत शैली से अलग इसके नये रूप के संबंध में लिखते हैं - ''नाटक में 'स्थापना', 'समापन' और 'अंतराल' रखे गए हैं, अंकों के प्रतीकात्मक शीर्षक दिए गए हैं, कलास्थितियों और नाटकीय पात्रों पर व्याख्यायें-टीकायें करने के लिए प्रहरी एवं कथा-गायक का विधान किया गया है। यह सब कथा-वस्तु की संघटना का परम्परागत स्वरूप की बदल देता है।''[15] कथा-संघटन में जिन दो प्रहरियों की कल्पना की गई है, वे नाटकीय पात्र तो नहीं है, परन्तु नाटकीय पात्रों के प्रश्नों के उत्तर देकर, घटनास्थलों का परिचय देकर तथा पात्रों पर टीका-टिप्पणी करके नाटकीय भाव-व्यापार में शामिल हो जाते हैं। नाटक में वे उस साधारण वर्ग के प्रतीक बन कर आते हैं जिनके अधिकारों की रक्षा के नाम पर युद्ध लड़ा जाता है, परन्तु युद्ध में जीत चाहे किसी भी हो, उनके जीवन में निरर्थकता बनी रहती है। यहाँ भारतीने कविता की प्रतीकीकरण की क्षमता का सटीक नाटकीय उपयोग किया है इस प्रयोग की अन्य नाटकीय संभावनाएँ भी हैं। यहाँ तक कि प्रहरियों को नाटकीय पात्र के रूप में रखकर नाटकीय-व्यापार की अन्य संभावनाओं की तलाश की जा सकती है। वे नाट्य-प्रयोजन को अधिक प्रभावी बनाने में उपयोगी हो सकते हैं।

'अंधायुग' में भारती जी ने एक अलग तरह का प्रयोग किया है जिसकी ओर चन्द्रकांत बांदिवेडेकर ने संकेत किया है कि समस्त रचना के केन्द्र में अंततोगत्वा कृष्ण होते हैं परन्तु वे कभी भी रंगमंच पर नहीं आते हैं।[16] भारती जी ने भी स्वीकार किया है कि "इतने दिनों तक यंत्रणा भोगी मैंने, अश्वत्थामा एवं युयुत्सु को ढूँढा मैंने, धृतराष्ट्र एवं गांधारी से उलझा मैं और ये आये कि नाटक के सब सूत्र इनके हाथों में।''[17] कृष्ण की प्रमुख नायक बन जाते हैं। इस प्रकार 'अंधायुग' "सही अर्थ में नायक की अनुपस्थिति, अनायकी रचना का यह प्रथम सशक्त प्रयोग है और प्रयोग का वैशिष्ट्य यह है कि उसकी नूतनता अलग से आकर्षित नहीं करती बल्कि कथ्य के गौरव को बढ़ाती है।''[18]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारती जी भारतीय परम्परा एवं संस्कृति के अमूल्य स्रोत से अपनी रचनात्मकता को समृद्ध करते हैं। भारतीय पौराणिक परम्परा पर आधारित 'अंधायुग' तथा 'कनुप्रिया' जैसी कृतियों एवं 'वृहन्नला', 'टूटा पहिया', 'यक्ष का निवेदन', 'निराला के प्रति', 'रूक्मि की सेना', 'सम्पाती' आदि रचनाओं के माध्यम से आधुनिक युग-बोध को अभिव्यक्त करना भारती जी के जातीय-बोध का प्रमाण है। इसके माध्यम से उन्होंने आधुनिक परिवेश की समस्याओं से टकराने के लिए एक नयी जमीन की तलाश की। पौराणिक कथाओं, मिथकों एवं अन्य पारम्परिक स्रोतों-उपनिषद, महाभारत आदि-के माध्यम से भारती जी जो कुछ रचते हैं, युद्ध, प्रेम एवं मानवता, उसके नियामक एवं आधुनिकता से संबंधित जो प्रश्न अपनी रचनाओं में उठाते हैं, वे समस्त मानवता ही नहीं, सर्वकालिक रचनाशीलता के लिए सार्थक प्रश्न रहे हैं।

(ख) समकालीनों के बीच भारती

धर्मवीर भारती एवं उनके समकालीन रचनाकारों का रचनात्मक परिवेश स्वातंत्र्योत्तर भारत का परिवेश था, जिस पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय परिस्थितियों का गहरा प्रभाव था। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर विभीषिका ने यूरोपीय जनसमाज सहित विश्व मानस में मृत्यु एवं विनाश का भय पैदा कर जीवन-मूल्यों को झकझोर कर रख दिया था। स्वातंत्र्योत्तर भारत में औद्योगीकरण, शहरीकरण एवं मशीनीकरण के बीच व्यक्ति की आकांक्षाओं एवं सपनों के विखराव ने पूरे जन-जीवन को अव्यवस्थित कर दिया। इन विशिष्ट स्थितियों का प्रभाव तत्कालीन रचनाशीलता पर पड़ना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद तथा पूँजीवाद प्रेरित औद्योगीकरण एवं आधुनिकतावाद ने भी तत्कालीन रचनाशीलता को प्रभावित किया।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना तत्कालीन रचनाशीलता की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। धर्मवीर भारती और उनके समकालीन प्राय: सभी रचनाकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना के प्रति अत्यंत संवेदनशील रहे हैं। यह प्रवृति प्रयोगवादी काव्य-आंदोलन से ही चली आ रही थी। परन्तु नयी कविता में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना जहाँ सामाजिक धरातल पर व्यक्त हुई थी, वहीं प्रयोगवाद में वैयक्तिक धरातल पर व्यक्त हुई थी। व्यक्ति की स्वतंत्र-चेतना का प्रतिपादन सभी रचनाकारों के यहाँ एक जैसा नहीं है। प्रयोगवादी दौर में अज्ञेय के यहाँ वैयक्तिकता के प्रति विशेष आग्रह है। व्यक्ति की सामाजिकता का स्पष्ट निषेध है। उनकी एकान्तपरायणता उन प्रतीकों से भी अलग हो जाती है जो कवि के अंतर्जगत को वस्तुजगत से जोड़ते हैं। मानवीय आवश्यकताओं एवं अधिकारों के संबंध में अज्ञेय का व्यक्ति-स्वातंत्र्य मौन रहता है। वह मानव-जीवन की प्राथमिक जरूरतों के प्रति बेखबर है। परन्तु नयी कविता तक आते-आते वे व्यक्ति की स्वतंत्रता को सामाजिक धरातल पर रखकर देखते हैं। अज्ञेय के अनुसार कवि व्यक्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि वह नितांत आत्मकेन्द्रित एवं आत्मरत न होकर विराट जीवन के प्रति उन्मुख हो और उसके

प्रति समर्पित हो। 'हरि घास पर क्षणभर' में वे लिखते हैं: 'भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।'

इसी प्रकार भारती भी जीवन की विराटता को स्वीकार करते हैं - ''जीवन है इतना विराट, इतना व्यापक''[19]

व्यक्ति और समाज के अन्त:संबंधों की पुष्टि नयी कविता के आचार्य जगदीश गुप्त की इस सैद्धांतिक मान्यता से होती है कि ''नयी कविता समाज की सजीव एवं सजग इकाई के रूप में व्यक्ति को प्रधानता देती है व्यक्ति के माध्यम से ही वह लोकमंगल तक पहुँचना चाहती है। ऐसी व्यवस्था में जिसमें व्यक्ति अपनी सार्थकता और सजगता खो दे, वह समाज के लिए कल्याणकर नहीं समझती।''[20] भारती जी की रचनाशीलता को इस मान्यता की स्वीकृति के रूप में देखा जा सकता है। भारती की रचनाशीलता समस्त जीवन को व्यक्तिवादी या सामाजिक आग्रह के संकीर्ण विभाजन के आधार पर न मापकर मूल्यों की सापेक्ष स्थिति में मापने का प्रयास करती है। भारती जी व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना को उसके परिवेश के संदर्भ में ही देखते हैं और विघटनकारी प्रवृत्तियों से स्वातंत्र्य-चेतना की रक्षा पर बल देते हैं। उनकी रचनाएँ व्यक्ति-सत्य होते हुए भी समष्टि-सत्य का उद्घाटन करती हैं। भारती का काव्य-नायक पराजित, उत्पीड़ित, टूटा हुआ, जर्जर एवं त्रासदी झेलते हुए भी अपनी स्वतंत्र-चेतना तथा अस्मिता की रक्षा करना चाहता है। रघुवीर सहाय, कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह एवं सर्वेश्वर भी व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना के प्रति सजग होते हुए भी सामाजिकता के प्रति पूर्ण आस्था प्रकट करते हैं। मुक्तिबोध एवं शमशेर के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रश्न जनता के जीवन से, उसकी मानवोचित आकांक्षाओं से सीधे-सीधे संबंधित है। वे पाश्चात्य चिंतन में निहित व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना को अपने देश की जनता के व्यक्ति-स्वातंत्र्य को अलगाते हुए लिखते हैं कि ''मुनाफाखोरों और उत्पीड़कों के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लक्ष्य और जनता के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लक्ष्य में अंतर है। केवल अन्तर नहीं, विरोध-भाव है।''[21] इस प्रकार सामान्य उत्पीड़ित जनता की स्वातंत्र्य-चेतना के प्रति पक्षधरता ही उन्हें बड़ा कवि बनाती है।

स्वातंत्र्य-चेतना के प्रति दृढ़ता के कारण ही भारती जी सहित प्रायः सभी रचनाकार वादों, विचारधाराओं, रूढ़ियों एवं सामूहिक निर्णयों पर झूठी आस्था का विरोध करते हैं। सभी रचनाकार यह मानते हैं कि अप्रासंगिक मूल्यों, वादों एवं परम्पराओं के प्रति अनास्था एक सार्थक कदम है जो मानव जीवन के विकास के दूसरे छोर पर आस्था से जुड़ी हुई है। इसीलिए नयी कविता का अधिकांश अनास्था का काव्य होते हुए भी आस्था का काव्य है। 'अंधायुग' में भारती जी निजी विवेक के अतिरिक्त आस्था का कोई बाह्य आधार स्वीकार नहीं करते है। कुँवर नारायण ने भी 'आत्मजयी' में आस्था-अनास्था के प्रश्न को उठाते हुए सामाजिक रूढ़ियों से संघर्ष को जिस परिणति तक पहुँचाया है उससे यहीं सिद्ध होता हैं कि वह व्यक्ति के बाह्य संघर्षों को आत्मचेतन स्तर पर ही हल कर लेना चाहते है। मुक्तिबोध और शमशेर बहादुर सिंह युग-यथार्थ के साथ वैचारिक प्रतिबद्धता को सार्थक दृष्टि मानते हैं। शमशेर जिंदगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत मानते हैं -''ऑक्सीजन, मार्क्सवाद और वह शक्ल, जो हमें जनता में दिखते हैं।''[22] लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि ''मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता।''[23] मुक्तिबोध, शमशेर और रघुवीर सहाय की रचनाएँ उनकी वैचारिक पक्षधरता की प्रमाण है। यह वैचारिक पक्षधरता त्रिलोचन एवं नागार्जुन के यहाँ घोषित रूप से विद्यमान है। परन्तु भारती प्रगतिवादी नारेबाजी के घोर विरोधी हैं। वे किसान एवं मजदूर वर्ग के पक्षधर होने की नाटकीय मुद्रा लेकर आवेश में अपनी आवाज बुलन्द नहीं करते क्योंकि वे अंततः साहित्य एवं साहित्यकार की मर्यादा एवं भूमिका से अच्छी तरह वाकिफ हैं। इसीलिए सन् 1974-75 में इमर्जेंसी की विरोध करती कविताएँ 'मुनादी' और 'पर्व' तथा बांग्लादेश के किसानों एवं नौजवानों की वीरता के प्रति उनकी प्रतिबद्धता किसी भी प्रगतिवादी चेतना से कम नहीं ठहरती। अर्थात् भारती की रचनात्मकता वर्गीय चेतना के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, बल्कि संपूर्ण मानवता के प्रति प्रतिबद्ध है और इस प्रतिबद्धता के लिए वे कोई वैचारिक आग्रह स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए उनके काव्य में विविधता है जबकि मुक्तिबोध और शमशेर के काव्य में वर्गीय चेतना स्पष्ट दृष्टिगत होती है। नरेश

मेहता भी साहित्य और राजनीति को पर्यायवाची मानते हैं। उनके काव्य में उनकी राजनीतिक धारणाओं के तत्व अवश्य मिलते हैं। 'समय देवता' में रूस, चीन तथा लेनिन की चर्चा जिस जोश से करते हैं उससे उनका ऐतिहासिक समाजवाद के प्रति रूझान स्पष्ट होता है। विजयदेवनारायण साही के यहाँ भी समाजवादी रूझान अवश्य है। परन्तु मुक्तिबोध एवं शमशेर के बरक्स उनके यहाँ समाजवाद के प्रति एक संशय का भाव भी विद्यमान है। अज्ञेय के काव्य में भी विविधता है। वे मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी विचारधारा से काफी प्रभावित थे। वे फ्रायडवाद से भी प्रभावित थे। इस विचारधारा से प्रभावित होने के कारण उनकी कविताओं में भी यौन कुंठाओं एवं मनोवस्थाओं के प्रतीक भी मिलते हैं। 'सागर तट की सीपियाँ' मानसिक कुंठाओं का ही प्रतीक हैं। इसके विपरीत भारती जी फ्रायडवाद को व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना एवं विवेक-निर्णयों पर आघात मानते हैं। उनके अनुसार फ्रायडवाद ने मनुष्य की स्वतंत्रता एवं गरिमा को काफी खंडित किया। इस प्रकार भारती ने रचनाकार की स्वतंत्रता की हैसियत से एक अलग रास्ता बनाया, जो व्यक्ति और समाज को एक सही दिशा देता है। वैचारिक आग्रहों से मुक्त रास्ते का अनुगमन केदारनाथ सिंह की रचनाओं में भी है। इसलिए उनकी रचनाओं में जीवन और समाज की विविधता का दर्शन होता है।

नयी रचनाशीलता के भाव-बोध को अस्तित्ववादी विचारधारा ने काफी प्रभावित किया था। प्राय: सभी रचनाकार किसी-न-किसी रूप में अस्तित्ववाद से प्रभावित अवश्य थे। अस्तित्ववाद का सर्वप्रथम प्रभाव अज्ञेय में दिखाई पड़ा था जिसने उन्हें यथार्थवाद से विमुखकर रहस्यवाद की दिशा में प्रेरित किया। इसलिए उनकी आत्मकेन्द्रियता अक्सर रहस्यवादी आवरण की शिकार हुई। 'रहस्यवाद' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं - ''मैं उस असीम शक्ति से संबंध जोड़ना चाहता हूँ। जो मेरे भीतर है।'' इसी प्रकार उनके उपन्यासों 'नदी के द्वीप' एवं 'अपने अपने अजनबी' में अस्तित्ववादी प्रभाव है। यद्यपि वे अस्तित्ववादी चिंतकों की भांति स्वयं को अजनबी मानने से इंकार करते हैं।

'आत्मजयी' में अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण ही कुँवर नारायण आस्था-अनास्था

के प्रश्नों को आत्मचेतन स्तर पर हल कर देना चाहते हैं। लेकिन उनकी रचनाशीलता में जिस तरह से सामाजिक चेतना निरन्तर परिष्कृत होती जाती है, उससे उनकी आत्मचेतना एवं सामाजिक चेतना में सामंजस्य आता गया है। इसी प्रकार सर्वेश्वर के यहाँ भी अस्तित्ववादी प्रभाव है जो बाद में जनवादी चेतना के कारण हाशिए पर चला गया। परन्तु धर्मवीर भारती, विजयदेवनारायण साही, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय और नरेश मेहता अस्तित्ववादी प्रभामंडल से सम्मोहित (हिप्नोटाइज) नहीं होते, बल्कि अपनी रचनाशीलता में भारतीय जीवन के यथार्थ को वाणी देने का प्रयत्न करते रहे। भारती युद्धोत्तर विभीषिका में मूल्य-संकट की पहचान करते हुए भी अस्तित्ववादी दर्शन को अपने ऊपर हावी नहीं होने देते हैं और स्वातंत्र्य-चेतना एवं विवेकपूर्ण निर्णय के बल पर मानव गरिमा की प्रतिष्ठा पर जोर देते हैं।

नयी रचनाशीलता का आधुनिक भाव-बोध से गहरा तादात्म्य है। लेकिन आधुनिक भाव-बोध का स्वरूप सभी रचनाकारों के यहाँ एक समान नहीं है। धर्मवीर भारती ने आधुनिक भाव-बोध को संकट-बोध का पर्याय माना है।[24] यह संकट जीवन के सभी पक्षों में समान रूप से घटित हो रहा है। संपूर्ण विश्व की मानवता के अस्तित्व एवं अस्मिता पर संकट इस प्रकार गहराते जा रहे हैं कि मानवता का प्रश्न ही निरर्थक होता जा रहा है। अतः भारती के अनुसार मानवता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल्यों की खोज के साथ ही नियत्ति के स्वामी के रूप में मनुष्य की प्रतिष्ठा ही आधुनिक साहित्य का कर्तव्य है। ''आधुनिकता बोध मानव नियत्ति का साक्षात्कार, इसी संसार में इसी काल-प्रवाह में करना चाहता है। अपने परिवेश और समस्त परिस्थिति को नितान्त सत्य मानते हुए उसमें मूल्यों की खोज एवं सार्थकता की खोज करना चाहता है, अपने परिवेश को अपने ही संदर्भो में देखना चाहता है, उनकी सापेक्षता में अपने पूर्णत्व की प्राप्ति करना चाहता है।''[25]इस प्रकार भारती की आधुनिकता संबंधी धारणा में मनुष्य एवं मानवता की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। जब वे व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना, विवेक एवं आंतरिकता की बात करते हैं तो उनका लक्ष्य मनुष्य मात्र है। उनकी आधुनिकता-बोध में व्यक्ति–बोध एवं सामाजिक-बोध का

कोई द्वन्द्व नहीं है। अज्ञेय की आधुनिकता-बोध के केन्द्र में व्यक्ति-चेतना है। वे 'आधुनिक साहित्य बोध के मूल तत्व' में आधुनिकता को साहित्यकार के बदलते हुए जीवन-दर्शन और उसके आधारों और इस परिवर्तन के प्रति उसकी आत्म-चेतना से जोड़ते हैं। अज्ञेय आधुनिकता की संवेदना को संस्कारवान होने की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं - ''वह एक स्थिति नहीं, एक प्रक्रिया है। संस्कारवान होने की क्रिया को ही मैं आधुनिकता मानता हूँ।''[26]

इस प्रकार अज्ञेय समय एवं परिवेश के सापेक्ष संस्कारवान होने की क्रिया को आधुनिकता के रूप में देखते हैं। मुक्तिबोध की आधुनिकता संबंधी धारणा भारती एवं अज्ञेय दोनों से भिन्न है। मुक्तिबोध आधुनिकता को वर्ग-संघर्ष की चेतना से जोड़कर देखते हैं। अपनी वर्गीय चेतना से युक्त आधुनिकता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''इस आधुनिकतावाद में उन उत्पीड़नकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है, जिन्हें हम शोषक कहते हैं।''[27] इस प्रकार मुक्तिबोध के आधुनिकता-बोध संबंधी धारणा के केन्द्र में शोषक एवं शोषित का विभाजन और अन्याय के प्रति खिलाफत है। वे इसी संदर्भ में कवि के भाव-बोध का दायरा विस्तृत करना चाहते हैं- ''मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष में हम अधिक दत्त चित हो।''[28] आधुनिकता के संबंध में मुक्तिबोध की धारणा जनवादी अवश्य है परन्तु एक तर्क संगत धारणा होने के बजाय प्रतिक्रियावादी अधिक प्रतीत होती है। फिर भी मुक्तिबोध की आधुनिकता सामान्य आदमी के मनोलोक और जीवन की वास्तविक समस्याओं से जुड़ने के कारण नई परम्परा गढ़ने की सामर्थ्य रखती है। मुक्तिबोध के बरक्स भारती की आधुनिकता संबंधी धारणा में न कोई शोषित है और न कोई शोषक। उनकी आधुनिकता संबंधी धारणा के केन्द्र में वह मनुष्य है जो अपनी स्वतंत्र-चेतना से विवेकपूर्ण निर्णय लेता है तथा अपनी नियति का सूत्रधार स्वयं है।

लेकिन भारती की तुलना में रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर एवं केदारनाथ सिंह आधुनिक भाव-बोध को लेकर अत्यंत सहज है। ये कवि भारती की तरह आधुनिक युग-बोध को संकट-बोध के रूप में नहीं देखते हैं। खासतौर से, केदारनाथ सिंह एवं रघुवीर सहाय। ये

मूल्य-संक्रांति की घोषणा नहीं करते हैं और नहीं मूल्यों के प्रति अनिश्चय का प्रसार करते हैं। उनके यहाँ भी घबराहट और बेचैनी है। परन्तु युगीन-बोध के परिप्रेक्ष्य में मानवता को नये ढंग से परिभाषित करने तथा मानवता को वाणी देने की बेचैनी है।

नयी रचनाशीलता में 'लघु मानव' की परिकल्पना एवं उसके स्वरूप तथा भीड़ को लेकर काफी विवाद रहा है। 'लघु मानव' के दर्शन के सहारे कविता में 'नये मानव' तथा 'नये मूल्यों' की प्रतिष्ठा का प्रचलन काफी अधिक था। परन्तु भारती जी 'लघुमानव' एवं 'महामानव' जैसे किसी भेद के विरोधी थे। उनकी रचना के केन्द्र में मानव मात्र है। वे लिखते है कि मानव गौरव की प्रतिष्ठा तभी संभव है ''जब 'महामानव' एवं 'लघुमानव' का भेदकर एक के गौरव का बलिदान कर दूसरे के गौरव में वृद्धि न किया जाय।''[29] लेकिन भारती जी 'भीड़' को 'जनसमुदाय' से अलगाते अवश्य है और 'भीड़' का समर्थन नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार 'भीड़' सामूहिकता की अंधी प्रवृत्तियों से चालित होती है। उसका अपना विवेक नहीं होता, उसकी अपनी आत्मा नहीं होती, भेड़-झुण्ड की तरह जिधर हाँको, ऊधर हँक जाती है। जबकि जन समुदाय में साहस, आस्था एवं त्याग की भावना होती है। जनता अपनी अस्मिता एवं अधिकारों के प्रति सचेत होती है। भारती जी की रचनात्मकता इसी जनता की अस्मिता एवं उसके मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध है। अज्ञेय के यहाँ भी भीड़ के प्रति उपेक्षा-भाव बराबर बना रहता है। लेकिन भीड़ के प्रति उपेक्षा-भाव रचनात्मक दायित्व के प्रति संशय पैदा करता है क्योंकि भीड़ के प्रति दायित्वों का निवर्हन किए बिना रचनात्मक सार्थकता बनाए रखना संभव नहीं है। भारती एवं अज्ञेय के विपरीत मुक्तिबोध, शमशेर एवं सर्वेश्वर भीड़ को एक शक्ति के रूप में देखते हैं। भीड़ से उन्हें कोई आत्मघाती भय नहीं है। इसे वे महज राजनीतिक प्रचार मानते है। इसीलिए वे लघुमानवतावाद का विरोध करते हैं। उनके अनुसार लघुमानवतावादी प्रवृत्ति जनता को तुच्छ, चेतनाहीन एवं कुण्ठाग्रस्त रूप में स्थापित करती है। नामवर सिंह ने भी 'कविता के नये प्रतिमान' के लघुमानव को छोटा आदमी कहकर उसकी निरर्थकता सिद्ध करने की चेष्टा की। केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा सामान्य जन के प्रति आस्था प्रकट

करते हुए 'लघुमानव' के मिथक को ध्वस्त करते हुए काव्य-सृजन करते रहे है। परन्तु लक्ष्मी कांत वर्मा और विजयदेव नारायण साही 'लघुमानवतावाद' को दृढ़ता से स्थापित करते हैं। लेकिन दोनों की धारणाएँ अलग-अलग है। लक्ष्मी कांत वर्मा के अनुसार 'लघुमानव' की प्रतिष्ठा इसलिए आवश्यक थी कि ''इतिहास के सुपरमैन या जन-सत्ता के अधिनायक अथवा देवदूत या मसीहा ने अपनी समस्त महानता को लघुमानव की बलि देकर ही अपनाया है।''[30] इतिहास ने इसे पापों का पुंज, वर्ग-चेतना का प्रतीक, रुग्ण, अशिष्ट, अभद्र एवं जघन्यता के प्रतिनिधि के रूप में सिद्ध किया है जो रह-रहकर अधिनायक या सुपरमैन की सत्ता को चुनौती देता रहता हैं। लक्ष्मी कांत वर्मा के अनुसार लघुमानव का संपूर्ण अस्तित्व आत्मनिष्ठा से उद्‌भूत होता है। ''लघुमानव यह जानता है कि जो भी है उसे विवेक के साथ भाग लेना ही भविष्य की कल्पना को दृढ़ कर सकता है, इसलिए न तो उसे अतीत की चिंता है और न भविष्य का फोबिया।''[31] लेकिन मनुष्य की महत्ता या महानता का निषेध करने वाली इस लघुमानववादी अवधारणा से विजयदेव नारायण साही सहमत नहीं है। उनके अनुसार ''मनुष्य की हर परिभाषा मूलतः 'सहज मनुष्य' की परिभाषा है।''[32] सहजता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि- ''यह कहना कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है मूलतः यह कहना है कि अपने सहज रूप में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।''[33] अर्थात् सहज मानव का संबंध सामाजिक परिवेश में सामान्य एवं सहज रूप में जीवन जीते मनुष्य मात्र से है, इसमें असामाजिक, वक्र, कुटिल, पागल नहीं आते हैं। इसीलिए वे लघु और महत में कोई विरोध भाव नहीं देखते है। वे जयशंकर प्रसाद की सूक्ष्म दृष्टि का हवाला देते हुए लिखते हैं कि- ''उन्होंने यथार्थ को लघु से और आदर्श को महत से संबद्ध किया है और यथार्थ और आदर्श दोनों को समन्वित दृष्टि से देखने की कोशिश की है। लघु और महत दोनों कहीं-न-कहीं वैसे ही मिलते है जैसे यथार्थ और आदर्श।''[34] इस प्रकार साही की सहज मानव की परिकल्पना ऐसे मनुष्य की परिकल्पना है जिसमें लघुता और महत्ता की स्थितियाँ सहज रूप में विद्यमान होती हैं। स्पष्टतः धर्मवीर भारती के यहाँ इन दोनों स्थितियों का समाहार मिलता है। भारती का मानव, जो लघुमानव,

महामानव या सहज मानव किसी भी वर्ग में नहीं आता, अपने विवेक, स्वातंत्र्य-चेतना एवं विकल्प के अधिकार के साथ अपने परिवेश में जीता है और यहीं उसकी शक्ति है जिसके बल पर वह देवदूत या सुपरमैन की सत्ता को चुनौती भी देता है। भारती के यहाँ रथ का 'टूटा पहिया' है जो अपनी तमाम लघुता के बावजूद सचेतन है तथा चक्रव्यूह में घिरे अभिमन्यु के हाथों में पड़कर महारथियों को चुनौती देता है।

संदर्भ स्रोत

1. धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-5, पृ. सं. 279
2. साहित्य विचार और स्मृति, ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 30
3. धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-5, पृ. सं. 195
4. वहीं, पृ. सं. 266
5. वहीं, पृ. सं. 266
6. वहीं, पृ. सं. 266
7. धर्मवीर भारती की साहित्य-साधना- सं. पुष्पा भारती, पृ. सं. 369
8. कादंबिनी, जून-1973, पृ. सं. 74
9. शब्दिता- ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 23
10. वहीं, पृ. सं. 22
11. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना - सं. पुष्पा भारती, 'मेरे लेखन का सम्बल' शीर्षक निबंध, पृ. सं. 742
12. वहीं, पृ. सं. 742
13. 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की भूमिका में, पृ. सं. 9
14. वहीं, पृ. सं. 9
15. धर्मवीर भारती की साहित्य-साधना - सं. पुष्पा भारती पृ. सं. 490
16. वहीं, पृ. सं. 444
17. वहीं, पृ. सं. 710
18. वहीं, पृ. सं. 444
19. ठंडा लोहा- ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 87
20. नयी कविता: स्वरूप एवं समस्याएँ - ले. जगदीश गुप्त, पृ. सं. 216
21. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ. सं. 175
22. दूसरा सप्तक- सं. अज्ञेय, पृ. सं. 138
23. वहीं, पृ. सं. 138
24. पश्यन्ती- ले. धर्मवीर भारती, पृ. सं. 141
25. वहीं, पृ. सं. 149
26. आत्मनेपद- ले. अज्ञेय, पृ. सं. 29
27. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ. सं. 333
28. वहीं, पृ. सं. 316

29. धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-5, पृ. सं. 199
30. नई कविता के प्रतिमान - ले. लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ. सं. 161-62
31. नए प्रतिमान: पुराने निकष- ले. लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ. सं. 105
32. छठवाँ दशक- ले. विजय देव नारायण साही, पृ. सं. 260
33. वहीं, पृ. सं. 260
34. वहीं, पृ. सं. 262

उपसंहार

उपसंहार

आधुनिकता या आधुनिक भाव-बोध के व्यापक परिप्रेक्ष्य में धर्मवीर भारती की संपूर्ण रचनाओं के मूल्यांकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी संपूर्ण सर्जनात्मकता एवं आधुनिक भाव-बोध संबंधी चिंतन का प्रस्थान एवं प्रमेय मनुष्य, उसका अस्तित्व, उसकी स्वातंत्र्य चेतना, अस्मिता, संकल्प-शक्ति तथा मानवता की प्रतिष्ठा रही है। उनकी रचनात्मक प्रतिबद्धता मानवता के उन महनीय मूल्यों के प्रति रही है, उस मानवीय संस्कृति के प्रति रही है, जिसमें मनुष्य का मनुष्य सहित सभी जड़-चेतन प्रकृति के साहचर्य संबंधों के अतिरिक्त संपूर्ण मानवता का वैयक्तिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास सुनिश्चित हो। उनकी रचनाओं में ऐसी मानवीय संस्कृति की तरफदारी की गई है, जिसमें जीवन की महानता के बजाय सार्थकता सुनिश्चित हो। इसीलिए ऐसी कोई भी व्यवस्था, विचारधारा या संस्कृति जो मानव की मानवता का अपमान करती है, मनुष्य एवं प्रकृति के सहज एवं रागात्मक संबंधों को बाधित करती है, भारती जी के लिए असह्य थी। यहीं उनकी रचनाशीलता एवं आधुनिक भाव-बोध का केन्द्र बिन्दु है।

यद्यपि मार्क्सवादी चिंतन पद्धति एवं मार्क्सवादी संस्कृति का मूल्यांकन भारती जी का प्रिय विषय रहा है, परन्तु संसार के विविध साहित्यिक आंदोलनों एवं वैचारिक आंदोलनों को मानवता की कसौटी पर विश्लेषित किया है। उनकी समग्र सृजनात्मकता में आधुनिकता को परिवेश की जटिलता एवं मनुष्य की समस्याओं के संदर्भ में देखते हुए मनुष्य की अस्मिता, स्वातंत्र्य-चेतना, उसकी भावनाओं एवं आशाओं-आकांक्षाओं को कुंठित करने वाली प्रवृत्तियों पर सवाल खड़े किए गए हैं। भारती जी मनुष्य के मुक्त विकास में उसके विवेक एवं उसकी स्वातंत्र्य-चेतना को सबसे अधिक महत्व देते हैं। इसीलिए विवेक एवं स्वातंत्र्य-चेतना को कुंठित करने वाली व्यवस्था से उनका टकराव होता है। वे समाज में व्याप्त विषमता की पहचान के लिए मार्क्सवाद की वैज्ञानिक दृष्टि को सार्थक मानते हैं। परन्तु मानवीय सभ्यता के विकास के केन्द्र में भौतिक विकास को स्वीकार करने तथा मनुष्य को इतिहास का नियन्ता न मानकर उसकी संकल्प-शक्ति को ठुकराने का प्रयत्न

मार्क्सवादी विचारधारा के ऊपर एक प्रश्नचिह्न है। इसी कारण व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना, उसकी अनुभूतियों एवं उसकी संकल्प-शक्ति को लेकर भारती जी मार्क्सवादी विचारधारा से टकराते हैं। वे मानते हैं कि आधुनिक परिवेश में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के मूल्य को सबसे अधिक चुनौती दी गई है। समाजवादी, सामंतवादी, पूँजीवादी, लोकतांत्रिक एवं साम्यवादी सभी व्यवस्थाएँ किसी-न-किसी रूप में मानवीय स्वतंत्रता एवं मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा पैदा करती हैं। यह खतरा उनके मानवतावादी दावों एवं आदर्शों पर प्रश्नचिह्न है।

मार्क्स की मान्यताओं के अतिरिक्त भारती जी ने नीत्शे एवं फ्रायड के विचारों पर भी मनुष्य की स्वातंत्र्य-चेतना एवं विवेक-शक्ति को अनावश्यक ठहराने के प्रयत्नों के लिए प्रश्नचिह्न खड़ा किया। फ्रायड ने जहाँ मनुष्य को दमित वासनाओं से संचालित मानकर उसे विवेकशून्य पशु की कोटि में ला खड़ा किया, वहीं नीत्शे ने सुपरमैन (महामानव) की अवधारणा के पीछे वर्तमान मनुष्य को मरणासन्न जाति का जीव सिद्ध कर उसके अस्तित्व को ही अनावश्यक ठहरा दिया। भारती जी की चेतना इन अतिवादी धारणाओं से टकराती है। उनका मूल प्रश्न है कि आज भी व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना और उसकी आंतरिकता को कुंठित करने की मानसिकता में बदलाव क्यों नहीं आया है? आज भी क्यों मनुष्य को गुलाम बनाने की प्रवृत्ति बनी हुई है? आधुनिक सत्ता-तंत्र का जो सामाजिक एवं राजनीतिक चरित्र है उसके कारण पौरुष, सर्जनशीलता और ओजस्विता से युक्त मनुष्य, स्वातंत्र्य-चेतना के कुंठित हो जाने से वृहन्नला दिखाई देता है। यह आधुनिक एवं कल्याणकारी कहे जाने वाले सत्ता तंत्रों के समक्ष गम्भीर प्रश्नचिह्न है।

आधुनिक परिवेश में मानवीय मूल्यों के विघटन के लिए भारती जी ने विज्ञान एवं तकनीक के प्रति सकारात्मक सोच के अभाव को भी जिम्मेदार माना है। वे इस तथ्य से परिचित हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक विकास ने मनुष्य की चेतना को अलौकिक मान्यताओं से अलग कर मानवीय मूल्यों एवं मानवीय गरिमा को पुनर्प्रतिष्ठित किया है। परन्तु स्वार्थी तत्वों एवं सत्ता तंत्रों द्वारा संकीर्ण उद्देश्यों हेतु विज्ञान एवं तकनीक के अनुप्रयोग के कारण मनुष्य की आंतरिक रूग्णता बढ़ी है, जिससे मनुष्यता, आस्थाहीनता

एवं विश्वासहीनता के कटघरे में खड़ी हो गई है। इस विषम स्थिति में प्रत्येक विश्वास, मूल्य, कर्मनिष्ठा, मुक्ति-प्रयास, संघर्ष-चेतना एवं संकल्प-शक्ति के समक्ष संशयात्मक प्रश्नचिह्न लग गए।

मार्क्सवादी मान्यताओं के मूल्यांकन के क्रम में ही भारती जी प्रगतिवाद के अतिवादी आग्रहों से साहित्य का बचाव करते हैं। उनके अनुसार प्रगतिवादियों ने साहित्य की परिधि को राजनीतिक संकीर्णता के दायरे में समेटने का प्रयत्न किया। भारती जी के अनुसार भारतीय परिस्थितियों, भारतीय परम्पराओं एवं भारतीय साहित्य की आत्मा की पहचान किए बिना मार्क्सवादी मान्याताओं का अंधानुकरण, प्रगतिवादी साहित्य को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करता है। हिन्दी साहित्य में निराला, प्रसाद, प्रेमचन्द, पंत एवं रवीन्द्र के माध्यम से पनप रही शक्तिशाली प्रगतिशीलता को नजरन्दाज कर राजनीतिक संकीर्णता से युक्त रूसी प्रगतिवाद का अंधानुकरण कैसी साहित्यिक समझ है? प्रगतिवादियों के पलायनवादी आरोपों का जवाब उन्हीं के तर्कों के आधार पर देते हुए भारती जी प्रश्न करते हैं कि रूस की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का पुनरूद्धार करने हेतु 'इवान भयंकर' की आत्मा का आह्वान करने वाले रूसी रचनाकार क्या पलायनवादी रहे हैं? यदि नहीं तो चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी एवं अजातशत्रु का आह्वान करने वाले भारतीय साहित्यकार पलायनवादी कैसे हुए? प्रगतिवाद द्वारा साहित्य में व्यक्ति की आशाओं-अकांक्षाओं एवं रागात्मक अनुभूतियों को महत्व नहीं दिए जाने पर भारती जी प्रश्न करते हैं कि क्या आदमी के हृदय में निहित सत्य की हत्या की जा सकती है? प्रेम, भावना एवं जीवन के शाश्वत सौंदर्य को क्या दबाया जा सकता है? क्या अपने अंतर्जगत को बदले बिना बाह्य जगत में परिवर्तन लाया जा सकता है?

भारती जी का तर्क है कि व्यक्ति की आंतरिकता, उसकी संकल्प-शक्ति एवं स्वातंत्र्य-चेतना को ठोकर मारने के कारण ही इतिहास की शक्तियाँ अंधी हो जाती हैं और मूल्य-विमर्श की प्रक्रिया में इतिहास और उसकी द्वन्द्वात्मक शक्तियाँ निरर्थक हो जाती हैं। ऐसी निरर्थक शक्तियाँ मानवीय गरिमा के अनुकूल संस्कृति का निर्माण नहीं करती हैं।

इसीलिए भारती जी 'कनुप्रिया' के माध्यम से प्रश्न करते हैं कि 'अकल्पनीय अमानुषिक घटनाओं' से युक्त इतिहास की सार्थकता क्या है? क्या कर्ममय जीवन रागात्मक संवेदना से रहित होता है। उसमें व्यक्ति की इच्छा, संकल्प-शक्ति का कोई योगदान नहीं होता है? इस प्रकार इतिहास की सामूहिक गति के बरक्स स्व-अस्तित्व की चेतना एवं संकल्प-शक्ति का प्रश्न उठाकर व्यक्तित्व के विघटन जैसी समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसके कारण व्यक्ति, अस्तित्व से विच्छिन्न होकर अपने को युग-प्रवाह में बहने के लिए छोड़ देता है। निजी अनुभूति की गरिमा से शून्य होने के कारण ही कृष्ण का निर्णय इतिहास के अंधप्रवाह में विवशतावश लिया गया निर्णय होता है जिसकी परिणति सार्थक मानवीय मूल्यों में नहीं होती।

महाभारतकालीन संग्राम में कृष्ण, युधिष्ठिर एवं धृतराष्ट्र के विवेक शून्य अंधी प्रवृत्तियों से चालित निर्णयों के परिप्रेक्ष्य में भारती जी ने द्वितीय विश्व-युद्ध में शामिल राष्ट्रों के निर्णयों को चुनौती दी है। द्वितीय विश्व-युद्ध में शामिल किसी राष्ट्र का पक्ष भारती के आधुनिक भाव-बोध की कसौटी पर खरा नहीं उतरता क्योंकि युद्धरत राष्ट्रों की प्रतिबद्धता लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रति नहीं, बल्कि साम्राज्यवादी उद्देश्यों एवं आर्थिक हितों के प्रति थी। विश्व युद्ध सत्य-असत्य या उचित-अनुचित के टकराव का परिणाम नहीं था, बल्कि पूरा विश्व युद्ध अर्द्ध-सत्य की उपज था। ऐसे विनाशकारी युद्ध में, चाहे महाभारत का हो या द्वितीय विश्व युद्ध हो, जिसकी प्रतिबद्धता सत्य, न्याय, मानवता तथा लोकतंत्र के प्रति थी, वह अपने को छला हुआ महसूस करता है। चाहे वह युयुत्सु हो या अपने लोकतांत्रिक अधिकारों एवं संप्रभुता की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध राष्ट्र हो। भारती जी ने युद्धोतर परिणामों के परिप्रेक्ष्य में युयुत्सु तथा अश्वत्थामा के माध्यम से व्यक्तित्व के विघटन का भी सवाल उठाया है। युयुत्सु की अनुभूति मानव-विवेक के पराजय की अनुभूति है। उसकी परिणति गीता के शांतिदायी, प्रामाणिक और संशयहर्त्ता लगने वाले दर्शन के समक्ष प्रश्नचिह्न है। गीता के प्रवर्त्तक के शरण में जाने की परिणति, उपेक्षा, घृणा, तिरस्कार एवं अंततः आत्मघात में क्यों हुई? इसी प्रकार अश्वत्थामा की परिणति भी समूची

भारतीय जीवन-दर्शन-परम्परा के सामने एक सवाल है। अश्वत्थामा सभी सचाइयों के सामने खड़ा सवाल है जो तथाकथित सत्य की, धर्म की, अनासक्ति की, पूर्ण शरणागति की, नीति-अनीति की, धर्म-अधर्म की, पाप-पुण्य की धज्जियाँ उड़ा रहा है।

सामाजिक एवं ऐतिहासिक मूल्य-व्यवस्था को युद्ध की विनाशकारी परिणतियों के संदर्भ में रखकर भारती जी प्रश्न करते हैं - क्या मनुष्य का निर्णय या आचरण निर्णायक क्षणों में मूल्यों के आलोक में निर्धारित होते हैं या स्वत: चालित यंत्रवत मानवीय वृतियों से या परिस्थितियों से? युद्ध की बर्बर स्थितियाँ प्रमाणित करती हैं कि निर्णायक क्षणों में मानवीय एवं सामाजिक मूल्य निरर्थक पड़ जाते हैं। परन्तु भारती जी को विश्वास है कि यदि आचरण मर्यादित हो, अनासक्त भाव से प्रेरित हो, मानवता के प्रति प्रतिबद्ध हो तो नक्षत्रों की दिशा बदली जा सकती है, नियति को बदला जा सकता है।

भारती जी कहानियों एवं उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक एवं मानवीय संबंधों की यांत्रिकता, कृत्रिमता एवं ठंडेपन का भी पर्दाफाश करते हैं। बंगाल के अकाल की विभीषिका, जो प्राकृतिक होने की तुलना में मानवकृत अधिक थी, के माध्यम से भारती की कहानियाँ न केवल मानवता के समस्त आदर्शवादी मुखौटे का पर्दाफाश करती हैं, बल्कि मानवीय संदेवना की मृत्यु की घोषणा करती हुई शासन, धर्म एवं समाज की व्यवस्थाओं पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं। क्षुधापूर्ति का अभाव आज भी एक-चौथाई भारतीय जनसंख्या का कड़वा सच है। भूख और उससे उत्पन्न पीड़ा ने मनुष्य को बहुत अपमानित किया है। भूख की पीड़ा से त्रस्त बूढ़ी महिला को अस्मतफरोशी के लिए कहना, मानवता का इससे बड़ा अपमान क्या हो सकता है? यह अपमान व्यक्ति की संवेदना एवं जज्बातों को इस कदर तोड़ देता है कि वह जानवरनुमा जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त हो जाता है। भूख, पीड़ा, अपमान एवं मानवीय संवेदनशीलता के पतन को समानान्तर रूप में प्रस्तुत करके भारती जी की कहानियाँ देशकाल की परिधि को लाँघकर वर्तमान समय में, जबकि विश्व का एक बड़ा हिस्सा भूख से पीड़ित है, कल्याणकारी कहलाने वाले आदर्श राज्यों से उनके 'कल्याणकारी' होने का अर्थ पूछती हैं। यहाँ पर

भारती जी की आधुनिक दृष्टि धर्म के उस चरित्र का पर्दाफाश करती है जो मनुष्य एवं मानवीय संवदेना के महत्व को नकारती है और व्यक्ति की पहचान उसकी धार्मिक संबद्धता के आधार पर करती है। यह वह कटु यथार्थ है जिसके कारण भारतीय प्रान्तों में रहने वाले हिन्दू और मुसलमान रहन-सहन, पहनावा, खानपान और भाषा के स्तर पर एक होने के बावजूद एक दूसरे का गला काटने के लिए तत्पर रहते हैं। नर्सों एवं डॉक्टरों द्वारा मजहब के आधार पर मरीजों की पहचान पर भारती प्रश्न करते हैं कि क्या अस्पताल में दी जाने वाली दवायें हिन्दू और मुसलमान पर अलग-अलग असर दिखाती हैं? भूख और गरीबी से त्रस्त हिन्दू-मुसलमान को छाँटते अस्पताल के रजिस्टर के प्रति नहीं, बल्कि उस विभेदकारी प्रवृति के समक्ष भारती जी का यह प्रश्न निराशा नहीं, बल्कि आक्रोश पैदा करता है।

अकालजन्य परिस्थितियों के अतिरिक्त वर्तमान जटिल परिवेश के दबावों के कारण व्यक्ति एवं समाज के रिश्तों में आए ठंडेपन पर भी भारती जी की कहानियाँ एवं उपन्यास प्रश्नचिह्न खड़ा करते हैं। यहाँ भारती जी उस मध्यवर्ग को प्रश्नों के कटघरे में खड़ा करते हैं जो यांत्रिक रूप से सामाजिक रूढ़ियों, मध्यकालीन संस्कार-भावना एवं रीति-रिवाजों को ढ़ोता चला जा रहा है परन्तु उससे बाहर आने के बजाय अवसाद ग्रस्त और निराश होता चला जाता है। गुलकी, सावित्री, दीनू एवं बूढ़े मुंशी की व्यथाएँ इन्हीं रूढ़िगत संस्थाओं के प्रति प्रश्नचिह्न हैं। कहानियों की तरह उपन्यासों में, 'गुनाहों का देवता' का चन्दर तथा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का माणिक मुल्ला एवं तन्ना जैसे मध्यवर्गीय चरित्र है जो कायर, निर्लज्ज एवं समझौता परस्त है जिनकी 'मर्यादाशीलता' केवल 'परिष्कृत कायरता' है। तन्ना ईमानदारी एवं सद्प्रयत्नों के बावजूद सामाजिक रूढ़ियों के समक्ष पछाड़ खाकर गिर जाता है। इस मध्यवर्गीय समझौता परस्ती एवं सामाजिक विसंगतियों के परिप्रेक्ष्य में भारती जी प्रश्न करते हैं कि सतीत्व, पवित्रता, नैतिकता, सामाजिक विधि-निषेध, दैवी विधान, पौराणिक मिथक, विवाह तथा परिवार की बद्धमूल मध्यकालीन संस्कार-भावना के कीटाणु यदि मानवीय चेतना को कुंठित करते हैं, जीवन के प्रति निरर्थकता-बोध का एहसास कराते

हैं, शारीरिक एवं मानसिक रूप से विक्षिप्त करते हैं तो उनकी सार्थकता क्या है? क्यों मध्यवर्गीय समाज आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के युग में भी इन तर्कहीन संस्कारों का अंधानुकरण करता जा रहा है। क्या सामाजिक रीति रिवाजों के समक्ष व्यक्ति की भावनाओं का कोई मूल्य नहीं है? इन रीतिरिवाजों को मनुष्य में निहित संभावनाओं के विकास को कुचलने का अधिकार किसने दिया? क्या रीति-रिवाजों, आदर्शों, संस्थाओं एवं मूल्यों की प्रासंगिकता मानवीय अनुभूतियों को कुचल डालने में है? क्या मनुष्य की अस्मिता एवं पहचान में उसकी विशिष्टताओं की कोई भूमिका नहीं है या क्या 'सामाजिक स्थिति' से अलग मनुष्य एवं उसकी मानवता की कोई सार्थकता नहीं है? झूठी नैतिकता, आर्थिक विपन्नता एवं धार्मिक विधि-निषेधों के मकड़-जाल में मनुष्य इस कदर उलझा हुआ है कि वह न तो अपने विवेक के अनुसार आचरण कर पाता है और न ही विकल्प ही स्वतंत्रता का उपयोग कर पाता है। ये सभी चीजें मनुष्य के वास्तविक अर्थों में मनुष्य होने पर ही प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं।

मानवता के व्यापक कल्याण के प्रति भारती जी की चिंता देशकाल की सीमाओं से आबद्ध नहीं है। वे मनुष्य के मौलिक अधिकारों को केन्द्र में रखकर अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय राजनीति की साम्राज्यवादी एवं सत्तालोलुप नीतियों का पर्दाफाश करते हैं। पाश्चात्य देश, चाहे प्रजातांत्रिक हो या साम्यवादी या पूँजीवादी, सभी मानवतावादी आदर्शों की आड़ में एक ओर तो प्रजातांत्रिक आंदोलनों एवं मानवाधिकारों की सरपरस्ती करते हैं तो दूसरी ओर आंदोलनों को कुचलने के लिए दमनकारियों के हाथों, हथियारों की बिक्री करते हैं। पश्चिमी देशों के कथनी-करनी के इसी फर्क एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दिवालिएपन के कारण ही आज विश्वव्यापी आंतकवाद मानव-अस्तित्व के लिए संकट बन गया है। इसलिए भारती जी व्यापक मानवता के कल्याण के लिए मानव-प्रवृत्तियों में बदलाव लाना आवश्यक मानते हैं। इसी उद्देश्य से वे स्टालिन का शव हटाने वालों तथा आइखमैन को सजा देने वालों से प्रश्न करते हैं कि क्या वे लोग उस अमानुषिक प्रवृत्ति, झूठे जातीय अहम् और असहिष्णुता का भी निषेध करते हैं जिसकी नींव पर स्टालिन का षडयंत्रपूर्ण

निरकुंश शासन स्थापित था या आइखमैन ने जघन्यतम नरसंहार किया था। तात्पर्य यह है कि व्यापक मानवता के कल्याण के लिए स्टालिन का शव हटाने या आइखमैन को सजा देने से ज्यादा जरूरी उनके द्वारा फैलायी गई अमानुषिक प्रवत्तियों का शमन करना है। भारती जी के अनुसार यह तभी संभव है जब यह समझा जाय कि मानवीय गौरव किसी व्यक्ति, समूह या सम्प्रदाय की सुखानुभूति की समस्या नहीं है, बल्कि एक 'व्यापक सामाजिक तत्व' है। इसकी स्थापना तभी हो सकती है जब ''समाज के प्रत्येक छोटे से छोटे व्यक्ति के गौरव को वही महत्व दिया जाए, जो बड़े से बड़े व्यक्ति को मिलता है'' इस प्रकार भारती जी व्यापक मानवता के कल्याण के लिए सामाजिक समानता के सिद्धांत को प्राथमिक शर्त मानते हैं। इसके साथ ही भारती जी का आग्रह है कि हम मानव-नियति को पूर्व निर्धारित करने वाले सिद्धांत से अपने को आबद्ध न समझें क्योंकि ये मनुष्य के विकल्प की स्वतंत्रता एवं गरिमा को छीन लेते हैं। अत: मानवीय प्रवृत्तियों में बदलाव लाना आवश्यक है।

एक समग्र रचनाकार होने के साथ ही भारती जी भारतीय संस्कृति के गंभीर अध्येता भी हैं। वे जीवन एवं समाज के ज्वलन्त विषयों के माध्यम से भारत के समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का सजग विश्लेषण करते हैं। वे भारतीय जीवन-पद्धति में घुसपैठ करती जा रही पश्चिमी उपभोक्तावादी जीवन-प्रणाली पर प्रश्नचिह्न खड़ा करते हैं। वे उस स्थान पर संस्कृति नहीं मानते हैं जहाँ मनुष्य से प्राकृतिक रिश्ता उपभोग एवं उपभोक्ता का है। उनके अनुसार उस संस्कृति की क्या सार्थकता है जिसमें मनुष्य के बहुआयामी विकास की सम्भावनाएँ न हो? इस उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण मानवता का संकट और गहराता जा रहा है। वे रूसी और अमेरीकी उपभोक्तावाद को एक ही सिक्के के दो पहलू ठहराते हुए सिद्ध करते हैं कि स्वतंत्रता एवं समता जैसे मूल्यों का आधार लेकर दोनों ही खुले बाजार पर गढ़ी अपसंस्कृति को बढ़ावा देते हैं। आज ग्लोबलाइजेशन तथा तथाकथित आर्थिक उदारता के कारण, जिसने हमारे सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिदृश्य को बिल्कुल बदल डाला है, भारती जी की चिन्ता के सच होने की संभावना प्रबल हो जाती है।

परन्तु भारती जी के आधुनिकता एवं आधुनिक बोध से संबंधित विश्लेषण से पूर्णतया सहमत नहीं हुआ जा सकता है। उन्होंने आधुनिकता को संकट-बोध से अभिन्न एवं परस्परावलम्बित माना है जबकि आधुनिकता न तो केवल संकट बोध है और न ही उदय के लिए संकट बोध पर आश्रित है। आधुनिकता गतिशील एवं सृजनशील जीवन-दृष्टि है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। अत: यह संकट-बोध से आगे बढ़कर मूल्यान्वेषण के विकल्प तक पहुँचती है। भारती जी द्वारा संकट को प्रकृतित: सार्वदेशिक मान लेना भी उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में पश्चिम के संकट के पीछे दो महायुद्धों के साथ-साथ भौतिक समृद्धि का भी हाथ है। जबकि पूर्व का मूल्य-विघटन भौतिक अभावों की देन है। जिस मानव समाज की वाह्य सत्ता भौतिक अभावों से अभिशप्त है उसकी आंतरिकता उससे निरपेक्ष कैसे रह सकती है? पुन: भारती जी की यह मान्यता कि इस जीवन व्यापी विघटन के दबाव में साहित्यकार, भीड़ में अकेलापन महसूस करता है, संतोषजनक प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि इसमें पाठक वर्ग तथा समाज के साथ साहित्यकार के संबंध और उसके प्रति दायित्व से बचने की भावना निहित है। जबकि साहित्यकार को भीड़ में भी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत रहते हुए भीड़ के प्रति अपने उत्तरादायित्वों का निर्वहन करना होता है।

परन्तु इन विसंगतियों के बावजूद भारती जी रचनात्मक स्तर पर मानवीय गौरव को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नों में सफल रहे हैं। मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, नीत्शेवाद की अतिवादी धारणाओं से लेकर पूँजीवाद, उपभोक्तावाद, तथा अपसंस्कृतिवाद की खामियों को उजागर करते हुए मानव संस्कृति के मुक्त विकास के लिए एक सार्थक पर्यावरण की संभावनाओं की तलाश करते हैं। वे विश्व आतंकवाद के परिप्रेक्ष्य में मानवता एवं मानवाधिकारों की अगुवाई का दावा करने वाले राष्ट्रों से उनके कल्याणकारी होने का अर्थ पूछते हैं साथ ही भारतीय राजनीति के इतिहास में आपातकाल की घोषणा करने वाले सत्ता-लोलुपों से भारतीय शासन के लोकतांत्रिक होने का अर्थ भी पूछते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

संदर्भ ग्रंथ

आधार ग्रंथ (धर्मवीर भारती की रचनाएँ)

1. ठंडा लोहा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय सं. 1976
2. सात गीत वर्ष, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं. 1964
3. कनुप्रिया, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय सं. 1966
4. सपना अभी भी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 1994
5. आद्यन्त, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1999
6. अंधायुग, किताब महल, इलाहाबाद, सं. 1977
7. चाँद और टूटे हुए लोग, धर्मवीर भारती ग्रंथावली, भाग-2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988
8. बंद गली का आखिरी मकान एवं अन्य कहानियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सं. 1969
9. गुनाहों का देवता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, इक्कीसवाँ सं. 1988
10. सूरज का सातवाँ घोड़ा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पन्द्रहवाँ सं. 1997
11. मानवमूल्य और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सं. 1960
12. पश्यन्ति, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1996
13. कहनी अनकहनी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1999
14. कुछ चेहरे कुछ चिन्तन, वाणी प्र., नई दिल्ली, सं. 1995
15. ठेले पर हिमालय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1999
16. शाब्दिता, वाणी प्र., नई दिल्ली, प्र.सं. 1997
17. यात्रा चक्र, वाणी प्र., नई दिल्ली, सं. 1994
18. साहित्य विचार और स्मृति, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2003
19. अक्षर-अक्षर यज्ञ-वाणी, प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1999
20. धर्मवीर भारती ग्रंथावली (नौ खंड) सं. चन्द्रकांत बांदिवेडेकर), वाणी प्र., नई दिल्ली 1988

सहायक पुस्तकें

1. अग्रवाल, पुरुषोत्तम : संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्र. नई दिल्ली, प्र. सं. 1995
   : विचार का अनन्त, राजकमल प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 2000
2. अग्रवाल, विपिन कुमार : आधुनिकता के पहलू, लोकभारती प्र., इलाहाबाद, प्र. सं. 1972
3. अवस्थी, देवीशंकर : रचना और आलोचना, वाणी प्र., नई दिल्ली, सं. 1995
   (संपादक) : विवेक के रंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1995
   (संपादक) : नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्र, नई दिल्ली, 1993
4. अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद : आलवाल, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, द्वि. सं. 1977
   : अद्यतन, सरस्वती विहार, दिल्ली, प्र. सं. 1977
   : कवि दृष्टि, लोकभारती प्र. इलाहाबाद, प्र.सं. 1983
   : हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य, राधाकृष्ण प्र. नई दिल्ली, सं 1967
   (सं.) : दूसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., वाराणसी, द्वि. सं. 1970
   : अपने अपने अजनबी, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., वाराणसी, द्वि. सं. 1966
5. आचार्य, नन्द किशोर : संस्कृति का व्याकरण, वाग्देवी प्र., बीकानेर, प्र.सं. 1988
   : आधुनिक विचार, वाग्देवी प्र., बीकानेर, प्र.सं. 2002
6. ओझा, दशरथ : हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पंचम सं. 1970
7. इस्सर, देवेन्द्र : साहित्य और आधुनिक युग-बोध, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, प्र. सं. 1973
8. गुलाटी, डा. यश : प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास भाग-1, हरियाणा साहित्य

अकादमी, चंडीगढ़ प्र.सं. 1989

9. गुप्त, जगदीश : नयी कविता: स्वरूप और समस्याएँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 1971

10. गुप्त जगदीश, राम स्वरुप चतुर्वेदी, विजय देवनारायण साही (सं.) : नयी कविता सैद्धांतिक पक्ष, खण्ड-1, लोकभारती, प्र. इलाहाबाद, सं. 2000

11. गौतम, लक्ष्मण दत्त : धर्मवीर भारती: अनुभव और अभिव्यक्ति, भारत पुस्तक भण्डार, दिल्ली, सं. 1999

12. चतुर्वेदी, राम स्वरूप : हिन्दी नवलेखन, भारतीय ज्ञानपीठ प्र. वाराणसी, सं. 1960

इतिहास और आलोचक दृष्टि, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1982

: अज्ञेय एवं आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., नई दिल्ली, द्वि. सं 1972

: हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्र., इलाहाबाद, दसवाँ सं. 1998

13. जोशी, कैलाश : उपन्यासकार धर्मवीर भारती, चिन्मय प्र., नई दिल्ली, सं. 1973-74

14. जोशी, पूरन चन्द्र : अवधारणाओं का संकट, राजकमल प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1995

15. जैन, नेमिचन्द्र : अधूरे साक्षात्कार, वाणी प्र., नई दिल्ली, द्वि. सं. 1989

जैन, नेमिचन्द्र (सं.) : मुक्तिबोध रचनावली भाग-5, राजकमल प्र. नई दिल्ली, प्र. सं0 1980

16. जैन, निर्मला : कथा प्रसंग: यथाप्रसंग, वाणी प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 2000

17. झालटे, डा. दंगल : उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान, वाणी प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1987

18. तनेजा, डा. सत्येन्द्र : हिन्दी नाटक: पुनर्मूल्यांकन, ग्रंथम् कानपुर, प्र. सं. 1971

19. तनेजा, जयदेव : अंधायुग: पाठ और प्रदर्शन, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्र. सं. 1998

20. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद : समकालीन हिन्दी कविता, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सं. 1982

21. दिनकर, रामधारी सिंह : आधुनिक बोध, पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली, सं. 1973

22. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-9, राजकमल प्र. नई दिल्ली, प्र. सं. 1981

: वाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सातवाँ सं 1999

23. डा. नगेन्द्र : नयी समीक्षा: नये संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वि. सं. 1974

24. नारायण, कुँवर : परिवेश: हमतुम, वाणी प्र. नई दिल्ली, तृ. सं. 1989

: आत्मजयी, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., दिल्ली द्वि सं.1971

25. नागर, अमृतलाल : बूंद और समुद्र, किताब महल, इलाहाबाद, सं. 1972

26. निराला, सूर्यकांत त्रिपाठी : अनामिका, राजकमल प्र. नई दिल्ली, सं. 1998

27. नवलकिशोर : मानवतावाद और साहित्य, राधाकृष्ण प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1975

28. पचौरी, सुधीश : विभक्ति और विखंडन, अनंग प्र., नई दिल्ली प्र. सं. 2002

29. पाश : जब जंजीरें टूटेंगी (सं. चमनलाल) संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्र. सं. 2002

30. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द साहित्य संस्थान, गोरखपुर, सं. 2000

31. प्रसाद, जयशंकर : कामायनी, लोकभारती प्र., इलाहाबाद, सं. 1998

32. पाण्डेय, भवदेव : अंधायुग-अधुनातन दृष्टि, उमेश प्र., इलाहाबाद, प्र. सं. 1996

33. पाण्डेय, हरिवंश : धर्मवीर भारती: चिन्तन और अभिव्यक्ति, अतुल प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1991

34. पाण्डेय, मैंनेजर : साहित्य और इतिहास दृष्टि, पीपुल्स लिटरेसी,

दिल्ली, प्र. सं. 1981

: साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य एकेडमी, चंढीगढ़, प्र. सं. 1989

35. पाण्डेय शशि भूषण 'शीतांशु' : भारती की काव्य-भाषा, नटराज पब्लिशिंग हाउस, करनाल, प्र. सं. 1985

36. फॉक्स, राल्फ : उपन्यास और लोक जीवन, (अनु. नरोत्तम नागर), पी.पी.एच., दिल्ली, प्र. सं. 1957

37. बांदिवेडेकर, चन्द्रकांत : धर्मवीर भारती: व्यक्तित्व और कृतित्व, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्र. सं. 2001

38. भारती, पुष्पा (संपादक) : धर्मवीर भारती की साहित्य साधना, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., नई दिल्ली, प्र. सं0 2001

: धर्मवीर भारती के साक्षात्कार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1988

39. मदान, डा. इन्द्रनाथ : आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्र. नई दिल्ली, सं. 1973

(सं) : हिन्दी कहानी: पहचान और परख, लिपि प्र. दिल्ली, प्र. सं. 1973

40. मधुरेश : सिलसिला, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्र. सं. 1979

41. माथुर, गिरिजा कुमार : नयी कविता: सीमाएँ और सम्भावनाएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 1973

42. मेघ, रमेश कुन्तल : आधुनिकता बोध एवं आधुनिकीकरण, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1969

43. मेहता, नरेश : जहाँ-जहाँ क्षितिज है, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्र. सं. 2002

44. मुक्तिबोध, गजानन माधव : समीक्षा की समस्याएँ, राजकमल प्र., प्र.सं. 1982

: एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सातवाँ सं. 1995

: नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध, राजकमल, प्र., नई दिल्ली सं. 1989

45. मोहन, नरेन्द्र (सं.) : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, दि मैकमिलन कं. ऑफ

इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, सं. 1975

46. मिश्र रामदरश : हिन्दी उपन्यासः एक अन्तर्यात्रा, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सं. 1982

47. मिश्र, विद्यानिवास : परम्परा बंधन नहीं, राजपाल एंड संस, दिल्ली सं. 1981

48. यादव, राजेन्द्र : अठारह उपन्यास, राधाकृष्ण प्र., नई दिल्ली सं. 1999

49. डा. रघुवंश : भारती का काव्य, दि मैकमिलन इंडिया, लि. दिल्ली, प्र. सं. 1980

: आधुनिकता और सर्जनशीलता, दि मैकमिलन इंडिया लि., दिल्ली 1980

: साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., दिल्ली, द्वि सं. 1968

50. राकेश, मोहन : साहित्य और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1990

: अंधेरे बंद कमरे, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सं. 1991

51. राय, अमृत : आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा, हंस प्रकाशन इलाहाबाद सं. 1987

52. राय, कुबेर नाथ : गंधमादन, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1972

53. वर्मा, अलका रानी : धर्मवीर भारती का काव्य शिल्प, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. 1995

54. वर्मा, चन्द्रकांता : डा. धर्मवीर भारती की गद्य-कृतियों का अनुशीलन, जयभारती प्र. इलाहाबाद, प्र. सं. 1993

55. वर्मा, धनंजय : आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय, विद्या प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, प्र. सं. 1984

56. वर्मा, पवन कुमार : भारतीय मध्य वर्ग की अजीब दास्तान, (अनु. अभय कुमार दुबे), राजकमल प्र., नई दिल्ली, प्रथम सं. 1999

57. वर्मा, लक्ष्मीकांत : नयी कविता के प्रतिमान, प्रेस, इलाहाबाद, संवत्

2024

: नये प्रतिमानः पुराने निकष, राधाकृष्ण प्र., नई दिल्ली, सं. 1977

58. वर्मा, निर्मल : लालटीन की छत, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सं. 1996

59. वर्मा, भगवती चरण : रेखा, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सातवाँ सं. 2004

: भूले बिसरे चित्र, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सं. 1991

60. वाजपेयी, नन्द दुलारे : राष्ट्रीय साहित्य, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, सं. 1996

61. व्यास, रामसुख : धर्मवीर भारती का रचना संसार, चयन प्र., बीकानेर, प्र. सं. 1985

62. विमल, गंगा प्रसाद : आधुनिकताः साहित्य के संदर्भ में, मैकमिलन प्र. नई दिल्ली, प्र. सं. 1978

63. शर्मा, ब्रजमोहन : धर्मवीर भारतीः कनुप्रिया तथा अन्य कृतियाँ, भारती भाषा प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1976

64. शर्मा, रामविलास : नयी कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सं. 1993

: भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्यायें, राजकमल प्र., नई दिल्ली, तृ. सं. 1984

: मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1984

65. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, तैतिसवाँ सं. संवत 2055

: चिन्तामणि भाग-1, हिन्दी साहित्य सरोवर, आगरा, सं. 1992

66. शुक्ल, डा. सरिता : धर्मवीर भारती, युगचेतना एवं अभिव्यक्ति, चिन्तन प्र. , कानपुर, प्र. सं. 2004

67. सक्सेना, सर्वेश्वर दयाल : कुआनो नदी, राजकमल प्र., नई दिल्ली प्र. सं. 1973

68. सहाय, रघुवीर : आत्महत्या के विरूद्ध, राजकमल प्र. नई दिल्ली, द्वि.

सं. 1975

: यथार्थ यथास्थिति नहीं, वाणी प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1984

69. साही, विजयदेव नारायण : छठवाँ दशक, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्र. सं. 1987

: साखी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. 1994

70. साहनी, भीष्म, रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया(सं.) : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रा., नई दिल्ली, सं. 1980

71. सिंह, केदार नाथ : आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब विधान, भारतीय ज्ञानपीठ प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1981

: प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्र., नई दिल्ली, सं. 2003

72. सिंह, नामवर : कविता के नये प्रतिमान, राजकमल प्र., नई दिल्ली सं. 1990

: कहानी: नयी कहानी, लोकभारती प्र., इलाहाबाद, सं. 1992

: इतिहास और आलोचना, राजकमल प्र., नई दिल्ली सं. 2002

73. सिंह, शमशेर बहादुर : कुछ और गद्य रचनायें, राधाकृष्ण प्र., नई दिल्ली, प्र. सं. 1992

74. सिंह, शिव प्रसाद : आधुनिक परिवेश और नवलेखन, लोकभारती प्र., इलाहाबाद, सं. 1970

: आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली प्र. सं. 1973

75. सोनवणे, चन्द्रभानु : धर्मवीर भारती का साहित्य: सृजन के विविध रंग, पंचशील प्र. जयपुर, प्र. सं. 1979

76. श्रोत्रिय, प्रभाकर (सं.) : धर्मवीर भारती, मोहनलाल केड़िया हिन्दी साहित्य न्यास, नई दिल्ली, प्र. सं. 1992

77. त्रिपाठी, विश्वनाथ : हिन्दी आलोचना, राजकमल प्र., नई दिल्ली, द्वि. सं. 1982

अन्य: श्रीमद्भागवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2058

पत्रिकायें:

धर्मयुग: 1963 (अंक- 1, 3, 4, 7, 9), 13 अगस्त 1967, 25 जनवरी 1970, 24 जून 1973, 15 जून 1975, 20 जुलाई 1975, 1 फरवरी 1976, 20 अप्रैल 1976, 25 जुलाई 1976, 20 मार्च 1977

पूर्वग्रह: (आलोचना विशेषांक अंक - 66), मई-जून 1977

कादम्बिनी: जून 1973

कसौटी: अंक 15, 2004

आलोचना: (नाटक विशेषांक, जुलाई 1956), पूर्णांक-33 जून 1965, जुलाई-सितम्बर 1967

कल्पना: जनवरी-फरवरी, मार्च-अप्रैल, मई-जून 1967

वर्तमान साहित्य: शताब्दी अलोचना पर एकाग्र-2, जून-2002

समकालीन सृजन: आधुनिकता की पुनर्व्याख्या, अंक-21, वर्ष 2002

नई कहानियाँ: जनवरी, फरवरी, मार्च 1964

ज्ञानोदय: फरवरी 1965

Jawaharlal Nehru University Library

सहायक अंग्रेजी पुस्तकें

1. Alam Javeed : India living with modernity, Oxford University Press, 1999.
2. Eisenstadt, S. N. : Modernization: Protest and change, Prentice Hall of India, New Delhi-1969.
3. Gupta, Dipanker : Mistaken modernity: India between words, Harper Collins Publishers, India New Delhi-2000.
4. Hari, M. : Modernization and population change, Discovery Publication House, New Delhi – 1991.
5. Kumar, Sukrita Paul : Conversations on modernism: with reference to English, Hindi and Urdu fiction, Indian Institute of Advanced Study, Shimla, 1990.
6. Levy, Marion J. : Modernization and the structure of societies: A setting for international affairs, Princeton University Press, Princeton-1970.
7. McKnight, Stephen A : Sacralizing the secular : the renaissance origins of modernity, Baton Rough: Louisiana State University Press, 1989.
8. Pandey, Rajendra : Modernization and social change, Criterion Pub. New Delhi 1988.
9. Smith, Wilfred Cantwell : Modernization of traditional society, Bombay, Asia 1965.